पाशुपत शैवधर्म एवं दर्शन

आलोक माणि त्रिपाठी

1 पाशुपत शैवधर्म एवं दर्शन

आलोक मणि त्रिपाठी

विपुल कलेवर का यह ग्रन्थ दो मुख्य भागों में विभक्त है। प्रथम भाग के प्रथम खण्ड में पाशुपत धर्म की उत्पत्ति, विकास और इतिहास तथा द्वितीय खण्ड में पाशुपत दर्शन के विकास और उसकी साधना से सम्बद्ध सामग्री प्रस्तुत की गयी है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग में पाशुपत धर्म के स्रोत से सम्बन्धित सामग्री का समावेश है।

प्रथम भाग के प्रथम खण्ड में छोटे-बड़े इक्कीस अध्यायों में वैदिक मूल के विवेचन से प्रारम्भ कर लगभग बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक के इस धर्म का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय खण्ड के तेरह अध्यायों में पाशुपत शैव धर्म की दार्शनिक मान्यताओं और साधनाओं का विवेचन स्रोत-सामग्री के ऐतिहासिक क्रम के अनुसार प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने सर्वेक्षण के समय प्राचीन स्रोत-सामग्री के साथ-साथ महत्व की लगभग सभी आवश्यक नूतन सामग्री का भी यथावसर उपयोग किया है।

ग्रन्थ के द्वितीय भाग में प्रस्तुत पाशुपत शैव धर्म के मूल स्रोत—पाशुपत सूत्र पर पञ्चार्थ भाष्य, भासर्वज्ञ कृत गणकारिका रत्नटीका तथा सम्पूर्ण सूत्रों एवं भाष्य का हिन्दी अनुवाद ग्रन्थ का अपना वैशिष्ट्य है।

परिणामत: पाशुपतों पर एक साथ समग्र रूप से इतनी विपुल सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। संक्षेपत: यह कृति पाशुपत शैवधर्म एवं दर्शन के अध्येताओं एवं गवेषकों के लिए सर्वथा मौलिक एवं नूतन सामग्री प्रस्तुत करती है।

पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन

(भाग १ : खण्ड १-२)

डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी

रीडर,

इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग

डॉ० रा०म० लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली

Published with the financial assistance from

Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi

© लेखक

प्रथम संस्करण १९९८

I S B N : 81-85268-71- 1 (सेट)
81-85268-72- X (प्रथम भाग)

मूल्य: Pratibha Rs. 800

प्रकाशक

डॉ. राधेश्याम शुक्ल

एम.ए.,एम.फिल., पी.एच.-डी.

प्रतिभा प्रकाशन

(प्राच्य-विद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)

२९/५ शक्ति नगर, दिल्ली ११०००७

दूरभाष : ७४५१४८५

अक्षर संयोजक : विशाल कम्प्यूटर

PĀŚUPATA ŚAIVA DHARMA EVAṀ DARŚANA

(Vol. Ist Pts. I-II)

Dr. Alokmani Tripathi
Reader Deptt. of Ancient History
Archaeology & Culture
Dr. RML Awadh University
Faizabad

Pratibha Prakashan
DELHI

© Author

Ist Edition 1998

ISBN : 81-85268-71-1 (set)
81-85268-72-x (Vol. I)

Price : Pratibha Rs. 800/

Published by :
Dr. R. S. Shukla
for **Pratibha Prakashan**
(Oriental Publishers & Bookseller's)
29/5, Shakti Nagar, Delhi-110007

Laser Typesetting at :
Vishal Computer. 20-A, Sri Nagar, Colony, Bharat Nagar, Rd, Delhi-52

Printed at : Tarun Offset Printers

पूज्य प्रपितामह अगर्दी मणि त्रिपाठी (बबुआजी) के सुपुत्र
पूज्य स्व. श्री राम किशोर मणि त्रिपाठी (पितामह) एवं
पूजनीया पितामही स्व. श्रीमती जनक दुलारी त्रिपाठी
के सुपुत्र पूज्य पिता श्री राजनारायण मणि
त्रिपाठी (वसन्ती बाबू) एवं पूज्यनीया
माता श्रीमती लालमती त्रिपाठी
को सादर समर्पित

आशीर्वचन

यह प्रसन्नता का विषय है कि डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी का पाशुपत-दर्शन विषयक ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है । डॉ. त्रिपाठी ने पाशुपत साहित्य का गम्भीर अध्ययन तथा प्रसक्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों का सजग अनुशीलन कर अनेक मौलिक उद्‌भावनायें प्रस्तुत की हैं । लेखक के शोधक्षेमकुशल प्रतिभा की परिचायक इस कृति ने पाशुपत दर्शन एवं इतिहास में एक नवीन प्रगतिशील चरण बढ़ाया है अतः इसका प्रकाशन अभिनन्दनीय है ।

गोरखपुर **विश्वम्भर शरण पाठक**
२०.२.१९९७

अभिमत

भारतीय धर्म के उद्‌भव एवं विकास के अनुसन्धान की धारा में शैव धर्म का अप्रतिम स्थान एवं योगदान है । अद्यावधि इस विषय पर क्रमिक ऐतिहासिक मीमांसा सम्यक् रूप से उपलब्ध नहीं थी जिस अभाव का समाधान करने की दृष्टि से विद्वान् एवं ज्ञान-साधना से युक्त डा. आलोक मणि त्रिपाठी ने मौलिक एवं सारगर्भित दो खण्डों में 'पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन' ग्रन्थ का प्रणयन किया है ।

निःसन्देह प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में संस्कृत भाषा में दुर्लभ एवं बहुमूल्य पाण्डुलिपि का हिन्दी अनुवाद एवं तथ्य युक्त व्याख्या प्रस्तुत करके शैव दर्शन के अध्येताओं के लिये प्रशंसनीय योगदान किया है, क्योंकि इससे अनुसंधानकर्ताओं को नूतन दिशा एवं प्रकाशयुक्त मार्ग का परिज्ञान होगा । ग्रन्थ की भाषा परिष्कृत प्राञ्जल एवं प्रवाहमय है । सर्वांगीण दृष्टि से ग्रन्थ उत्कृष्ट है ।

फैजाबाद
मकर संक्रांति
१४.१.१९७८

प्रो. विजय कुमार पाण्डेय
अध्यक्ष, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
डा. रा.म.लो. अवध विश्वविद्यालय

सम्मति –१

डॉ. त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ में पाशुपतों का इतिहास एवं धार्मिक-दार्शनिक पहलुओं सहित एक पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है जो मौलिक सामग्री, अभिलेखों एवं पुरातात्विक प्रमाणों पर आधारित है। श्री त्रिपाठी ने अत्यन्त कठिन परिश्रम से इस ग्रन्थ को तैयार किया है जो एक साक्ष्यपरक मौलिक कृति है, साथ ही साथ पाशुपतों का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी है। शैव धर्म के इतिहास के क्षेत्र में यह प्रबन्ध विद्यार्थियों एवं शोध कर्ताओं के लिये अत्यन्त उपयोगी है- जो मौलिक साक्ष्यों पर आधारित है। मैं इस प्रबन्ध को पाकर प्रसन्न हूँ तथा इसे अति महत्वपूर्ण मानता हूँ।

प्राची बिहार **प्रो. अजयमित्र शास्त्री**
नागपुर

सम्मति –२

विपुल कलेवर का यह प्रबन्ध तीन मुख्य भागों में बंटा है। प्रथम—पाशुपत धर्म की उत्पत्ति, विकास और इतिहास; द्वितीय —पाशुपत दर्शन का विकास और साधनाएं तथा तृतीय-पाशुपत धर्म के स्रोत।

प्रथम भाग में छोटे-बड़े इक्कीस अध्यायों में वैदिक मूल के विवेचन से प्रारम्भ कर लगभग बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक के इस धर्म के इतिहास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय भाग के तेरह अध्यायों में पाशुपत-दार्शनिक मान्यताओं और साधनाओं का विवेचन स्रोत सामग्री के ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ही है।

श्री त्रिपाठी के प्रस्तुत ग्रन्थ का मैं स्वागत करता हूँ। यह बड़े परिश्रम से तैयार किया गया है। प्राचीन स्रोत सामग्री का लेखक का सर्वेक्षण प्राय: पूर्ण प्रतीत होता है। और वह महत्व की लगभग सभी आधुनिक सामग्री से परिचित हैं, मेरी जानकारी में पाशुपतों पर एक साथ इतनी और विविध सामग्री अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है, अनेक दृष्टियों से यह पाशुपतों के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान का विस्तार करता है।

वाराणसी **प्रो० जगदीश नारायण तिवारी**

प्राक्कथन

अपने परिवार की धार्मिक अन्तर्दृष्टि, पूज्य दादी माँ, पिताजी, माता जी तथा श्रद्धेय गुरुवर डॉ. विश्वम्भर शरण पाठक जी के गहन धार्मिक चिन्तन के स्निग्ध-गंभीर व्यक्तित्व में भगवान शिव की योगमय झलक ने मुझे उस अनजाने आनन्दमय आध्यात्मिक जगत की ओर उन्मुख किया जो मानव जाति के इतिहास में सदियों से मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य रहा है। इस महान पथ की ओर अग्रसर होने के लिए मेरे पास पाथेय था, अपने पिता एवं गुरुजनों का स्नेह तथा कनिष्ठ भ्राताओं का जीवन्त सहयोग जो विरले लोगों को प्राप्त होता है।

वस्तुत: स्नातकोत्तर कक्षाओं में पठन-पाठन के परिवेश में ही मैंने आध्यात्मिक भवितव्यता वाले प्राणी के रूप में एक अन्तःक्षोभ का अनुभव किया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जीवन के इस महान संघर्ष में मेरे पास आध्यात्मिक सामग्री का अभाव है, जो मेरे दादा-परदादाओं की अपनी अमूल्य सम्पत्ति रही है। फिर क्या था मैंने गुरुदेव डॉ. विश्वम्भर शरण पाठक जैसे महान अध्यवसायी व्यक्तित्व को वे समस्त भाव प्रसून अर्पित कर दिये जो वर्षों से मैंने संजोये थे और मेरी अतृप्त कामनाओं की प्यास उनकी ज्ञान-गंगा की निर्मल धाराओं से अभिसिञ्चित होने लगी। आखिर वह सुप्रभात आ ही गया जिसकी प्रतीक्षा मुझे वर्षों से थी..... । परममाहेश्वर पशुपति शिव मेरे मानस और वर्षों के गूँगे, सूने, अन्तराल को आलोडित करने लगे, ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इस अनन्त के माध्यम से मुझे कोई अपने पास बुला रहा है---और मैं उस अनजाने योगीश के अन्तराल में सिमटा जा रहा हूँ। इस महापथ की ओर संकेत कर रहे थे पूज्य गुरुदेव, श्रद्धेय पिताजी (श्री राजनारायण मणि त्रिपाठी), पितामह के पितृव्य श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी एवं मेरे कनिष्ठ भ्राता अपूर्व जी।

इस जगत प्रपञ्च और संस्सृति के उत्थान-पतन के इतिहास के जिज्ञासु मेरे मानस में प्रायः एक अनुगूँज हुआ करती थी– "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"

बार-बार यह प्रश्न उठता था कि वह कौन है जो इस भवकूप में पड़े द्विजन्मा को अपने उन अनदेख हाथों से उठा लेता है, जीवन की इस निविड़ महानिशा को अपूर्व आलोकमय कर देता है, इस अनुभूति, गृहीत किञ्चित कतिपय ज्ञान-रश्मियों एवं अनुपम भावों की अर्चना सामग्री लेकर मैं निकल पड़ा था उस अज्ञात की तलाश में----और मुझे उस महेश्वर का ज्ञान हुआ जो इस संसार में अवतरित होकर इस संसार को कृतार्थ किया

करते हैं । एक दिन प्राप्त अध्ययन सामग्री से मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे महेश्वर कायरूपी लकुलीश के रूप में अवतरित हुए और उन्होंने पाशुपतागम के नव्य धर्म-दर्शन का उपदेश किया और साधनामार्ग उन्मीलित कर भारत भूमि को पवित्र किया ।मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि इस अवतरण के पूर्व अनेकशः उन्होंने इस मर्त्य को अनुगृहीत किया था ।

भगवान लकुलीश एक ब्रह्मचारी थे, उसी ब्रह्मचारी द्वारा प्रणीत धर्म-दर्शन की सामग्री के अध्ययन हेतु मैं निकल पड़ा था उन तथ्यों की तलाश में जो इतिहास के अन्तराल में अनजान बनकर सिमटे थे, जिनसे संसार अनभिज्ञ था । मुझ अकिञ्चन ब्रह्मचारी की यात्रा भारत भूमि की गोद में प्रारम्भ हो गयी थी और मुझे प्राप्त हुई वह पवित्र हस्तलिपि जिसमें भगवान लकुलीश प्रोक्त पाशुपत सूत्रों का संकलन था, जिसे 'पञ्चार्थ भाष्य' के रूप में अपने भाष्य से भगवत् कौण्डिन्य ने सजाया और संवारा था । दूसरी हस्तलिपि थी भासर्वज्ञ की 'गणकारिका रत्नटीका,' इसी क्रम में वायवीय संहिता, नकुलीश पाशुपतसूत्र दर्शनम् व ब्रह्मसूत्रों के भाष्य का प्रत्यु:धिकरण आदि संकलित हुये इसी आधार पर पाशुपत धर्म एवं दर्शन का अध्ययन मेरा अभीष्ट था । प्रमुख समस्या इनके अनुवाद और तान्त्रिक तत्वों के व्याख्या की थी, इसलिये इस ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित कर उसकी रूपरेखा निश्चित करनी पड़ी ।यथा-

(१) **प्रथम भाग**- पाशुपत धर्म की उत्पत्ति, विकास और इतिहास ।

(२) **द्वितीय भाग**- पाशुपत दर्शन का विकास और उसकी साधनाएं ।

(३) **तृतीय भाग**-पाशुपत धर्म के स्रोत ।

इस प्रकार पाशुपत सूत्रों व भासर्वज्ञ की गणकारिका के आधार पर पाशुपत धर्म और दर्शन का अध्ययन इस ग्रन्थ में किया गया है । मेरे आराध्य पाठकों आप इसका मूल्यांकन स्वयं कर सकेंगे । मैंने निष्पक्ष इतिहासकार का दृष्टिकोण अपनाने का यथाशक्ति प्रयास किया है ।

आलोकमणि त्रिपाठी

कृतज्ञता-ज्ञापन

इस ग्रन्थ-लेखन के प्रेरणा-स्रोत श्रद्धेय डॉ. विश्वम्भर शरण पाठक जी के अपार-स्नेह और असीम प्रेरणा को जो शब्द-सीमा के बन्धन से परे है, मै अपनी गहन अनुभूति के भाव-प्रसून समर्पित करता हूँ। साथ ही प्राचीन इतिहास विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय के समस्त गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनके स्नेह और प्रेरणा से मैं प्रगति-पथ पर बढ़ता रहा। पुस्तकों की विशेष सुविधा प्राप्त कराने के लिए भौतिक विज्ञान विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रवक्ता डॉ. लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी का सहयोग स्मरणीय रहेगा। अनुवाद कार्य में परामर्श हेतु डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी, विभागाध्यक्ष (व्याकरण) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, स्वर्गीय श्री रामसकल मिश्र, प्रवक्ता तन्त्र विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी तथा श्री रामसेवक शास्त्री प्राचार्य, उदासीन संस्कृत महाविद्यालय मीरघाट वाराणसी, डॉ. विजय शङ्कर पाण्डेय, प्रवक्ता संस्कृत विभाग सन्त विनोवा महाविद्यालय एवं डॉ. व्रजभूषण त्रिपाठी, प्रवक्ता संस्कृत विभाग, मालवीय पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, भाटपाररानी देवरिया, श्री रामअवध मिश्र प्राचार्य एवं श्री वंशराज त्रिपाठी प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालय, देवरिया का विशेष रूप से आभारी हूँ।

ग्रन्थ-लेखन के दौरान विशेष सुविधा एवं सहयोग-प्रेरणा के लिए अपने पितामह के पितृव्य डॉ. सुरति नारायण त्रिपाठी एवं उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गा देवी त्रिपाठी तथा स्व. उदयनारायण शुक्ल एडवोकेट एवं शर्मा प्रसाद मिश्र एडवोकेट का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

स्वर्गीय दादी माँ, माताजी, पिता श्री राजनारायण मणि त्रिपाठी, अनुज अपूर्व एवं अनन्त, बहन अर्चना एवं अनुपमा तथा पत्नी उषा किरण त्रिपाठी का सतत् सहयोग, स्नेह, प्रेरणा, अमूल्य समय तथा प्रत्येक साधनों व सुविधाओं को मेरे लिये उपलब्ध रखने के कठिन कार्य के लिए कृतज्ञता के शब्द बहुत ही तुच्छ जान पड़ते हैं, ऐसा सौभाग्य विरले लोगों को ही प्राप्त होता है। श्रीमती माधुरी पाण्डेय का स्नेह भी सम्बल रहा है।

पुस्तक प्रकाशन के लिये डॉ. राधेश्याम शुक्ल जी का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अथक परिश्रम से यह कार्य पूर्ण किया। सतत् प्रेरणा एवं सहयोग के लिये प्रो. विजय

कुमार पाण्डेय जी विभागाध्यक्ष, इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, रा.म.लो. अवध विश्व विद्यालय, फैजाबाद का आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ की प्रशंसा एवं प्रेरणा के लिये प्रो. जगदीश नारायण तिवारी, प्रो. अजयमित्र शास्त्री एवं प्रो. ए.सी. बनर्जी का विशेष कृतज्ञ हूँ। प्रेरणा हेतु प्रो. महेश्वरी प्रसाद जी का स्मरण हो उठता है।

फैजाबाद **आलोक मणि त्रिपाठी**
गुरु पूर्णिमा
२०.७.१९९७

संकेत-सूची

ऐ.ब्रा. - ऐतरेय ब्राह्मण

आ.श्रौ. - आपस्तम्ब श्रौतसूत्र

इपी. इ. -इपीग्राफिआ इण्डिका

का.श्रौ. - कात्यायन श्रौतसूत्र

कौ.ब्रा. - कौषीतकी ब्राह्मण

जे.बी.बी.ओ.आर.एस. - जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रान्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी ।

जे.ओ.ए.ओ. एस. - जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरिण्टल सोसाइटी

जे.ओ.आर.एस.एस. - जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी

तै.आ. - तैत्तिरीय आरण्यक

तै.ब्रा. - तैत्तिरीय ब्राह्मण

श्वेता. - श्वेताश्वतर उपनिषद्

शत. - शतरुद्रीय

शा.ब्रा. - शाङ्खायन ब्राह्मण (शाङ्खायन ब्राह्मण)

शां. सं. - शाण्डिल्य संहिता

स्व. तन्त्र - स्वच्छन्द तन्त्र

वा.सं. - वायवीय संहिता

जे.वी.ओ.आर.एस. - जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी

ए.बी.ओ.आर. आई. - एनल्स आफ भंडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट (पूना)

सी.आई.आई. - कार्पस इन्सक्रिप्सनम इंडिकेरम

इ.आई. - इपीग्राफिक इंडिका

जी.एस.एस. - गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह (गोपीनाथ कविराज)

एच.डी.एस. - हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र

आई.ए. - इंडियन एन्टीक्वेरी

आई. एच. क्यू. - इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली

जे.ओ.आई. बी. - जर्नल आफ दी ओरिएन्टल इन्टीच्यूट बड़ौदा

जे. आर.ए.एस. बी. - जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल

एस.आइ. आई. - जे. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्सनस

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

आशीर्वचन vii

सम्मति viii

प्राक्कथन ix

कृतज्ञता-ज्ञापन xii

संकेत सूची xiii

प्रस्तावना १-८

प्रथम खण्ड

पाशुपत-शैव धर्म : उत्पत्ति, विकास और इतिहास

प्रथम अध्याय : आगम -परम्परा एवं पाशुपतागम का मूल स्रोत ११

श्वेताश्वतर शाखा एवं श्वेताश्वतर ऋषि

द्वितीय अध्याय : शतरुद्रीय, और उसकी परम्परा १६

रचना, उद्देश्य एवं समय तथा स्वरूपः शतरुद्रीय की परम्परा दार्शनिक, स्वरूप; पशुपति-रुद्र, योगी, योगियों का आराध्य मोक्षदाता पशुपति रुद्र; धार्मिक स्वरूप ।

तृतीय अध्याय : पाशुपतागम के संस्थापक २५

प्रथम पाशुपत योगावतार श्वेताश्वतर एवं उनकी परम्परा„ श्वेताश्वतर की शिष्य परम्परा, श्वेताश्तर उपनिषद् एवं श्वेत के धार्मिक उपदेश

चतुर्थ अध्याय : पाशुपतागम का अभ्युदय और पाञ्चरात्रागम ३१

पञ्चम अध्याय : पाशुपतागम का अन्य उपनिषदों पर प्रभाव ४१

श्वेताश्वतर में मायावाद, पाशुपतागम की आधारशिला श्वेताश्वतर उपनिषद्

षष्ठ अध्याय : श्वेताश्वतर की पाशुपतधारा एवं परवर्ती उपनिषदें ४८

सप्तम अध्याय : श्वेताश्वतर की पाशुपत-परम्परा का अन्य दर्शनों में प्रस्थान ५१

श्वेत की शिष्य परम्परा, श्वेत की पाशुपत परंपरा और माहेश्वर मत का प्रसार

अष्टम अध्याय : पाशुपत-धर्म-दर्शन का नवोन्मेष और माहेश्वर योगावतार ६०

लकुलीश का आविर्भाव

नवम अध्याय : श्रीकण्ठ-पाशुपत धारा ६३

दशम अध्याय : लकुलीश की ऐतिहासिकता और उनका पाशुपत दर्शन ६७

लकुलीश एवं श्रीकंठ तथा शैवागम, लकुलीश का आविर्भाव-काल

एकादश अध्याय : लकुलीश द्वारा पाशुपत सूत्रों का उपदेश ७४

भगवान लकुलीश एवं उनकी शिष्य-परम्परा

द्वादश अध्याय : लकुलीश पाशुपत मत का प्रचलन क्षेत्र ७८

कुषाण युग में लकुलीश पाशुपत मत अथवा, माहेश्वरमत,

त्रयोदश अध्याय : पाशुपत सूत्र और उनका प्रचार ८३

पञ्चार्थ दर्शन, पाशुपत सूत्रों के भाष्यकर्ता कौण्डिन्य और उनकी ऐतिहासिकता, कौण्डिन्य व पञ्चार्थ भाष्य का काल, पञ्चार्थ भाष्य व अन्य दार्शनिक परम्पराएं, लकुलीश - परम्परा के अन्तिम पाशुपताचार्य, दक्षिण में पाशुपतमत और कापालिक सम्प्रदाय

चतुर्दश अध्याय : लकुलीश पाशुपतमत की पौराणिक धारा ९२

वायुपुराण और पाशुपतमत, वायुपुराण का पाशुपतमत और उसका तान्त्रिक परिवेश, पाशुपतमत के महत्वपूर्ण केन्द्र , विशिष्ट साहित्य में पाशुपत-परम्परा, द्विविध पाशुपतागमों का संगम, वायु पुराण की पाशुपत-परम्परा एवं लकुलीश की प्रतिमाएं, श्वेतकल्प और पाशुपतमत

का तान्त्रिक परिवेश, छठीं शदी में पाशुपत मत और
न्याय-वैशेषिक, छठीं-सातवीं सदी में लकुलीश पाशुपतमत,

पञ्चदश अध्याय : कूर्मपुराण में लकुलीश पाशुपतमत और उसका तान्त्रिक परिवेश १०३
कूर्मपुराण में लकुलीश पाशुपतों की श्रुतिमूलक और
स्वतन्त्रधारा, कूर्मपुराण में वैष्णवमत एवं लकुलीश
पाशुपतागम का संगम, कूर्मपुराण का काल-निर्धारण
कूर्मपुराणकालीन लकुलीश पाशुपतों के महत्वपूर्ण
केन्द्र, आगम साहित्य की रचना एवं परिवेश ।

षोडश अध्याय : नवम शदी में पाशुपत दर्शन १११
लकुलीश पाशुपतों का तान्त्रिक परिवेश एवं शैवागम,
शङ्कराचार्य और रामानुज तथा लकुलीश पाशुपतमत

सप्तदश अध्याय : वायवीय संहिता में लकुलीश पाशुपतमत ११४
श्वेताश्वर एवं वाचनीय संहिता
पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य एवं वायवीय संहिता,
वायवीय संहिता में श्रौत-स्मार्त एवं अन्य परम्पराएं,
वायवीय संहिता में उल्लिखित पाशुपतों के केन्द्र

अष्टादश अध्याय : गणकारिका का लकुलीश पाशुपत दर्शन १२६
गणकारिका एवं उसकी रत्नटीका
गणकारिका के रत्नटीकाकार नैयायिक भासर्वज्ञ,
दसवीं शती में लकुलीश पाशुपत और शिवशासन ।

एकोनविंशति अध्याय : लकुलीश पाशुपतों का विस्तार एवं प्रचार १३०
बंगाल में लकुलीश पाशुपतमत, भारत वर्ष में
लकुलीश पाशुपतमत का चतुर्दिक विस्तार

विंशति अध्याय : लकुलीश की प्रतिमाएं और उनकी धार्मिक-दार्शनिक मुद्राएं १३३
लकुलीश की प्रतिमाओं के प्राप्ति स्थल और उनकी
भावभंगिमाएं

इक्कीसवां अध्याय : अभिलेखों में पाशुपत मत १३९

द्वितीय खण्ड

पाशुपत दर्शन का विकास एवं उनकी साधनायें

प्रथम अध्याय : शतरुद्रीय में रुद्र-शिव १५०

द्वितीय अध्याय : अथर्ववेद का रुद्र-शिव विषयक दर्शन १५५

तृतीय अध्याय : व्रात्य सूक्त का दर्शन १५७

चतुर्थ अध्याय : शतरुद्रीय एवं अथर्ववेद के व्रात्य और उनका इतिहास १६१

पञ्चम अध्याय : एकव्रात्य सूक्त और व्रात्यों का धर्म-दर्शन १६८

षष्ठ अध्याय : ब्राह्मणों और आरण्यकों की पशुपति-रुद्र-परम्परा १७४

सप्तम अध्याय : श्वेताश्वतर उपनिषद् का दार्शनिक स्वरूप १७९

अष्टम अध्याय : परवर्ती उपनिषदों में पाशुपत सम्प्रदाय और श्वेताश्वतर की परम्परा १९१

नवम् अध्याय : लकुलीश प्रणीत पाशुपत सूत्रों का दार्शनिक परिवेश एवं उनका स्वरूप १९४

दशम अध्याय : गणकारिका का दार्शनिक स्वरूप २२६

एकादश अध्याय : वायवीय संहिता का दर्शन २३८

द्वादश अध्याय : सर्वदर्शन संग्रह- में नकुलीश पाशुपत दर्शन का विवेचन २४७

त्रयोदश अध्याय : आचार्य शङ्कर और पाशुपत दर्शन २५३

उपसंहार २५६

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची २६३

प्रस्तावना

आगमों की उत्पत्ति का रहस्य भारतीय मनीषा एवं धर्म-दर्शन का ज्वलन्त प्रश्नचिन्ह रहा है। अभिनवगुप्त आगम शब्द का यौगिक अर्थ "आसमन्तात् गमयति इति आगमः" स्वीकार करते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार "निःश्रेयस (मुक्ति मार्ग) को जो उपाय सरलतया बुद्धिगम्य बना दे, वह आगम है।"[१] वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी के नासिक गुहालेख में "आगमनं आगमानां (नि) लयस" उल्लेख प्राप्त होता है।[२] शाब्दिक रूप से 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक मन् धातु से अण् प्रत्यय करने पर आगम शब्द बनता है।[३] अन्यत्र एक प्राचीन ग्रन्थ में गुरुपरम्परा से परिगृहीत ज्ञान को आगम कहा गया है।[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैगम से भिन्न अर्थ में "आगम" शब्द प्रयुक्त हुआ है। आगम शब्द का प्रयोग पारम्परिक ज्ञान के सन्दर्भ में हुआ है।

आगमों को तन्त्र भी कहते हैं।[५] उनके तात्विक-विस्तार को तन्त्र कहा गया है।[६]

---

१. द्रष्टव्य—तत्त्व वैशारदी।

२. नासिक गुहालेख, वर्ष १९. सन्दर्भ व्यूहलर ए.एस.डब्ल्यू.आई. ४; पृ. १८०, नं. १८; सेनार्ट ई-१,८, पृ. १६०; सरकार एस,आई. ९, २०२ "७" पुर-वरस कुल-परिसपरम्परागत-विपुल राजशब्दस्य आगमान" (इन्द्रजी का पाठ); पुरवस्य, कुल पुरुष परम्परागत विपुल राजशब्दस्य, आगमानां (नि) लयस, सत्पुरुषाणां आश्रयस्य, —सात वाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख-डा. वा. वि. मिराशी; 'नासिक की गुफा में वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का लेख; संवत्सर १९ पृ. ४०; नं. "आगमान निलयस स पुरिसान असयस" पृ. ४२; जो आगमों का निवास स्थान थाः जो सज्जनों का आश्रय स्थान था।"

३. "आनपूर्वेण यः ज्ञानम् गमयति विस्तारयति, विस्तारं प्रापयति इति आ मर्यादितम् एकरूपेण सुनिबद्धम् शास्त्रं पुर्वापररूपेण विस्तारयति व्यवहारे प्रतिपादयति इति आगमः" ।— वही

४. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य, अ. १/१ । "आगमो नाम आ महेश्वराद् गुरुपारम्पर्यागतं शास्त्रम्"।

५. सर्वदर्शन संग्रह, शैवदर्शनम्, पृ. ३२० "तदुक्तं तन्त्र तत्त्वज्ञैः"।

६. तन विस्तारे धातु से उणादि ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने पर तन्त्र शब्द बनता है। कामिकागम, के अनुसार "तनोति विपुलान अर्थात् न् तत्व मन्त्र समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते तस्मात् तंत्राभित्यधीयते।"

यह भी कहा गया है कि आगम का ज्ञान पार्वती को समझाने हेतु शिववक्त्र से निकला ।[१]

भारतीय धार्मिक परिवेश में परम्परागत ज्ञान के विकास की धारा में एकान्तिक भक्ति की परम्परा का भी योगदान रहा है ।[२] शुक्ल यजुर्वेद की एकायन शाखा की 'एकायन' अथवा एकान्तिक भक्ति-परम्परा, आगम शब्द के आशय को अपने में समाविष्ट करती प्रतीत होती है ।[३]

एकान्तिक भक्ति की यह परम्परा यजुर्वेद की एकायन शाखा में थी जिसका सम्बन्ध पाञ्चरात्रागम से है ।[४] इसीलिये पाञ्चरात्रागम को वेद से सम्बन्धित माना गया है ।[५] गीता में भी एकान्तिक भक्ति का उल्लेख है ।[६]

इसी प्रकार यजुर्वेद के शतरुद्रीय या रुद्राध्यायी[७] तथा कृष्णयजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा[८] के श्वेताश्वतर उपनिषद्[९] में पशुपति रुद्र के प्रति एकान्तिक भक्ति के साक्ष्य प्राप्त होते हैं ।[१०]

---

१. कामिकागम, भाग २ पृ. ८५ "आगतं शिव वक्त्रेभ्यः गतं च गिरिजामुखे ।
मतं श्री वासुदेवस्य आगमस्तेन कीर्तितः ॥"

२. ईश्वर संहिता, "आद्यएकायनं वेद रहस्याम्नाय संज्ञितम्----मोक्षफललक्षणम् ॥" अन्यत्र इसे "एके मुख्यान्य केवलाः" कहा गया है ।

३. परमसंहिता, प्रस्तावना, पृ. ३२, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज १९४० ई. ; जयाख्य संहिता पटल १/१०९; काण्वीशाखा (शुक्ल यजुर्वेद); जया. सं., १/११६
"इमौ च पञ्चगोत्रस्तथा मुख्या काण्वीमपाश्रिताः ।
श्री पान्चरात्रतंत्रीय सर्वेऽस्मिन् मम-कर्माणि ।"

४. परमसंहिता, ३१/३० "एकान्तिनो मदायुक्ता विष्णुभक्तिपरायणाः.। २/१०९ "प्रवदन्ति च मामेव वेदशाखा शिरांसि च ॥" - परमेश्वर संहिता, ज्ञान पाद १/१८च "तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणाः ॥" ईश्वरसंहिताच "आद्यमेकायनं वेद रहस्याम्नाय संज्ञितम् ।दिव्यमन्त्र क्रियोपेतं मोक्षेकफललक्षणम् ॥"

५. परमसंहिता, भूमिका-गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, १९४०.

६. श्रीमद् भगवद्गीता, १८/६६; सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । १८/५५

७. यजुर्वेद, ३/१८; "नान्यः पन्थाऽयनाय विद्यते" श्वेताश्वतर उ., ३/८, ६/१५; तै.आ., ३/१२/७; शतरुद्रीय, ३९,४०,४१,५३.

८. द्रष्टव्य-चरणव्यूह सूत्रम् ।

९. वेदों की शाखायें, प्रथम भाग पृ. २९६; पं. भगवद् दत्त ।

१०. श्वेताश्वतर उपनिषद्, १/३, ३/१; य एको ।३/२; एको हि रुद्रो. .... ।, ३/४,५,६,७ ४/१०, ५/१४ "देवं मुच्यते सर्वपाशैः । ६/२०; तदादेवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति । परमेश्वर आगम, १०/८३ "सर्वधर्मान् परित्यज्य शैवं पञ्चाक्षरं जपेत् ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि धार्मिक भक्ति, उपासना अथवा आराध्य के प्रति भक्ति और उपासना का पारम्परिक ज्ञान आगम है, जो निगम से भिन्न है । अर्थात् गुरुपरम्परा से परिगृहीत आराध्य के प्रति एकान्तिक भक्ति अथवा उपासना का पारम्परिक ज्ञान आगम है । इन आगमों का तात्विक विस्तार तन्त्र है । तत्वमन्त्र के साथ कल्याण हेतु जिस महान अभीष्ट का विस्तार किया जाय अथवा कल्याण हेतु, जिस विपुल अर्थ का विस्तार किया जाय वह तन्त्र है । पाञ्चंरात्रागम में इसी आशय को स्वीकार किया गया है ।[१]

शैवोपासकों में भी उस एक परम पुरुष, ब्रह्म अथवा पशुपति महेश्वर व गुरु के प्रति एकान्तिक अथवा आत्यन्तिक भक्ति ही आगम नाम से प्रसिद्ध रही है । यह भक्ति उस महेश्वर का प्रसाद[२] कही गयी है जिसे पराभक्ति[३] के नाम से भी सम्बोधित किया गया है । उपर्युक्त विचारधारा ही पाशुपतागम का मूल है ।

साक्ष्यों से विदित होता है कि यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा में निहित आगम -परम्परा पाशुपतों की थी ।[४] यह भी सिद्ध होता है कि जिस प्रकार पाञ्चरात्रागम का उपदेश नारायण विष्णु ने किया[५] उसी प्रकार पाशुपतागम का उपदेश महेश्वर ने किया तथा आगमों का यह विकास महेश्वर की गुरु परम्परा में हुआ है ।[६] यह भी ज्ञात होता है कि महेश्वर ने अपने

---

१. परमसंहिता, ३१/३० "एकान्तिनो मदायुक्ता विष्णुभक्ति परायणाः । श्रद्धया परयोपेता वासुदेव मुपासते ॥; शाण्डिल्य संहिता, १/३/२५ "प्रसाद ग्रहणं तेषा भक्तो विष्टेन जायते । (अनंतशास्त्री फड़के १९२५); श्वजन्मना पराभक्ति हृद्विवास्य स्वयं भवेत् ॥; ५/१५ अथकलो सप्रवृत्ते पूर्वाचार्योस्थागतेः । भविष्यति पराभक्ति किञ्चित्कालं मुनीश्वरा ॥ परमसंहिता, ३१/१७ "योगाचार्या भवन्येते त्वत् प्रसादात् पितामहः । श्रीमद्भगवद् गीता, १८/५४; समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥

२. श्वेताश्वतर, ६/२१ "तपः प्रभाव देवप्रसादाच्च ब्रह्मह श्वेतश्वतरोऽथ विद्वान् ।"

३. श्वेताश्वतर, ६/२५ "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरो ।"

४. पूर्वद्रष्टव्य अत्रैव, श्वेता. ६/२१-२३, श्वेताश्वतर ऋषि प्रथम पाशुपताचार्य व महेश्वर के प्रथम योगावतार थे ।; द्रष्टव्य-वायु. पु. अ. २३; कूर्मपुराण, १/५१/१-६ ।

५. महाभारत शान्तिपर्व, ३४९/६८,६९ "पाञ्चारात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवानस्वयम् । यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः ॥"

६. शिवपुराण, वा.सं. ९/३४ "श्रीकण्ठेन शिवेनोक्ता शिवाय च शिवागमा ।" पाशुपतसूत्र पञ्चार्थ भाष्य, अ. १/१ "आगमो नाम आ महेश्वाराद् गुरुपरम्परयागतं शास्त्रम् ।" श्वेताश्वतर उपनिषद, ६/२१-२३ पूर्वद्रष्टव्य पाद टिप्पणी । परमसंहिता, १/१७,१८,२४; जयाख्य संहिता, १/१०९-१६ ।

योगावतारों में जिसका उपदेश किया वे पाशुपतागम कहे जाते हैं। पाशुपतों में इन योगावतारों की गुरुपरम्परा का उल्लेख है।[१]

वस्तुतः पाशुपतागम में दो परम्परायें विकसित हुई— प्रथम वैदिक श्रुतिमूलक परम्परा और दूसरी स्वतन्त्र है।[२]

साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि पाशुपतागमों की वैदिक-परम्परा के अनेकानेक आगमों के प्रणयनकर्ता श्वेत थे।[३] उल्लेखों से स्पष्ट है कि दिव्य आलोक श्वेत महेश्वर ने श्वेताश्वतर मुनि के रूप में अवतरित होकर प्रसादस्वरूप अनेकानेक पाशुपतागमों के प्रणयन का अनुग्रह किया।[४]

इस प्रकार अपने योगावतारों की परम्पराओं में महेश्वर ने पाशुपतागम का उपदेश शिष्यों को किया। लकुलीश उनके अट्ठाइसवें कायरूपी योगावतार थे[५] जिन्होंने पाशुपत सूत्रों का उपदेश एवं प्रणयन किया। जो लकुलीश-पाशुपत नामक स्वतन्त्र पाशुपतागम के नाम से विख्यात है।[६] लकुलीश श्वेत प्रणीत परम्परा के नवोन्मेषकर्ता भी थे।[७]

---

१. वायुपुराण, अ. २; कूर्मपु., १/५१; शिवपु., वा.सं. २/१०/२-५।
२. वा.सं.,२८/११ अथवा द्रष्टव्य-प्रथम भाग अत्रैव १/६/११ "शैवागमो हि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च स स्मृतः। श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरो मतः॥"
३. श्रीकण्ठभाष्य मङ्गलाचरण "नमः श्वेतेऽभिधानाय नानागम विधायिने।"
४. वायुपुराण, अ. २२-२३; कूर्मपुराण १/५१/१; वा.सं. २/१०/२; द्रष्टव्य-(प्रथम भाग इसी ग्रन्थ (२/४/२) में उल्लिखित महेश्वर के प्रथम योगावतार श्वेत जो प्रथम पाशुपताचार्य कहे गये हैं तथा श्रीकण्ठभाष्य (मङ्गलाचरण) के नानागम विधायी श्वेत एक ही व्यक्ति थे। वही पाशुपतागम के प्रणेता, शिव के प्रथम योगावतार तथा प्रथम पाशुपताचार्य भी थे।
५. वा.सं.,भाग २,अ. ४; कूर्म पु., १/५१; वायुपुराण अ. २३; लिङ्गपु.,अ. २४; वायुपुराण, कारवण महात्म्यम् "अमरगणनिषेथः सर्वसिद्धिप्रदाता कलियुगमवतीर्ण कायरूपी महेशः। द्रष्टव्य गणकारिका (विशुद्धमुनिकृत आत्मसमर्पणम्) परिशिष्ट।
६. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य, अ. १/१, पृ. ३,४ "मनुष्यरूपी भगवान ब्राह्मणकायमास्थाय कायावतरेण अवतीर्ण इति। तथा पद्भ्यामुज्जयिनी प्राप्तः।---- अतो रुद्रप्रचोदितः कुशिक भगवानभ्यागत्य--- पृष्टवान्।" द्रष्टव्य, सर्वदर्शन संग्रह —नकुलीश पाशुपत दर्शनम्।
७. पूर्व उद्धृत-कहा जा चुका है कि वे महेश्वर के अट्ठाइसवें कायरूपी योगावतार थे। इस परम्परा के प्रथम योगावतार श्वेत थे।

स्वतन्त्र पाशुपतागम के प्रचारक ब्रह्मा के पुत्र श्री कण्ठ का भी उल्लेख मिलता है। जिन्हें भूतपति पशुपति उमापति शिव ने ज्ञानोपदेश किया था[१] और जो एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे।[२] प्रमाणों से लकुलीश भी ऐतिहासिक व्यक्तित्व सिद्ध होते हैं।[३]

इस प्रकार महेश्वर युग-युग में अवतरित होकर ज्ञानोपदेश करते रहे और पाशुपतागम इतिहास के एक लम्बे अन्तराल में पुष्पित, पल्लवित, प्रसरित और विकसित होता रहा। प्राप्त साक्ष्यों के ऐतिहासिक अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि लकुलीश पाशुपत धर्म-दर्शन का विकास परम्परा में उनके शिष्यों द्वारा हुआ जिनके उल्लेख हमें साहित्य और अभिलेखों में प्राप्त होते हैं।[४] इस सन्दर्भ में लकुलीश के सत्तरहवें शिष्य राशिकर अथवा कौण्डिन्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिन्होंने पाशुपत सूत्रों का पञ्चार्थ भाष्य किया जो पाशुपत दर्शन का महत्वपूर्ण, विशिष्ट एवं दुर्लभ ग्रन्थ है।[५] आचार्यों की परम्परा के अतिरिक्त लकुलीश प्रणीत पाशुपत सूत्रों का दर्शन एवं आचार प्रणाली मुख्यतः दो धाराओं में विकसित हुई। प्रथम धारा का संकलन आगमिक परिवेश के साथ वायवीय संहिता में

---

१. महाभा., शान्ति पर्व, अ. ३४९/६७, ६८.

२. शैवकल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. ४,५,६; श्रीकण्ठ—डा. विश्वम्भर शरण पाठक।

३. द्रष्टव्य—उपर्युक्त एवं शैव-वैष्णव एवं अन्य धार्मिक मत-भण्डारकर तथा शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इन्डिया-लकुलीश पाशुपत स्कूल, पृ., ८,९.

४. द्रष्टव्य—गणकारिका परिशिष्ट; विशुद्ध मुनि कृत यमप्रकरण, "कुशिक" पाशुपतसूत्र पञ्चार्थ भाष्य, अ. ४/१० "कुशिकेशान सम्बन्धात् "प्राक्"—लकुलीश के चार शिष्यों,—कुशिक, गार्ग्य, मैत्र्य और कौरुष का उल्लेख पुराणों में भी प्राप्त होता है। वायु पु., अ. २३; कूर्मपु., अ. १/५१; विशुद्धमुनि कृत आत्मसमर्पणम्; वा. सं., २/४/२०; कुशिक, गार्ग्य, मैत्र्य व कौरुष। हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय में लकुलीश के १८ शिष्यों का उल्लेख है जो निम्न है।"नकुलीशोऽथ, कौशिकः गार्ग्य, मैत्र्यः, कौरुषः, ईशानः, परागर्ग्यः, कपिलाण्ड, मनुष्यकः कुशिकः, अत्रिः, पिंगलः, पुष्पकः, वृहदार्यः, अगस्तिः, सन्तानः, राशिकरः, विद्यागुरुश्च"। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख और उदयपुर (नरुवाहन वि.सं. १०२८) मे कुशिक, गार्ग्य, कौरुष, मैत्रेय का उल्लेख हुआ है। (एपी. इण्डिया, पृ. २८)। द्रष्टव्य-शैव-कल्ट्स, इन नार्दर्न इण्डिया —डा. विश्वम्भर शरण पाठक।

५. द्रष्टव्य, पाशुपत सूत्र पञ्चार्थ; इसी ग्रन्थ में भाष्यकार कौण्डिन्य और राशिकर को एक ही व्यक्ति माना गया है। द्रष्टव्य, गणकारिका, रत्नटीका (इसी ग्रन्थ में) एवं सर्व दर्शन संग्रह पृ. ३१४ (इसी ग्रन्थ में) "नकुलीश पाशुपत दर्शनम्" स खलु राशिकर भाष्ये द्रष्टव्यः" यहां राशिकर गणकारिका रत्नटीका भाष्य का उल्लेख है वह कौण्डिन्य का पञ्चार्थ भाष्य ही है। गणकारिका रत्नटीका, का. ७ का भाष्य -"गववंल्लकुलीशादीनृराशिकरान्तराश्च तीर्थकरानुक्रमेण" ॥

प्राप्त होता है ।[१] दूसरी पाशुपत धारा को हरदत्ताचार्य एवं नैयायिक भासर्वज्ञ ने गणकारिका और उसकी रत्नटीका द्वारा धार्मिक एवं दार्शनिक सुदृढ़ता प्रदान किया जो अत्यन्त गौरवपूर्ण है ।[२]

लकुलीश पाशुपतों की इन द्विविध धाराओं पर पञ्चार्थ भाष्य के तान्त्रिक परिवेश का पूर्ण प्रभाव है । आचार्य शङ्कर द्वारा ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के अन्तर्गत पाशुपतों के पञ्चार्थ दर्शन की आलोचना से स्पष्ट होता है कि उनके समय में पाशुपत धर्म-दर्शन का विशिष्ट महत्व रहा होगा ।[३]

पाशुपतों की परम्परा का संग्रह और उनकी व्याख्या का प्रयास हमें सर्वदर्शन संग्रह में भी प्राप्त होता है ।[४]

इस प्रकार शतरुद्रीय की विशाल परम्परा, जिसका आगमिक परिवेश तैत्तिरीय आरण्यक से होता हुआ श्वेताश्वतर शाखा में परिष्कृत होकर श्वेताश्वतर उपनिषद् में निर्मित होता है वह कालान्तर में श्वेताश्वतर से अनेकशः धाराओं में विकसित होता दिखाई देता है ।

लकुलीश के पाशुपत सूत्रों से होकर यह विशाल परम्परा कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थ भाष्य, वायवीय संहिता, गणकारिका एवं गणकारिका की रत्नटीका तथा सर्वदर्शन संग्रह में प्रवहणशील है ।

सिन्धु-सभ्यता में पशुपति शिव

हड़प्पा से जो शिव लिङ्ग मिला है उसको ह्वीलर महोदय लिङ्ग योनि बताते हैं । आर.डी. बनर्जी ने एक जलपात्र का उल्लेख किया है जो मोहन जोदड़ो से भी मिला है जिसे उन्होंने चरणामृत कुण्ड कहा है जो अर्घ्य दान या प्रतिमा स्नान कराने के काम आता है ।[५] आज भी शिव मन्दिरों में ऐसे चरणामृत कुण्ड पाये जाते हैं । उक्त दोनों साक्ष्य सैन्धव काल में शैव-पूजा के प्रमाण हैं ।

मोहनजोदड़ों के पुरुष देवता के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि वह योगासन की मुद्रा है । वह उर्ध्वमेढ्र की मुद्रा में बैठा है, सिर पर श्रृंग का ताज है और पशुओं से घिरा

---

१. द्रष्टव्य-वायवीय संहिता, (इसी ग्रन्थ में) ।
२. नकुलीश पाशुपत दर्शनम् -सर्वदर्शन संग्रह, पृ. ३००; यहां गणकारिका की रचना का श्रेय हरदत्ताचार्य को दिया गया है । गणकारिका की रत्नटीका, नैयायिक भासर्वज्ञ ने लिखा । द्रष्टव्य गणकारिका रत्नटीका (इसी ग्रन्थ में) ।
३. ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य, २/२/३७-४१
४. सर्वदर्शन संग्रह, नकुलीश पाशुपत दर्शन (इसी ग्रन्थ में द्रष्टव्य) ।
५. एन आउट लाइन आफ हिस्ट्री आफ शैव फिलासफी, -के. सी. पाण्डेय ।

है । मार्शल ने इसे पशुपति कहा है ।[१] उध्वरिता योग की मुद्रा में पुरुष योगी है जो परम्परा में पाशुपतों में पाये जाते हैं ।

वैदिक-परम्परा में ऋग्वेद में रुद्र शिव को पशुपति कहा गया है । यजुर्वेद, वासजनेयी संहिता, अथर्ववेद एवं शतपथ ब्राह्मण तथा आश्वलायन गृह्य सूत्र में रुद्र शिव पशुपति कहे गये हैं ।[२] सैन्धुव सभ्यता में उनका ही स्वरूप मिलता है । महाभारत में भी इन्हें पशुपति कहा गया है ।[३] अतः इस मुद्रा में पशुपति शिव का ही अंकन है ।

नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाये अर्ध निमीलित नेत्र योगी की मुद्रा शैवों की शाम्भवी मुद्रा के समान है ।[४] कालान्तर में लकुलीश की प्रतिमाएं उर्ध्वमेढ़ मुद्रा में मिलती हैं जो शिव के अट्ठाईसवें योगावतार थे । सिन्धुसभ्यता के पशुपति योगी में उक्त तत्व देखे जा सकते हैं । वह पशुओं का पति परमसत्ता का बोधक है, पशुपति योगी दृढ़ आनन तथा निर्भय़ मुद्रा में है, सभी पशु उसके वश में हैं । वह उनके स्वामी पति की तरह है जैसा कि श्वेताश्वतर में उल्लेख है । जो सब देवताओं का स्वामी सब लोकों का आश्रय रूप है तथा जो द्विपद व चतुष्पद देह धारियों पर प्रभुत्व रखता है उस परमेश्वर की हवि देकर उपासना करें ।[५] अन्यत्र कहा है सम्पूर्ण स्थावर-जंगम का नियामक परमेश्वर नौ द्वार वाले देहपुर में स्थित हृदय में निवास करता है और बाह्य संसार में वही क्रीड़ा कर रहा है ।[६] ईश्वरों के भी महान ईश्वर महेश्वर सब देवताओं के परम देव, पतियों के भी पति पशुपति, लोकों के अधीश्ववर एवं परमेश्वर को सर्वातीत जानते हैं ।[७] श्वेताश्वतर में कहा गया है शिव व रुद्र एक ही है जो सभी देहधारियों में स्थित है, सब की रक्षा करता है । उसमें सब की भक्ति है ।[८]

---

१. मार्शल, मोहन जोदड़ो एण्ड दी इन्डससिविलाईजेशन वा. १, पृ. ५२.
२. ऋग्वेद १/११४/९; यजु.वा.सं. ; १६/२८; अथर्व. , ७/११/२७/११/६९ एवं श.ब्रा. १/७/३८/६१/३/१२; आ.ला. गृह्यसूत्र, ४/८/१९.
३. महाभारत, १२/२८४/१९५ १२/३४९/६७.
४. अनुभव निवेदन स्तोत्र
अर्धोद्घाटित लोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण -
श्चन्द्रावपि लीनतामुपगतौ त्रिस्पन्दभावान्तरे ।
ज्योतिरूपमशेष बाह्यरहितमेकं पुमांस परं
तत्त्वं तवपदमेति वस्तु चरमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥
५. श्वेता. , १/१३ -यो देवानामधिपो यस्मिनमल्लोका अधिश्रिताः य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवायहविषा विधेम् ।
६. श्वेता. ,३/१८.
७. श्वेता. ,६/७.
८. श्वेता. ,३/२.

इस प्रकार पशुओं के देवता एवं प्राणियों के देवता पशुपति रुद्र शिव कहे जाते हैं। पाशुपत सूत्रों में पशुपति का अर्थ सभी प्राणियों के स्वामी से है।[१] सर्वे चेतनावन्तः पशुः, ऐसा कहा गया है। इन अवतरणों से विदित होता है कि पशुपति रुद्र-शिव-उपासना जो परम्परा में वेदों एवं आगमों में प्राप्त होती है उसके तत्व सिन्धु-सभ्यता में विद्यमान थे। शिव की मनुष्याकार एवं लिङ्ग पूजा दोनों साक्ष्य सैन्धव काल में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में रुद्र की उपाधि पशुप है जो परम्परा में पशुपति रुद्र शिव है। सैन्धव-सभ्यता में पशुप एवं पशुपति योगीश्वर दोनों रूप प्राप्त होते हैं तथा लिङ्ग रूप में शिव की उपासना के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

प्रोटो टाइप शिव में त्रिमुख योगीश्वर पशुपति ऊर्ध्वमेढ़ या ऊर्ध्व लिङ्ग स्वरूप प्राप्त होता है। शतरुद्रीय में शिव को पशुपति कहा गया है जो 'पशुनां पतये' अर्थ में है।[२] पशु से अभिप्राय चेतन प्राणियों से भी है। अथर्ववेद में एक ब्रात्य रुद्र के भवनाम पूर्व में, शर्व दक्षिण में और पशुपति पश्चिम में प्रचलित कहे गये हैं। अतः यह प्रमाणित होता है कि उत्तर-पश्चिम में शिव की पशुपति नाम से पूजा प्रचलित थी।[३] शिव के अष्ट मूर्तियों में पशुपति मूर्ति का उल्लेख पुराणों में है, शतपथ ब्राह्मण में पशुपति पौधों एवं पशुओं के देवता कहे गये हैं।[४] इस चराचर जगत के वे स्वामी हैं यह भावना सैन्धव काल की पुरुष योगी की मूर्ति में दिखाई देती है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में रुद्र के भव, सर्व, शिव, ईशान, शंकर एवं पशुपति आदि नामों का उल्लेख है।[५]

वैदिक परम्परा में रुद्र शिव को महायोगी, महातप, तपोनित्य और योगीश्वर कहा गया है। पाशुपत योग का उल्लेख लकुलीश के पाशुपत सूत्रों में है जो महेश्वर के अट्ठाईसवें योगावतार हैं। रुद्र-शिव-सायुज्य योग से प्राप्त होता है इसका उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में हैं। अतः पाशुपति-परम्परा में पशुपति रुद्रशिव योगीश का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह सिन्धु सभ्यता के पशुपति योगी की मूर्तिऔर मुद्रा में दिखाई देता है और इस प्रकार पाशुपत शैव धर्म के तत्व हमें सैन्धव काल में विद्यमान दिखाई देते हैं।

इन आलोच्य ग्रन्थों और प्रमाणों के आधार पर पाशुपत धर्म एवं दर्शन का विवेचन ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है जो —पाशुपत धर्म की उत्पत्ति, विकास और इतिहास, पाशुपत दर्शन का विकास और उसकी साधनायें तथा पाशुपत धर्म के स्रोत तीन खण्डों में विभाजित है।

---

१. पाशुपत सूत्र पञ्चार्थ भाष्य, (इसी ग्रन्थ में)
२. शतरुद्रीय बा.सा.सं., १६/२८
३. अथर्ववेद, १५/५/१-७
४. शतपथ ब्राह्मण, ६/१
५. आ.ला. ग्रह्यसूत्र, ४/८/१९

प्रथम खण्ड

पाशुपत धर्म : उत्पत्ति, विकास एवं इतिहास

१.

आगम-परम्परा एवं पाशुपतागम का मूल स्त्रोत

श्वेताश्वतर शाखा एवं श्वेताश्वतर ऋषि

साधारणतः आगम-परम्परा को वेदेतर-परम्परा के रूप में समझा जाता रहा है। किन्तु कुछ आगमिक सम्प्रदायों का सम्बन्ध वेद की शाखाओं से था। इस तथ्य की पुष्टि साक्ष्यों से होती है, उदाहरणतः वैष्णवागम की पाञ्चरात्र शाखा का सम्बन्ध शुक्ल-यजुर्वेद की एकायन अथवा काण्वी शाखा से था।[१]

इसी प्रकार पाशुपतों की एक परम्परा के वेद से सम्बन्धित होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पाशुपतों की यह परम्परा श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होती है जिसके प्रणेता श्वेताश्वर[२] प्रथम पाशुपताचार्य और अनेकानेक शैवागमों के प्रणयन कर्ता थे।[३] श्वेताश्वतर उपनिषद्, श्वेताश्वर शाखा वालों की मन्त्रोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है।[४] वस्तुतः श्वेताश्वतर शाखा कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा थी। शौनक ने चरणव्यूह सूत्र में कृष्ण यजुर्वेद के चरक चरण के अन्तर्गत इस शाखा का उल्लेख किया है।[५] यथा -

यजुर्वेदस्य षड्शीति भेदा भवन्ति, तत्र चरका नाम द्वादश भेदाभवन्ति, चरका आह्वरका.......................श्वेताश्वतरा...................... ।

याज्ञवल्क्य स्मृति में विश्वरूपाचार्य ने इस शाखा का उल्लेख किया है[६] यथा-

श्वेताश्वतराश्च - स कृष्णमृगोऽभवत् स कृष्णामृगो भूत्वा

पृथ्वी मन्थवचरत्। तमनु धर्मश्च चारित्यादि।

एक अन्य साक्ष्य से स्पष्ट होता है कि श्वेताश्वतर शाखा कृष्ण-यजुर्वेदीय चरक चरण के अन्तर्गत थी। उसे चरकों के बारह भेदों के अन्तर्गत रखा गया है[७] यथा-

चरकों के बारह (१२) भेद

श्वेता :- श्वेततरी - श्वेतद्वीपे

श्वेततराः - श्वेतरानी - श्वेतद्वीपे ।

यहां श्वेताश्वर शाखा का प्रचलन क्षेत्र श्वेतद्वीप बताया गया है । महाभारत[८] एवं पुराणों[९] में श्वेतद्वीप, क्षीरोद अथवा दुग्धसागर के तट पर, श्वेतवर्ष में मेरुपर्वत के उत्तर-पश्चिम बताया गया है ।

मेरु, श्वेतपर्वत, क्षीरोद तट, पाताल एवं रसातल पर कश्यप एवं कद्रू के नागवंशीय अश्वतर-कुल के आधिपत्य एवं निवास के साक्ष्य प्राप्त होते हैं ।[१०] अश्वतरों का पूर्वज अश्वतर शैवोपासक था । उसने शिव की कठोर तपस्या के उपरान्त ऋषित्व पद प्राप्त कर लिया था ।[११] गंगा-यमुना घाटी में भी इसके वंशजों का विस्तार हुआ ।[१२] नागों में शिवोपासना की एक लम्बी परम्परा रही है जो प्राक् वैदिक काल से लेकर चौथी ईसवीं शदी के बहुत बाद तक मिलती है ।[१३]

शैवोपासक अश्वतर कुल का सम्बन्ध श्वेताश्वतर शाखा से होना चाहिये क्योंकि श्वेताश्वतर शाखा के प्रचलन क्षेत्र में ही अश्वतरों का निवास था तथा दोंनो में शिवोपासना की परम्परा थी ।

वेदों की भांति ही श्वेताश्वतर शाखा की अपौरुषेयता एवं श्वेत-ब्रह्म रूप महेश्वर द्वारा इस शाखा का प्रणयन श्वेत अथवा श्वेताश्वतर नामक नर-ऋषि द्वारा इस शैव-सम्प्रदाय के उपदेश का साक्ष्य हमें वायुपुराण में प्राप्त होता है ।[१४] पुराणों में श्वेतमहामुनि के नाम से इसी नर-ऋषि की चर्चा है ।[१५] कूर्मपुराण श्वेत महामुनि के पूरे नाम श्वेताश्वतर का उल्लेख करता है ।[१६] प्रथम पाशुपताचार्य वस्तुतः श्वेत[१७] व श्वेताश्वतर एक ही व्यक्ति हैं । श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रणेता श्वेताश्वतर का सम्बन्ध अश्वतर गोत्र से था जिसकी शैवोपासक शाखा श्वेताश्वतर शाखा के नाम से प्रसिद्ध है ।

श्वेताश्वतर शाखा के शिवोपासना की परम्परा में शतरुद्रीय का महत्वपूर्ण स्थान है । शतरुद्रीय से प्रथम पाशुपताचार्य श्वेताश्वतर का गहरा सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है । लिङ्ग पुराण के अनुसार श्वेताश्वतर ने रुद्राध्याय (शतरुद्रीय) के नियमतः स्तवन द्वारा ही अमृतत्व रूप मोक्ष की प्राप्ति की थी ।[१८] अमृतत्व रूप मोक्ष की प्राप्ति एवं श्वेताश्वतर की तपस्या का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में है ।[१९] शतरुद्रीय के पाठ से अमृतत्व रूप मोक्ष की प्राप्ति का उल्लेख जाबालोपनिषद्[२०] में भी हुआ है । पूर्व की परम्परा में शतरुद्रीय का महत्व अनेक स्थलों पर दिखाई देता है[२१] जो उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करता है । तैत्तिरीय संहिता एवं वाजसनेयी संहिता में उपलब्ध शतरुद्रीय[२२] एवं श्वेताश्वतर[२३] शाखा दोनों ही यजुर्वेद के अन्तर्गत हैं ।

काठकों के चारायणीयों के आर्षाध्याय में शतरुद्रीय का उल्लेख[२४] यह संकेत करता है कि शतरुद्रीय की परम्परा कृष्ण-यजुर्वेद के चरक चरण के ही अन्तर्गत थी ।

शैवोपासना की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में शतरुद्रीय की परम्परा को श्वेताश्वतर शाखा में ही निहित मानना उचित प्रतीत होता है ।

धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से परिशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि शतरुद्रीय के पशुपति-रुद्र सम्बन्धी चिन्तन का ही व्यवस्थित विकास श्वेताश्वतर में हुआ है । वस्तुतः शतरुद्रीय पाशुपतों की इस परम्परा के स्रोत के रूप में है जिसकी धारा को श्वेताश्वतर एवं अन्य पश्चात्कालीन उपनिषदों में ग्रहण किया गया ।[२५]

सन्दर्भ

१. जयाख्य संहिता, आमुख की पादटिप्पणी तथा पृ. १५,१०९,११६, बी. भट्टचार्य १९३१ बड़ौदा एवं श्रीप्रश्नसंहिता अ. १.

२. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६/२१

३. श्रीकंठ भाष्य मंगलाचरण ॥४ ॥
शिवकर्मणि दीपिका संहिता "नमः श्वेताभिधानाय नानागम विधायिने ।
वैकल्य कल्प तरवे कल्याण गुरवे नमः " ॥४ ॥
विशुद्ध मुनिकृत आत्मसमर्पणम् " श्वेतः.......................... ।
परिशिष्ट, गणकारिका रत्नटीका-भासर्वज्ञ;
कूर्मपुराण अ. १४/२३-४० एवं ३२ - श्वेताश्वतरनामानं महापाशुपतोत्तम् ॥
अथवा १/५१/१-६,
लिङ्गपुरांण, प्रथम खण्ड अ. २१/२ से २२;
शिव पुराण-वायवीय संहिता; द्रष्टव्य पूर्व खण्ड भाग २/अ. ४
वायु पु. अ. २३/१०७-११० इन उद्धरणों में प्रथम पाशुपतयोगावतार "श्वेत" का उल्लेख है । श्वेताश्वतर उ. ६/२१-२३ में उल्लिखित श्वेताश्वर ऋषि और श्वेत एक ही व्यक्ति थे जिन्हें 'श्रीकंठ ने' नानागम विधायिनः कहा है । द्रष्टव्य सूर्य पु. अ. ४९/२-१५; स्कन्दपुराण भाग-१ अ. ३२/८९-९१.
वस्तुतः पुराणों के प्रथम पाशुपताचार्य श्वेत ही शैवागमों में स्वीकृत प्रथम योगवतार श्वेत हैं ।कूर्मपुराण में श्वेत का पूरा नाम श्वेताश्वतर उल्लिखित है जिनकी पहचान श्वेताश्वतर उपनिषद् के उपदेशक एवं प्रणेता श्वेताश्वतर से की जा सकती है जो अनेक शैवागमों के प्रणयन कर्ता थे ।

४. अस्य वामस्य सूक्त अ. १/१६४, आत्मानन्द भाष्य ।
अस्य वामस्य हाइमन विथ द भाष्य आफ सायण एण्ड आत्मानन्द -
डॉ. डी. सी. कुन्हनराज, मद्रास १६, १९५६
पृ. ३२ "तथा च श्वेताश्वतरे द्वितीयामंत्रोपनिषद् तु..... १६४"/१६

५. चरण व्यूह सूत्रम्, पृ. ३१ (महर्षि शौनकोक्तम्) चौ. स. कार्यालय बनारस १९३८.

६. याज्ञवक्य स्मृति पर विश्वरूपाचार्य की टीका "बालक्रीड़ा टीका" भाग-१, पृ. ८, १/२, गणपतिशास्त्री त्रिवेन्द्रम १९२.२

७. वैदिक वाड्मय का इतिहास - वेदों की शाखाएँ भाग-१, संस्करण २०१३; कृष्णयजुर्वेद के चरक चरण के अन्तर्गत श्वेताश्वतर शाखा का उपर्युक्त चित्र भगवद्दत्त जी ने पंचवटीवासी यज्ञेश्वरदाजी मैत्रायणीय तथा इससे सम्बन्धित दूसरा चित्र नासिक क्षेत्र वास्तव्य पं. श्रीधर शास्त्री से नकल किया गया था ।

८. महाभारत शान्तिपर्व अ. ३३५/७-१०, २१.३३६/२७, ३८, ५३, अ. ३४३/५३, ५९.

९. स्कन्द पुराण, वैष्णवखण्ड अ. ४/७,९,१७; मा. पु. ,अ. ५४/६, ७, अ. ५९/२४; हरिपु. सर्ग ५/६१४, सर्ग ८/१६१-१७०; मत्स्य पु. १२२/४९; अग्निपु. १०७/७; वा. पु. पूर्वखण्ड अ. ३/४६, अ. ११/३८, ३९; यो.वा.प्र. ३/स. ६३, १३३; ५६; कथा सरित्सागर ल. ३/तरंग ३/८

क्षीरसागर की पहचान कैस्पीयन सी से की गयी है मार्कोपोलो के समय में इसका पूर्वी भाग वाकूं शीर-वन के नाम से विख्यात था जो क्षीर का ही अपभ्रंश है— मार्कोपोलो पृ. ५९, यूल्स कृत । पादटिप्पणी, मेरु की पहचान रुद्र-हिमालय, हिन्दुकुश एवं पामीर पर्वत से की गयी है । (नन्द लाल डे—जीओग्राफीकल डिक्शनरी तथा जीओग्राफी आफ पुराणाज—सलीम अली, पृ. ५९) ।वस्तुतः श्वेतद्वीप कैस्पीयन सागर के उ. पूर्वी भाग, हिन्दुकुश पर्वत से पामीर पर्वत माला तथा आक्सन के मध्य में कहीं स्थित होना चाहिये, अफगानिस्तान की सीमाओं के पार्श्व सागडियना अथवा वैक्ट्रिया के आसपास ।

१०. अश्वतर कद्रु के वंशजों में एक थी जो कश्यप ऋषि की पत्नी थी । अश्वतर के समय नागों ने पाताल से चतुर्दिक विस्तार किया उन्होंने क्षीरसागर व रसातल तक विस्तार किया (महाभारत उद्यो.पर्व अ. ९९/१ १, अ. १०३/८-१६) । इसके नेतृत्व में नागों का विस्तार क्षीरोद, निषध और मेरु पर्वत पर हुआ । आगे चलकर इनका विस्तार कश्मीर एवं यमुना तट तक हुआ (शिवपु. स.सं.अ. १४/२, ६७-६९, अ. १८/५, ६; वायु. पु. अ. ४२) क्षीरसागर पर भी नागकुलों का विस्तार हुआ । हरिवंश पु. सर्ग ५/६४१-६४२, "डेरियस दारू-वाह 'के आक्रमण के एक पीढ़ी पहले नागों ने न्यूरियन जाति पर आक्रमण किया" (हेरोडोटस भाग १ अ.४).

११. मार्कण्डेय पु., अ. २०/६२-६३; आदि पर्व (महाभारत) ३५/८, १८/२१.

१२. पूर्वोक्त ३ के अन्तर्गत शि.पु.स. सं. १४/६७-६९, अ. १८/५६.

१३. सैन्धव संस्कृति में नागों द्वारा शैवोपासना के संकेत मिलते हैं (नागराज इन मगध, एल.वी.केनी, जे.बी.ओ.आर.एस.वा. २८) । मोहनजोदड़ो से प्राप्त फियाँस की पट्टिका पर एक देवता के समक्ष अर्धमानव आकृति झुकती दिखाई गयी है जिसके झुकाव को लपेटती हुई सर्पाकृति है (मोहनजोदड़ो एण्ड इण्ड्स सिविलाइजेशन भाग १, पृ. ६८ plx, cxvi, २४ मार्शल) । वस्तुतः यहाँ नाग प्रतीक है । अर्धमानव आकृति का सम्बन्ध नाग जाति से है, जिस देवता के समक्ष नाग झुकते हैं यह शिव हैं ।

सिन्धु-सभ्यता में योगीस्थ शिव एक प्रधान देवता थे। वैदिक रुद्र की उपासना भी नागों में प्रचलित थी शतरुद्रीय का गिरित्र, गिरिशन्त, उपाधि वाले पर्वत (शतरुद्रीय ३, वा.स. ३/६१), निवासी रुद्र का सम्बन्ध नागों से था विषहर्ता के रूप में वह नागों से सम्बद्ध है। (३९०६/९३/२, ११/२/२६) सागर, द्वीपों, वनों, घाटियों में पूजित (शतरुद्रीय अ. स. अ. १६) । पशुपतिरुद्र की धारणा उस क्षेत्र विशेष की ओर संकेत करती है जहाँ (रसातल, क्षीरसागर, श्वेतद्वीप, श्वेतपर्वत, मेरु, निषध पर्वत अश्वतर कुल निवास करते थे। अश्वतर स्वयं एक शिवभक्त था, परमतपस्वी था, ऋषि था अतएव उसके कुल में शैवोपासना की परम्परा रही होगी, जो श्वेतद्वीप, सप्तसिन्धु एवं गंगा तथा यमुना घाटी में लोकप्रिय हुई और विस्तृत हुई। यह अश्वतर गोत्र श्वेताश्वतर शाखा से सम्बन्धित है क्योंकि दोनों में शैवोपासना की परम्परा मिलती है। गंगा-यमुना घाटी में भारशिवों, नागों एवं उनके सम्बन्धी वाकाटकों में शैवोपासना की परम्परा थी। अभिलेखों के अनुसार वाकाटकों ने अपना राज्य शिव को समर्पित कर दिया था (वाकाटक अभिलेख,वी.मिराशी—वाकटकों का इतिहास)। वाकाटक सिक्कों और ताम्रपट्टों पर शैवोपासना के साक्ष्य प्राप्त होते हैं (भीटा और वाकाटकों की सीले. ग. (सील नं. १४, १६ -इन पर कालन्जर शिव का अंकन है — के.पी. जायसवाल जे.बी.ओ.आर. एस. ,वालूम १९(मथुरा, पदमावती, अयोध्या एवं मालवा में शैवापासना का प्रचार नागों द्वारा हुआ। (नागाज एण्ड नाग कल्ट - प्रोसीडिंग्स आफ दी इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, सेसन ३ कलकत्ता १९३३, पृ-. २२३)

१४. वायुपुराण, अ. २२/३-२०

१५. पूर्वोक्त, इसी लेख में, पृ.१ पाद टिप्पणी ३.

१६. पूर्वोक्त, इसी लेख में, प्रथम पृ. पाद टिप्पणी ३.

१७. पूर्वोक्त, इसी लेख में, प्रथम पृ. पाद टिप्पणी ३.

१८. लिङ्ग पु., प्रथम खण्ड अध्याय २१/२, ३.

१९. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६/२१.

२०. जाबालोपनिषद् ३ "अथ हैनं ब्रह्मचारिण उचुः। किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति।
स होवाच याज्ञवल्क्यः। शतरुद्रीयेणेति, एतानि ह वा
अमृतस्थ नाम धेयानि एतैर्ह वा अमृतो भवतीति।
एवमेवैतथा याज्ञवल्क्यः ॥३॥"

२१. शतरुद्रीय, वाजसनेयी संहिता अ. १६ एवं तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त है जो यजुर्वेद के अन्तर्गत है।

२२. पूर्वोक्त

२३. २/१६ मुइर कृत मूलसंस्कृत उद्धरण (अनु. रामकुमार राय) से उद्धृत पृ. ३६१

२४. श्वेताश्वतर उपनिषद् अ. ३/१-१४, अ. ४/२, ४, १०, १२, १९, अ. ५/१३, अ. ६/७, अ. २/१६, १६; अथर्व शिरस् २, ४, ५; पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्, १०,२६,३२; शरभापनिषद् ७/२१; नीलरुद्हृदयोपनिषद्, प्रथम एवं द्वितीय खण्ड।

२.

शतरुद्रीय और उसकी परम्परा

रचना, उद्देश्य एवं समय तथा स्वरूप

शतरुद्रीय नामक अध्याय कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता[१] और शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी (माध्यन्दिन) संहिता[२] में उपलब्ध होता है। यह पशुपति रुद्र की उपासना से सम्बद्ध है।[३] काठकों के चारायणीय सम्प्रदाय के आर्षाध्याय में इसका उल्लेख है।[४] शतपथ ब्राह्मण इसकी व्याख्या में इसके महत्व की ओर संकेत करते हुए इसके शान्त रुद्रीय अर्थ को स्पष्ट करता है जिसके त्रिविध कार्य—शान्तिक, पौष्टिक और अभिचारिक है। इनमें शान्तिक अनिष्ट निवारण अर्थ में प्रयुक्त है। किन्तु इस तथ्य की व्याख्या इस पुस्तक में दो रूपों में हुई है - प्रथम स्थल पर उल्लेख है कि उन लोगों ने (देवताओं ने) इसके (रुद्र) के लिये इस अन्न-शतरुद्रीय को एकत्र किया।[५] दूसरे स्थल पर उल्लेख है कि अन्न की इच्छा करते हुये रुद्र के लिये देवताओं द्वारा अन्न एकत्रित कर उसे शान्त करने के कारण इस शान्त देवता को शतरुद्रीय कहते हैं।[६] उपर्युक्त तथ्य में देवताओं द्वारा रुद्रोपासना की स्वीकृति अथवा वैदिक देवमंडल में रुद्र की श्रेष्ठता-स्वीकृति का संकेत है। वस्तुतः यहाँ रुद्र को एक सत्ता के रूप में स्वीकृत किया गया जो विश्वरूप है।[७] इसके संकलन की आवश्यकता धार्मिक विचार को तब पड़ी होगी जब रुद्र की उपासना और उसकी लोकप्रियता वैदिक जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय बन गयी होगी। आर्य मनीषा के दाशर्निक चिन्तन की शैशव अवस्था कोरुद्र की सार्वभौम धार्मिक अन्तर्दृष्टि ने काफी प्रभावित किया होगा।

शतरुद्रीय-परम्परा

शतरुद्रीय के रुद्र में अन्तर्विरोध नहीं अपितु अन्तर्लयन है। किसी आर्येतर देवता की वैदिक स्वीकृति नहीं है अपितु शतरुद्रीय का विश्वरूप पशुपति रुद्र[८] प्रारम्भिक आर्यों के, उन संघर्षों का—जो उन्होंने पर्वतों[९], नदियों, द्वीपों, घाटियों,[१०] वनों,[११] प्राकृतिक विपदाओं के बीच अपने प्रसार हेतु प्रयास किया था, तथा व्यवस्थित आर्य संस्कृति की गम्भीर होती हुई धार्मिक अन्तर्दृष्टि का अन्तर्लयन है, जो पूर्व की परम्पराओं में उन्हें मिले थे। इसीलिए समस्त जगत के बाह्यरूपों में वह विरूप एवं विश्वरूप है[१२] और अपने

आभ्यन्तर चिन्तन में उसे सत्ता का स्थान प्राप्त है। सम्भवतः इसका संकलन उस समय हुआ जब सप्तसिन्धु से गंगा-यमुना घाटी में एवं हिन्दुकुश के पार तक आर्यसंस्कृति व्यवस्थित हो रही थी और इन भू-खण्डों की धार्मिक परम्पराओं में रुद्रोपासना की प्रधानता थी।[१३]

इन अर्थों में शतरुद्रीय का रुद्र मात्र ऐश्वर्ययुक्त एक देवता नहीं अपितु एक सम्प्रदाय है, अपने पूर्व की परम्पराओं का संकलन है, जगत के आदि-मध्य और संहार रूप त्रिविध कार्यकारी सत्ता है,[१४], धार्मिक व्याख्या के अर्थ में दार्शनिक चिन्तन का प्रयास है, साहित्य में अपनी लोकप्रियता का संग्रह है। यहाँ उसकी उपासना मात्र लौकिक अर्थों में ही नहीं अपितु दार्शनिक अर्थों में भी है। संसार-बन्ध अथवा पाश से मुक्ति[१५] और मोक्ष उसके अनुग्रह से ही सम्भव है।[१६] जगत के हेतु रूप[१७], जगत में व्याप्त[१८] और अमृत रूप मोक्ष[१९] का इसमें प्रस्तुत विचार पशुपति रुद्र सम्बन्धी उस धार्मिक चिन्तन की पृष्ठभूमि है जो आगे चलकर श्वेताश्वतर[२०] उपनिषद् में सुस्पष्ट होता है। इस दृष्टिकोंण से श्वेताश्वतर उपनिषद् और शतरुद्रीय किसी एक ही सम्प्रदाय के विकसित होते हुए सोपान से दिखाई देते हैं। जबकि साक्ष्यों से यह तथ्य प्रमाणित है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् श्वेताश्वतर शाखा का है, अतएव शतरुद्रीय को भी इसी शाखा के अन्तर्गत होना चाहिए।[२१]

दार्शनिक एवं धार्मिक स्वरूप : पशुपति-रुद्र

शतरुद्रीय का उपास्य पशुपति-रुद्र विश्वरूप है[२२] वह समस्त प्राणियों का स्वामी, पालक अथवा और मुक्तिदाता है।[२३] वह मात्र प्राणियों का ही नहीं अपितु समस्त विश्व का हेतु और स्वामी है जो नानाविध रूपों मे प्रकट है - विश्वरूप है।[२४] मोक्षदाता के रूप में वह संसार-बन्ध अथवा पाशबन्ध (अज्ञान-बन्ध) से मुक्त करने वाला है, पार्थ रूप है।[२५]

उसकी असीम सत्ता पर विचार करने पर निर्णय होता है कि वह समस्त विश्व का आदि एवं कर्ता है अर्थात् कारणरूप है,[२६] माध्यरूप में देवतिर्यक आदि योनियों मे वही स्थित है संसार का स्वामी होने के कारण वह परमऐश्वर्य सम्पन्न सत्ता है,[२७] शुद्धस्वरूप है[२८] पार्थरूप में उत्कृष्ट ज्ञान, सम्पन्न है।[२९] ऋग्वेद में[३०] कहा गया है उसका यह बल कभी अलग नहीं होता, जगत के आदि में उसने ही जगत को हिरण्यगर्भरूप से उत्पन्न किया[३१], प्रलय काल में उसके कालाग्नि रूप में सब कुछ (जगत) समाहित हो जाता है[३२] वह सब कुछ अपने में हर लेता है। इस प्रकार वह सृष्टि, स्थिति और संहार इन त्रिविध कार्यों का स्वामी है क्योंकि वह अपनी शक्ति द्वारा ईशन् करता है, इसलिये वह ईशान है।[३३]

उसकी ईश्वर रूप अभिव्यक्ति भी है जो लीलार्थ है[३४]- इस प्रकार देवता-मूर्ति प्राधान्य से उसके निम्न रूप हैं-

१- पशुपति - रूप में वह प्राणिमात्र का स्वामी है ।[३५]

२- ईशान - रूप में वह जगत का भी स्वामी है उसमें परम ऐश्वर्य है ।[३६]

३- भव - रूप में वह समस्त जगत का हेतुरूप है अर्थात् उसी से सम्पूर्ण-भूत उत्पन्न है, उसी में धारण रहते हैं और अन्त में उसी में लीन होते हैं ।[३७]

४- शर्व-रूप में वह मोक्षदाता है अज्ञान-बन्ध-रूप पाश और पाप का नाश करने वाला है ।[३८]

५- उग्र ६- भीम रूप में वह सबका हनन करने में समर्थ है संहारकारी है ।[३९]

७- शिव- कल्याणकारी है मङ्गल और सुखदाता है ।[४०]

८- रुद्र दुःखहर्ता है सांसारिक दुःखों का नाश करने वाला है । अथर्ववेद,[४१] शत.ब्रा.[४२] एवं पुराणों उसके इन रूपों की चर्चा विस्तृत रूप से की गयी है । वह एक रुद्र एक ही है[४३] जिसने सर्वप्रथम वेदों को दिया,[४४] अपने कनिष्ठरूप में वह कार्यरूप जगत से असंपृक्त है ।[४५]

शतरुद्रीय के रुद्र का जगत से सम्बन्ध वह नहीं जो वैदिक देवमण्डल के किसी देवता का जगत से है, यहाँ पशुपति रुद्र मात्र उपासना के लिये आराध्य ही नहीं हैं और न तो वह केवल कर्मकाण्डीय जीवन से ही सम्बद्ध है ।

यहाँ पशुपति-रुद्र ही जगत का आदि-कारण अर्थात् उत्पत्तिकर्ता है वह इसका गोप्ता, स्थपति आनुपालक और संहारक है ।[४६] महान् ऐश्वर्युक्त है,[४७] ईशन्[४८] अर्थात् ईशान् करने वाला है, स्वामी है, वह महत् रूप[५०] है अपने असंख्य रूपों में अभिव्यक्त है ।[५१] उसका ईशन् बल कभी उससे अलग नहीं होता,[५२] इसी शक्ति के द्वारा उसने संसार का निर्माण एवं समस्त भूमण्डल का विस्तार किया ।[५३] वह स्थिति है[५४] अर्थात् पूर्व में उसने ही अपने को कल्पित कर विश्व रचना की ।[५५] सर्वप्रथम इस एक रुद्र ने ही अपने को हिरण्य-गर्भ रूप में प्रकट किया[५६] और नानाविध रूपों में प्रकट हुआ ।[५७] ज्येष्ठरूप में वह विद्यादि ऐश्वर्य से युक्त है ।[५८] वह वर्मी अर्थात् जगत् रूप में कञ्चकोपेत है,[५९] फिर कनिष्ठ और शिव रूप में[६०] निष्कल्मष है, विषय अथवा कार्यरूप जगत से असंपृक्त है ।

वह एक ही रुद्र-जीवरूप जगत में अभिव्यक्त है,[६१] सर्वव्याप्त है,[६२] वह पर्वतों, वृक्षों, वनों, नदी, सागर, द्वीपों, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, सभी दिशाओं, गुहाकन्दराओं अग्नि, जल, वायु, सूर्य, आकाश में व्याप्त है ।[६३] इस प्रकार वह जगत के समस्त क्रियाकलापों में

वर्तमान है, उनका स्वामी है ।[६४] ईश्वररूप में इन क्रियाकलापों का वह प्रेरयिता भी है, पुण्य-पाप-फल दाता है ।[६५] जगत रूप सभा का प्रधान है ।[६६]

पशुपति-रुद्र योगी-योगियों का आराध्य

ईश्वर रूप में पशुपति रुद्र की उपासना तो सामान्य जन में लोक-प्रिय थी किन्तु साधना के मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति एवं पाशबन्ध-मुक्ति तथा आराध्य से अनुग्रह प्राप्ति का विचार भी हमें प्राप्त होता है जो इस तथ्य का साक्ष्य है कि दार्शनिक चिन्तन के इस प्रारम्भिक प्रयास से पूर्व योगसाधना द्वारा पशुपति और ईश्वर अनुग्रह का विचार इस सम्प्रदाय में वर्तमान था । पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष में सर्वव्याप्त[६७] सभी जीवितों में अन्तस्थ, योगियों का प्रत्यक्ष,[६८] गुहाकन्दराओं में साधनारत,[६९] पशुपति रुद्र महायोगी था । ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय ऐसे विशिष्ट साधकों का वर्ग था जो योग द्वारा अनुग्रह प्राप्त कर उसके स्वरूप ज्ञान में प्रयासरत था । सायण ने रुद्र के लिए प्रयुक्त "विलोहितः"[७०] उपाधि में योग पद्धति का संकेत किया है । पशुपति रुद्र को कपर्दी एवं व्युप्तकेश[७१] कहा गया । सायण ने इसका अर्थ जटाजूटधारी एवं मुण्डितकेश साधक से किया है । आगे चलकर यह पद्धति पाशुपतों में स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है ।[७२] एक अन्य स्थल पर प्रत्युक्त "पुलस्तये" उपाधि में सर्वान्तर्यामी रूप निहित है । उसके अनुग्रह एवं प्रसाद के फलस्वरूप पाशुमुक्ति का विचार वाजसनेयी संहिता में[७३] उपलब्ध होता है । इस प्रकार पशुपति रुद्र त्रिशूलधारी मृगचर्मधारी, एवं कृत्तिवासा[७४] रूप में एक महायोगी हैं, अज्ञानपाश का नाश करने वाला और मोक्षस्वरूप है ।[७५] इसलिये योगीजन पशुपति का हृदय में सन्धान करते हैं,[७६] अपने मन को उसमें टिकाते हैं[७७] इस योग विधि का उल्लेख अथर्ववेद[७८] में एक प्रक्रिया अथवा विधि के रूप में हुआ है ।

मोक्षदाता पशुपति -रुद्र

मोक्ष अथवा-बन्ध-मुक्ति उसके ही अनुग्रह से सम्भव है, जीवरूप पशु के स्वामी होने के कारण वह पाश का भी स्वामी है इससे मुक्त करने वाला है ।[७९] यहां मोक्ष का अर्थ नानाविध दुःखों से मुक्ति है, अज्ञान-पाश एवं संसार-बन्ध से मुक्त होकर अमृतत्व की प्राप्ति है ।[८०] उसे सुख देने वाला कहा गया, वह कल्याणकारी शुद्ध स्वरूप और निष्कल्मष है, वह पुण्य, पापानुसार फल देने वाला भी है । समस्त दुःखों का नाशक है, अज्ञान नाशक के रूप में वह उत्कृष्ट ज्ञान सम्पन्न है ।[८१]

धार्मिक स्वरूप

समस्त जगत के आभ्यन्तर उसी की सत्ता हैं, आर्य मनीषा ने उसे अपने जीवन के धार्मिक परिवेश में सर्वाधिक निकटतम महसूस किया है । इसीलिये वह लौकिक जीवन की अच्छाई-बुराई, विरूप, विश्वरूप है ।[८२] वह केवल प्राणि मात्र की आत्मा में ही नहीं

अपितु प्रकृति के कल्याणमय सौन्दर्य और उसके भयंकर रूपों में भी उनका प्रतिनिधित्व करता है। वह मात्र दार्शनिक चिन्तन का विषय ही नहीं रह जाता अपितु जीवन की जीवन्तता को बनाये रखने में सहयोग करता है। प्रकृति के विकराल रूपों और जीवन के विभिन्न पहलुओं में वह विश्वात्मा सतत् संघर्षशील है इसीलिये धार्मिक विश्वासों में उसे लक्षणाओं द्वारा विभिन्न उपाधियों से संयुक्त किया गया। चूंकि वह समस्त जगत में व्याप्त है इसीलिये वह उन भिन्न रूपों में भी अवस्थित है।[८३] यथा उसकी सौम्य, अघोर शान्त-निर्विकार मूर्ति सुखदात्री है। शंभवाय शिवाय और शिवतराय है।[८४] वह पाप को दूर करने वाला है, सुख दाता है, दुःखों और बाधाओं का नाश करने वाला है,[८५] भिषक् है[८६] विषहर्ता रूप में वह नीलकण्ठ[८७] है, अपने सात्विक रूप में वह श्वेत है।[८८] शिपिविष्ठ अर्थात् सभी प्राणियों के अन्तःस्थल में वर्तमान है।[८९] पर्वतों से वृष्टि आदि द्वारा अन्न रूप सुख दाता है इन्द्ररूप है।[९०] वह उन सभी लोगों का श्रद्धेय है, आराध्य है जो उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं जो उनकी उपासना करते हैं चाहे वे किसी व्यावसाय समूह, अथवा वर्ग में हों वह उनके तद् -तद् रूपों में अनुग्रह करता है उनके जीवन कर्म को सार्थक बनाता है। यथा—रथकार, कर्मकार, कुम्हार और शिल्पियों में वह उनकी कलारूप कर्म का प्रेरयिता है।[९१] उसका रौद्र एवं शस्त्रधारी वीर रूप युद्ध काल में सेनाओं और वीरों में साहस भर देता है, इसलिये वह सेना-सेनानी एवं प्रधान सेनापति रूप है,[९२] किरातों,[९३] व्रात्यो-गणो-समूहों,[९४] पशुओं, प्रकृति के समस्त क्रियाकलापों, शस्त्रोपजीवियों, अप्रकाशित कर्मजीवियों में भी वह पूजित है,[९५] क्योंकि वह तो प्राणिमात्र में अन्तःस्थ है इसलिये वह स्तेनादि कर्मजीवियों के पापकर्मों का मात्र द्रष्टा नहीं है अपितु उनके पापों को क्षय करने वाला है, उनका भी स्वामी है। यहां इन लौकिक शब्दों का प्रयोग पापक्षय हेतु लक्षणारूप में व्यवहृत है।[९६] इस प्रकार वह जगत रूप सभा का अधिपति है चूंकि जगत उसी की सृष्टि है इसीलिये वह सभारूप भी है।[९७]

वस्तुतः शतरुद्रीय में रुद्र के सन्दर्भ में यह विवेचन उस एक शान्त की अनन्त अभिव्यक्ति के रूप में है जो नाम उपाधि से युक्त आर्यमनीषा के सरल धार्मिक विचार-रूप में प्रस्तुत है। दूसरी ओर वैदिक धार्मिक चिन्तन के दार्शनिक अग्रनिरूपण के समय में इसकी रचना होने के कारण विचारधारा में पशुपतिरुद्र की सत्ता जगत के सृष्टि-स्थिति और संहार के स्वामित्व के साथ ब्रह्म के पद पर प्रतिष्ठित होती दीख पड़ती है अपने धार्मिक स्वरूप में वह उस विशिष्ट सम्प्रदाय की ओर संकेत करती है जो दार्शनिक चिन्तन अथवा धार्मिक विचारधारा में एक विशिष्ट पद्धति अथवा एक नवीन धार्मिक स्वरूप की

आधारशिला रखने का प्रयास कर रहा था। परम्परा में यह उस धार्मिक विकास और उपासना पद्धति का परिचय देती है जिसकी धारा श्वेताश्वतर उपनिषद् में अपना स्वरूप स्पष्ट कर सकी।

सन्दर्भ

१. तैत्तिरीय संहिता (चरणव्यूह सूत्र में कृष्ण यजुर्वेद की शाखा के रूप में उल्लेख है)।
२. शुक्ल यजुर्वेद -वाजसनेयी संहिता, अ. १६.
३. शतरुद्रीय २८, "नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शिवाय च पशुपतये च।"
४ २/१७ मूल संस्कृत उद्धरण भाग ४ (जे.मुइर कृत) पृ. ३६१ से उद्धृत।
४. काठक सं., आर्षाध्याय
५. शत. ब्रा. ९/१/१-७
६. शत. ब्रा. ९/१/१, १, १
७. शत. २५/—– विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः ॥
८. शत. २, ३, ४, २२, २९
९. शत. ७
१०. शत. ३७
११. शत १८, २४
१२. शत. २५
१३. शत. २५, २६, २७, २८, ३४, ३५
१४. शत. १८, २५, ४२, ३२
१५. शत. २८, ४१
१६. वा. स. ३/६०
१७. शत. १८
१८. शत. १; ते. सं. सायण भाष्य, ४/अ. ५/अ.३.
१९. जाबालोपनिषद् ३.,
२०. श्वेता. उ., ६.२१
२१. पूर्वोक्त, १
२२. शत., २५
२३. शत. ४०, ४२
२४. शत. २५, ५२, ५४
२५. वा. सं. ३/६०, ४२
२६. शत. ३२ सायण भाष्य
२७. वही
२८. तै. सं. सायण भाष्य

२९. शत. ५२
३०. शत. ४२
३१. ऋ., २/३३/९
३२. शत. ३२
३३. शत. २, ३, ५, २४, ४०, ४५
३४. शत. ५३
३५. तै. सं. , अनु. २ का सायण भाष्य
३६. शत. १८, २८, ४०; तै. सं. सायण भाष्य
३७. शत. ५३ अ. २/३३/३, २/३३/९
३८. शत २८; तै.उ. बल्ली ३-१
३९. शत. ४१, ४२, २८
४०. शत. ४०
४१. शत. ४०
४२. अथर्व.वे. २/३४/१, ४/२८/१, ६/९३/२, ७/८/१७,, १८, ९/७/७, ११/२/१, २, ३, १५/५/२,, १५/८/९
४३. शत. ब्रा. ६/१-८; कौ. दश. ६/१; शा. ब्रा. ६/१
४४. शत. १-सायण भाष्य २५-शत. ब्रा. ५, ४०, २५-३२ सायण भाष्य
४५. शत. ३२; तै. सं. सायण भाष्य
४६. शत. ९
४७. शत. ५३
४८. शत. २६
४९. तै. सं. सायण भाष्य
५०. अ. २/३३/३, ९
५१. शत. १९
५२. शत. १९; तै. सं. सायण भाष्य
५३. शत. १९; तै. सं. सायण भाष्य
५४. शत. ३२
५५. शत १८
५६. शत. ३२; तै. स. सायण भाष्य
५७. शत. ३५; तै. सं. सायण भाष्य
५८. शत. ३२, ४१
५९. शत. १; तै. स. सायण भाष्य का. ४/अ. ५/अनु. ३/पृ. ५२३
६०. शत. २८, अ. शत. २, ३, ४, /व-४०, स-३४, द-५५, य-१९, र-५२, ख-५४; ६५ द-४४, श. १७

६१. अर्थ.वे, ८/८७/१, ९/७/७, शत. ६, ५५, ५६, ६५
६२. पूर्वोक्त
६३. शत. ३२
६४. शत. २४
६५. शत. ५२, ५४
६६. शत. ४६, ५९
६७. शत. ५१
६८. शत. ५२, तै. सं. पृ. ५५० "अत एवाष्टा क्षरध्याने स्मरन्ति" काञ्चनाभो ध्येयः-पद्मासनस्य इति भावः भावान् षड्गुणसम्पन्नः।
६९. शत. २९
७०. षड्दर्शन समुच्चय
७१. शत. ४३
७२. वाज. सं. ३/६०
७३. अ. शत. ५१
७४. शत. ४१
७५. वा. स. ३९/८ "हृदयाग्रेण पशुपति कृत्स्नहृदयेन भवं कला।"
७६. ऋ. ८/१३/२० "तदिदं रुद्रस्य चेतति यह्वं प्रयत्नेषु धामसु मनो मत्रा वि तद् दधर्विचेत सः॥"
७७. अथर्व. वे., ६/९०,
१, २, ३, एवम् ६/९१/१
"यां. ते. रुद्र ईष्मास्यदऽ गैभ्यो हृदयाय च।
..........यस्ति शतं धमर्नयोऽङ्गान्मन, विष्ठिता।
तामौ ते सर्वासां वयं निर्विषाणि हृदयामसे।
नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै।
७८. शत. २८, ४१, ५२; वा. स. ३/६०
७९. जाबालोपनिषद् ३ " अथ हैवं ब्रह्मचारिण उचु;। कि जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यैः। शतरुद्रियेणेति एतांनि ह वा अमृतस्थे नामधेयानि एतैह वा अमृतो भवतीति। एवमेवैतद्या याज्ञवल्क्यः ॥३॥
८०. शत. २८, ४१, ४२, ३२, ५२
८१. शत. २५
८२. तै. सं. सायणभाष्य का. ४/अ. ५/अनु. ३ "यद्वा (यछा) तस्य सर्वजगदात्मत्वात् ये तत्र यथा वर्तन्ते, तेषु तत्र रुद्र एव तद्रूपेण वर्तन्ते (युक्तः)।
८३. शत. २, ४०, ४१, ५१
८४. शत. २८, ४१

८५. शत. ५
८६. शत. ७
८७. शत. २८
८८. शत. ४८
८९. शत. २, ८, १८
९०. शत. २७
९१. शत. २६
९२. शत. २८
९३. शत. २५
९४. शत. २०, २१
९५. तै. सं. सायण भाष्य "जीवरूपेणानेश्वर रूपेण च, चत्र पज्जीवरूपं तत् स्तेनादि शब्दानां वाच्योऽर्थः - स एव शास्त्रेषु निन्द्य, यत्तईश्वररूपं तत्तुस्तेनादि शब्दै-रूप लक्ष्यते, तदनुसन्धान्तु पापक्षय हेतुत्वेन परमपुरूषार्थ इति, लक्ष्यार्थ विवक्षणा मन्त्रेषु लौकिकाः शब्दाः प्रत्युज्यन्ते इति द्रष्टव्यं ।"
९६. शत. २४

३.

पाशुपतागम के संस्थापक

प्रथम पाशुपतयोगावतार श्वेताश्वतर एवं उनकी परम्परा

पाशुपतों की श्वेताश्वतर शाखा के अन्तर्गत शैवोपासक परम्परा प्रस्फुटित होने के बाद - उसके कुछ दार्शनिक तत्व श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होते हैं। इसका श्रेय उपनिषद्कार पाशुपत (योगावतार) शैवाचार्य सम्भवतः श्वेताश्वतर ऋषि को है।[१] जिनका आश्रम पुराणों में विहित अनुश्रुति के अनुसार हिमालय की पीठ पर मन्दाकिनी नदी के किनारे धर्मवन में स्थित था।[२] मन्दाकिनी-गंगा[३] के किनारे का यह धर्मवन[४] केदारनाथ चोटी जहां अमरेश्वर (शिव) का ज्योतिर्लिङ्ग है (यह रुद्रप्रयाग के मध्य के केदारक्षेत्र में ही होना चाहिये)।

श्वेताश्वतर की शिष्य-परम्परा

श्वेताश्वतर ने जिस पाशुपत-शैव-परम्परा की आधारशिला रखी उस परम्परा में उनके शिष्यों के भी पुराणों में उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनके नाम क्रमशः श्वेत से श्वेतशिख, श्वेताश्व और श्वेतलोहित थें।[५] उनकी इस शिष्य-परम्परा की पुष्टि श्वेताश्वतर उपनिषद् से भी होती है।[६]

श्वेताश्वतर उपनिषद् एवं श्वेत के धार्मिक-दार्शनिक उपदेश

परम्परा का प्रथम ज्ञात आचार्य होने के कारण शैवोपासना की स्थापना हेतु श्वेताश्वतर ने न केवल शतरुद्रीय के विश्वरूप पशुपति रुद्र की धार्मिक सर्वोच्चता को प्रतिष्ठित किया अपितु औपनिषदिक युग के सम-सामयिक दार्शनिक-सम्प्रदायों की असफलता की ओर भी संकेत किया।

कारणभूत सत्ता ब्रह्म जगत जिससे उत्पन्न है, जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है, जिसके द्वारा प्रेरित होकर हम व्यवस्था का अनुवर्तन करते हैं, कौन है?[७] तत्कालीन धर्म-दर्शन में यह एक ज्वलन्त प्रश्न था। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष अथवा इन संयोग।[८] परन्तु काल[९] की सत्ता पदार्थों के स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकेगी, और स्वभाव[१०] जो नियत के अधीन है फिर नियति व स्वभाव[११]

वह तो अव्यवस्थित है अस्थिर है । फ-चमहाभूत[१२] इससे तो प्रकृति ही कारण प्रतीत होती है और प्रकृति जड़ पदार्थों के कारण स्वतन्त्र कार्य सम्पादन में अक्षम है । पुरुष[१३] भी तो कालादि की सहायता के बिना असमर्थ है । इनका संयोग भी शेषी आत्मा के अधीन होने के कारण त्रिविध कार्य में अक्षम है[१४] तथा जीवात्मा भी सुख-दुःख के अधीन है ।[१५] इस दार्शनिक समस्या का समाधान श्वेताश्वतर ने धार्मिक अन्तर्दृष्टि से किया है ।[१६] पाशुपत साधना से ब्रह्म का साक्षात्कार[१७] युग की एक सामान्य घटना नहीं थी अपितु यही एकमात्र मार्ग[१८] निर्धारित कर श्वेताश्वतर ने पाशुपतों की इस परम्परा की एक आधारशिला रखी । इसीलिए इस परम्परा में उनका स्थान एक संस्थापक का है[१९] और वे प्रथम योगावतार माने जाते हैं[२०] इस एकमात्र मार्ग का ही अनुसरण कर उन्होंने[२१], अपने गुणों से आच्छादित[२२] उस परमात्मा[२३] का अधिष्ठान किया जो अकेले ही कालादि पर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठान है ।[२४] यह कारण रूप ब्रह्म एकमात्र पशुपति-रुद्र ही थे[२५] अन्य कोई नहीं ।[२६] जो सर्वश्रेष्ठ आश्रय[२७] और विश्वरूप है[२८], जिसकी उपासना की एक वैदिक-परम्परा विद्यमान थी ।[२९]

सन्दर्भ

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् एवं द्रष्टव्य पूर्व अध्याय १.

२. कूर्मपुराण १ अ. १४/२६, २७, २८; मत्स्यपुराण अ. १२१/४ मन्दाकिनि को कैलासपर्वत के पार्श्व मन्दोदक नामक सर से निकलने वाली नदी कहा गया है । महा. भा. उद्योगपर्व खण्ड ३ अ. ११/११, १२, भीष्मपर्व अ. १०/३६ में मन्दाकिनी को गंगा की एक धारा कहा गया है ।; योग वा. सर्ग ४ प्रकरण १/३; संस्कृत टैक्ट्स आफ बाली २०/१०२ में इसे सुरदेवी कहा गया है । बाणराजा की मन्डूयानुर प्लेट मल्लदेव नन्दि-वर्मन (३३९ ई.) में भी इसे हिमालय की नदी कहा गया है ।

३. वस्तुतः मन्दाकिनी नदी गंगा की स्रोत नदी है जो केदारनाथ मंदिर के पास छोरावारी पर्वतखण्ड (इसकी पहचान वा. पु. ६१/२४, सनत्कुमार सं. अ. १३/८ के छागलपर्वत या छागलाङ्ग से की जा सकती है) से निकल कर केदार नाथ चोटी से (६९५० मीटर) गिरती हुई नदी का रूप लेती है और रुद्र प्रयाग में अलकनन्दा की धारा से मिलकर आगे गंगा की धारा बनाती है (माउन्टेन एण्ड रीवर्स आफ इण्डिया पृ. ३६२, ३६९; सोर्सरीवर्स आफ दी गंगा - ए.सी. बोस ; रीवर्स इन इण्डिया इन एन्शिएण्ट लिटरेचर-बी.सी. ला. पृ. १९९ - इण्टरनेशनल जीओग्राफीकल कांग्रेस आफ इण्डिया २१, १९६०; नन्दू लाल डे ने इसकी पहचान आगे कालीगंगा से भी का है (जीओग्राफीकल डिक्शनरी) ।

४. भारत में अनेक वन धर्मारण्य के नाम से विख्यात थे । प्रथम धर्मारण्य गया तीर्थ में था —म. भा., वनपर्व अ. ८४/८२, ८३, ८४, ८५; वायु पुराण, १०६/७८,८१; गरुड़ पु. अ. ८३; वृ. सं. अ. १४.

द्वितीय धर्मारण्य मध्यप्रदेश या पश्चिम देश में था— म. भा. वनपर्व अ. ८२/४२, ४६; स्कन्द पुराण अ. ५८/४; रामायण आदि ३२.

कूर्म पु. प्रथम अ. १४/२६, २७, २८ में उल्लिखित धर्मारण्य हिमालय केदार क्षेत्रान्तर्गत धर्मवन ही है जो मन्दाकिनी या मालिनी के आसपास था (जीओग्राफिकल डिक्शनरी-नन्दुलाल डे पृ. १२२; अभिज्ञान शाकुन्तलम् अ. ३/५, अंक १, धर्मारण्य में ही कण्वाश्रम था, दुष्यन्त-अनुसूया के संवाद में धर्मारण्य का उल्लेख है । इसे पाञ्चाल व उत्तर कोशल के बाद ही हिमालय क्षेत्र में होना चाहिये (ए नोट आफ दी एशिएण्ट जीओग्राफी आफ एशिया, कम्पाइल्ड फ्राम बाल्मीकि रामायण—एन.सी.दास); योग वा. प्रथम सर्ग ३७/७ में यह कुरु-पाञ्चाल के उपरान्त निर्देशित है। योगिनीतंत्र में कुरुक्षेत्र और अयोध्यारण्यक के उपरान्त (उत्तरभाग प.-. २४३/२४, २५, २६; वामन पु. ५७/३५ में नैमिषारण्योपरान्त, पद्मपुराण स्वर्ग खण्ड ६, ५, ७ में धर्मारण्य में आगस्त्य आश्रम बताया गया है - जो केदारखण्ड में स्थित था, शिलेश्वर महादेव की प्रतिमा के पास ही अगस्त्य आश्रम है, यहाँ अगस्त्यपुरी एक गाँव भी है (रिलीजन इन हिमालयन-डिस्ट्रिक्स, पृ. १०८/१०९; धर्मारण्य के आसपास ही कालाँजर पर्वत था । (वायु. पु. अ. २१) जिसकी पहचान रुद्रप्रयाग के कालापहाड़ से की जा सकती है । (रिलीजन इन हिमालयाज, -पृ. ७७, १९७६; आटकिंसन ने धर्मवन की पहचान केदारक्षेत्र के धर्मेश्वर अथवा अमरवन से की है जो जगेश्वर शिव के रूप में प्रसिद्ध है यह अमरेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग के ही सन्निकट है । (हिमालय डिस्ट्रिक्स, रिलीजन इन हिमालयाज) हिमालयन गजेटियर । प्राचीन काल से ही मन्दाकिनी उपत्यका में रुद्रप्रयाग से लेकर रुद्रनाथ आदि सम्पूर्ण केदारक्षेत्र में पाशुपत-शैवोपासना की परम्परा के साक्ष्य प्राप्त होते हैं । रुद्रप्रयाग के अन्तर्गत मुखारविन्द शिव नेपाल के स्वयंभू पशुपति-शिव की परम्परा से सम्बन्धित है (रिलीजन इन हिमालयाज-आटकिंशन पृ. ७७); मन्दाकिनी गुप्त काशी संगम पर महामहेश्वर, सोर परगना मधरोला में गोकर्णेश्वर (पृ. ८३) रोली में नीलकंठेश्वर, कुमाऊं में धर्मारम्य के सन्निकट का अगस्त्याश्रम (पृ. १०९) व केदारनाथ का अमरेश्वर अथवामृत्युञ्जय और जगेश्वर लिङ्ग विख्यात है (सनत्कुमार सं. अ. ३१५, ६, ७, १० में गोकर्ण, रुद्रकोटि, स्थलेश्वर, ईशान, रुद्र व कालन्जर शिव के स्थान के रूप उल्लिखत है) तन्त्रालोक अष्टमाह्निक श्लोक २२७ उद्धरण स्व. १०/८८९ व वा. पु. ६१/२४ के छागलेश्वर शिव, स्वरूप पु. केदार खण्ड । माहेश्वर खण्ड अ. ७/३० के "केदार मृत्युलोके तथैव अमरेश्वर" शिव की परम्परा शतरुद्रीय के पशुपति शिव की

परम्परा के ही अन्तर्गत है। "रफ नोट्स आन सम एन्शिएण्ट स्कल्पचरिंग आन दी रावस्स इन कुमाऊँ " में करनोक ने लिखा है "केदार क्षेत्र में शिवलिङ्ग के उपासक शैवों की पूजा-पद्धति का बाहुल्य रहा है मन्दिरों में ही नहीं उनके बाहर उपत्यकाओं एवं सरिता तटों पर सर्वत्र योनि और ३६० लिङ्गाकार शिलाओं का बाहुल्य है यहाँ जितने कंकर उतने शंकर थे।

५. वायवीय संहिता, उ. भाग अ. १०/८.
कूर्मपुराण भाग १/अ. १४/४०-४१;
वायुपुराण अ. २३/१०८, १०९
विशुद्धमुनिवृत्त आत्मसमर्पण में भी श्वेताश्वतर की शिष्य परम्परा का संकेत है (१-१३) भासर्वज्ञ की गणकारिका - सी.डी. दलाल।

६. श्वेताश्वर उपनिषद्, मङ्गलाचरण "ॐ सह नाव वतु" शाङ्करभाष्य (शान्तिपाठ) प्रथमाध्याय में श्वेताश्वतर व उनके शिष्यों की ओर संकेत है।
अ० ६/२१, २२
"तपः प्रभावाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्मह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान।
अत्याश्रमिभ्यः परम पवित्र प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्।
"वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं ना पुत्रायशिष्याय वा पुनः ॥वही., २२

७. श्वेताश्वतर उपनिषद्, अ. १/१
कि कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवामः केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्म विदोव्यस्थाम्; ॥१॥
अंशतः यह प्रश्न - वृ. २/१, १, कौ. उ. ३/८;
छान्दोग्य ५/११/१ में प्राप्त होता है।
तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगबल्ली में यह प्रश्न सकारात्मक रूप से उठाया गया है यथा-
"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रत्यन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ॥
शाङ्कर भाष्य में स्पष्ट किया गया है।
"ब्रह्मवादिनो ब्रह्मवदनशीलाः सर्वे संभूय वदन्ति-
किं कारण ब्रह्म किमिति स्वरूपविषयोऽयं प्रश्नः ॥....
अथवा किं कारण ब्रह्म सिद्धिरूपं उपादानभूतं किमित्यर्थः ॥-श्वेता., अ. १.१

८. श्वेताश्वतर उपनिषद्, अ. १/२

९. श्वेताश्वतर उपनिषद् शाङ्करभाष्य "कालः स्वभाव इति। योनि शब्द संबध्यते। कालो योनिः कारणं स्यात् कालोनामसर्वभूतानां विपरिणाम हेतु स्वभावः।

१०. श्वेताश्वर "स्वभावो नाम पदार्थानां प्रति नियता शक्ति।"

११. श्वेताश्वतर "नियतिरविषमपुण्य पाप लक्षणम्" (जिनका फल कभी विपरीत नहीं होता) "यदृच्छाकस्मिको प्राप्ति" ।
१२. पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश आदि पञ्चमहाभूत ।
१३. पुरुषो वा विज्ञानात्मा ।
१४. श्वेता., शाङ्करभाष्य अ. १/२
"न च प्रत्येक कालादीनां कारणत्वं संभवति, दृष्ट विरुद्धत्वात्, देशकाल निमित्तानां सहतामेव लोके कार्यकारणत्वदर्शनात् न - चाप्येषां कालादीनां संयोग समूह कारणम् । समूहस्य सहते पदार्थत्वेन शेषत्वेन शेषिण आत्मनो विद्यमानत्वाद् स्वतन्त्रासृष्टि स्थिति प्रलय नियमलक्षणकार्यकारणत्वायोगात् ।"
१५. श्वेता. शाङ्कर भाष्य "आत्माजीवोप्यनीशोऽस्वतंत्रो न कारणम् अस्वातायादेव चात्मनोऽपि सृष्टयादि हेतुत्वं न संभवतीत्यर्थ..... सुख-दुःखादि हेतु भूतस्याऽध्यात्मिकादि भेदभिन्नस्थ- जगतोऽनीशो न कारणम् ॥२ ॥
"क्योंकि जो अध्यात्मकादि भेदोंवाला जगत आत्मा के बन्धन और दुःख का कारण है उसको वह स्वातन्त्र्य होने पर रचेगा ही क्यों ?
१६. श्वेताश्वतर उपनिषद् अ. १/३ "ते ध्यानयोगानुगत अपश्यन्........ ।"
श्वेताश्वतर उपनिषद् अ. ६/२१ "तपःप्रभावाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्मःश्वेताश्वतरोऽथ विद्धान";
कूर्म पुराण अ. १४/३८; लिड्ग पुराण अ. २१/२; शिवपुराण, वायवीय संहिता पूर्व भाग अ. ४७/७१-७२-७३.
१७. श्वेताश्वतर उपनिषद् वही
१८. श्वेताश्वतर अ. ६/१५ "नान्यं पन्था विद्यतेऽयनाय" ।
१९. श्रीकंठ भाष्य ।४। मङ्गलाचरण

नमश्वेताभिधानाय नानागम विधायिने ।
वैकल्यकल्पतरवे कल्याणगुरवे नमः ॥४ ॥

२०. पूर्व द्रष्ट. इसी अध्याय में ।
२१. श्वेता. उपनिषद् अ. १/३ अ. ६/२१.
२२. श्वेता. उपनिषद् अ. १/३ शाङ्करभाष्य स्वगुणैरीश्वरगुणैः सर्वज्ञत्वादिभिर्वा सत्वादिर्निगूढ़ा स्वगुणैः सत्वरजस्तमोभिः ।
२३. श्वेता. उपनिषद् देवात्मशक्ति-देवात्मनेश्वररूपेणावस्थिता शक्तिम् । शाङ्कर भाष्य ।
२४. श्वेता. अ. १/३

२५. श्वेता. उ. अ. ६/५, ४/१, ६/११, ३/२. यहाँ शतरुद्रीय के पशुपति रुद्र की सत्ता का परम्परागत विकास दृष्टव्य है जो शतरुद्रीय१, म. भाष्य एको रुद्रदेवता, १८ - "भवस्य हेत्वे जगता पत्ये", तै. सं. १-८-६-१ में प्राप्त होती है ।

२६. श्वेताश्वतर उ. , ३/२, ४.

२७. श्वेताश्वतर उ., ४/११, १२, अ. ५/.६

२८. श्वेता. अ. ६/५ "शतरुद्रीय के विश्वरूप" पशुपति ।

२९. श्वेता. अ. ४/८, ९, १०; वायवीय संहिता अ. ४/५ .

४.

पाशुपतागम का अभ्युदय और पाञ्चरात्रागम

हमें यह ज्ञात है कि पाञ्चरात्रों का सम्बन्ध यजुर्वेद की एकायन शाखा से था।[१] इसी तरह पाशुपतों की श्वेताश्वतर शाखा भी कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित थी।[२] वस्तुत: दोनों ही सम्प्रदायों का विकास हमें एक आगमिक परिवेश में दिखाई देता है जिनमें भक्ति की परम्पराएं भी निहित थीं। इस सन्दर्भ में हम श्वेतद्वीप[३] विशेष रूप से करना चाहेंगे क्योंकि पाञ्चरात्रागम एवं श्वेताश्वनर शाखा एक लम्बे समय तक श्वेतद्वीप[४] में ही लोकप्रिय रही तथा भक्ति की परम्परा का एक विशिष्ट परिवेश भी यहीं निर्मित होता दिखाई देता है।[५]'इसका उदयकाल क्या था? स्पष्ट रूप से अभी नहीं कहा जा सकता था परन्तु यजुर्वेद के अन्तिम काल में इसके साक्ष्य अवश्य प्राप्त होने लगते हैं।[६] पाञ्चरात्रागम में श्वेतद्वीप में नारद द्वारा विष्णु की भक्ति, एवं विष्णु द्वारा नारद को पान्चरात्र-रहस्य के उपदेश का विवरण उपलब्ध होता है। आगे चलकर वैष्णवागम के द्वितीय आचार्य शाण्डिल्य[७] के सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाओं से विदित होता है कि पान्चरात्रों का सम्बन्ध इस नूतन परिवेश के परिप्रेक्ष्य में - वैदिक परम्परा से ही था तथा शाण्डिल्य का सम्बन्ध पाञ्चरात्रागम की उस भक्ति-परम्परा से था जिसके दूसरे आचार्य के रूप में उन्हें स्मरण किया गया है[८] और जिस परम्परा के प्रणयन का श्रेय नारद को है।[९]

पाशुपत-परम्परा में शतरुद्रीय एवं श्वेतद्वीप में प्रचलित श्वेताश्वतर शाखा के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए यह तथ्य पूर्व में स्पष्ट हो गया है कि दोनों शिवोपासना की एक ही धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।[१०] वास्तव में शतरुद्रीय पशुपतिरुद्रोपासना को लेकर भक्ति आन्दोलन के रूप में उभरती हुई[११] अपनी विशाल परम्पराओं में अपना एक विशिष्ट कलेवर निर्मित करती दिखाई देती हैं। इस सन्दर्भ में उसके प्राचीन आगमिक परिवेश की ओर भी ध्यान देना होगा - ओंकारोपासना एवं पञ्चाक्षरी मन्त्र- शैवशास्त्र में बहुत बाद तक लोकप्रिय रहे।[१२]

इसीलिए शतरुद्रीय को सबसे प्राचीन पाशुपतागम के रूप रखना होगा - पाञ्चरात्रों के ही समान । किन्तु यजुर्वेद के काल में ही निर्मित होते हुए - इस आगमिक परिवेश का प्रभाव वेद की शाखाओं,[१३] ब्राह्मणों,[१४] आरण्यकों[१५] एवं उपनिषदों[१६] पर पड़ा और अन्त में श्वेताश्वतर में इसी धारा की प्रतिष्ठा होती दिखाई पड़ती है ।[१७] श्वेताश्वतर ने शतरुद्रीय के मृत्युञ्जय मन्त्र का स्तवन ही नहीं किया[१८] अपितु यजुर्वेद एवं शतरुद्रीय से अपने विचार भी ग्रहण किये । उदाहरणार्थ श्वेताश्वतर के द्वितीय अध्याय में विवेचित योग सम्बन्धी विचार और सविता से प्रार्थनाएं वाजसनेयि संहिता के अग्नि चयन मन्त्रों से यथावत ग्रहण की गयी हैं ।[१९] इसी प्रकार परमेश्वर से विराट रचन, पशुपति रुद्र का स्वरूप, उसका विराट स्वरूप, उसका सर्वरूप, उसके साक्षात्कार का अनुभव, जगत के हेतुरूप रुद्र एवं उनका आह्वान, स्तवन अग्नि एवं हंस रूप, अद्वितीय ब्रह्म पशुपति रुद्र के सम्बन्ध में व्यक्त विचार यजुर्वेद से ही ग्रहण किया गया है ।[२०]

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों सम्प्रदायों के आगमिक परिवेश को प्रेरणा कहां से प्राप्त हुई ? पाशुपतों ने इस सन्दर्भ में पुरुष सूक्त से ही प्रेरणा ग्रहण किया ।[२१] पाञ्चरात्रों ने भी यहीं से प्रेरणा ग्रहण किया । यदि पुरुष सूक्त पर विचार किया जाये तो कहना होगा कि वे ऋग्वैदिक जीवन के एक विशिष्ट सामाजिक-धार्मिक परिवेश में लिखे गये । साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि पुरुषसूक्त और पाशुपतागमों[२२] के मध्य एक गहरा सम्बन्ध है ।[२३] क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसे यथावत ग्रहण कर लिया गया है ।[२४] पाशुपतों को अवैदिक, वेदबाह्य, पाषण्ड व और अपहृत कहा गया है[२५] इस आरोप के उत्तर की झलक हमें उपर्युक्त साक्ष्यों में प्राप्त होती है ।

वस्तुतः शैवागमों को द्विविध बताया गया है । श्रौत और अश्रौत—श्रौत जो वैदिकपरम्परा में है तथा अश्रौत से तात्पर्य स्वतन्त्र आगमों से है ।[२६] जिसे परिवेश की नवीन धारा कहा जा सकता है । सम्भवतः इस नयी धारा का सम्बन्ध तान्त्रिक परिवेश से है । मैत्रायणी उपनिषद् में उपलब्ध[२७] आलोचना के अध्ययन से प्रतीत होता है कि स्वतन्त्र शैवागम की धारा का जन्म श्वेताश्वतर उपनिषद् के बाद ही उपनिषदों के युग में ही हो चुका था ।[२८] इस धारा के आगमिक साहित्य को ही उपवेद की संज्ञा दी गयी ।[२९] इनके अवैदिक होने का संदेह सम्भवतः नवीन धारा के तान्त्रिक परिवेश और द्विजन्माओं के अतिरिक्त अन्यों को भी शिवोपासना के लिये मार्ग खोल देने के कारण हुआ ।[३०] वस्तुतः दोनों में कोई विरोध नहीं है और न तो वे अवैदिक ही हैं ।[३१] आर्हिबुध्न्य संहिता में स्पष्ट किया गया है कि विवेचित

आगमद्वय की परम्परा में शतरुद्रीय एवं तैत्तिरीय आरण्यक का महत्वपूर्ण स्थान है ।[३२]

सन्दर्भ

१. जयाख्यसंहिता, आमुख एवं उसकी पादटिप्पणी तथा पृ. १५-१०९, ११६; छान्दोग्य उपनिषद् ७-१-२; श्रीप्रश्नसंहिता; महाकाल संहिता; शाण्डिल्य संहिता-भक्ति खण्ड-२ की भूमिका में उद्धृत (जया. सं.,प. १, परमेश्वर संहिता अ. १.

२. पूर्व उद्धृत देखिये श्वेताश्वतर शाखा ।

३. पूर्व उद्धृत-श्वेतद्वीप ।

४. महाभारत शान्तिपर्व अ. ३३५/६, ८, अ. ३३९ अ. ३३९ तथा श्वेताश्वतर शाखा के प्रचलन क्षेत्र के रूप में श्वेतद्वीप/ पूर्व उद्धृत ।

५. शाण्डिल्य संहिता, भाग-२ प्रस्तावना-अनन्त शास्त्री फड़के पृ. १५ एवं उसकी पाद टिप्पणी

श्वेतद्वीपे पुरा विष्णु क्षीरसागर शायिनाम् ।
ब्रह्माद्या देवताः सर्वे मुनयश्च तपोधनाः ॥
समाराध्य महात्मानो भक्त्या परमया विभुम् ।
ऋच्या च यजुषां साम्नामङ्गिरसामसे ॥
साख्यानामपि योगानां सर्वोपनिषदां गिराम् ।
सर्वेषामपि शास्त्राणां सार भूतं हरे प्रियम् ।
रहस्यं पाञ्चरात्राख्यं काले कालेऽभिलेभिरे ॥ (शा. सं.,अं. १ अ. ४, ५४, ५७)
आराध्य तपसा देवं हरिं नारायणं प्रभुम् ।
(महाभारत शान्तिपर्व, अ. ३३५ से उद्धृत) ।"
काण्वी शाखामधीयानावौपगायन कौशिको ।
प्रपत्तिशास्त्र निष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठता वुभौ ॥ (जया. सं. प.१)
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।
साक्षात् संकर्षणात् भक्तात् प्राप्त एव महत्तरः ॥
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सात्वतो विधिः ॥ (परमेश्वर संहिता, अ. १ से)
"आत्मार्पणं गुरावत्र वेदशास्त्रावलोकनम् ।
तेन सार्वान्मिकी शुद्धिः परा भक्तिर्दृढाहरेः ॥२३ ॥ शा. सं. भक्तिखण्ड अं. २ अ. १/२३
क्षीरसागर मध्यस्थे योगिनामेकभास्यदम् ।

ANGIRAS ARYA

तत्र सिद्धान्त महाप्राज्ञान् उपास्य विधपूर्वकम् ॥ (परमसंहिता १/८)
यादृशाश्च महाभागाः मुनयः संशित व्रताः ।
श्वेतद्वीप मनुप्राप्यसर्वदामनुपासते ॥(३१/४ वही)
ये च तद्वीपमायान्ति वैष्णवाः संशित व्रताः ।
तेभ्योउभे तत्प्रसादेन ज्ञानमन्येऽपि योगिनः ॥(परमसंहिता २१/२२)
एकान्तिनोमुदायुक्ता विष्णु भक्तिपरायणाः ।
श्रद्धयापरयोपेता वासुदेवमुपासते ॥" (३१/३० वही)
स्तुत्यैः स्तुवन्ति मामेव भक्त्यासंपूजयन्ति च ।
प्रवदन्ति च मामेव वेदशाखाशिराँसि च ॥ (२/१०९ वही)
अथौ कलौ संप्रवृत्तै पूर्वाचार्यै स्थागतैः ।
भविष्यति पराभक्तिः किंचित्कालं मुनीश्वराः ॥ (शां. स., ५/१५)

६. पूर्व में यह उद्धृत किया जा चुका है कि पाञ्चरात्रागम की एकायन शाखा एवं पाशुपतों की श्वेताश्वतर शाखा कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित थी ।

७. शाण्डिल्य नाम के अनेक व्यक्तियों का विवरण प्राप्त होता है । मुख्यरूप से तीन नाम ही प्रसिद्ध हैं -

(अ) प्रथम शाण्डिल्य—ब्रह्म शाण्डिल्य थे जिन्हें मन्त्राभिमानी देवता भी कहा गया है तथा सामवेदान्तर्गत शाण्डिल्य विद्या का प्रणेता कहा गया है— अधुनात्वय शाण्डिल्यः वाजसनेयिशाखायामग्नि रहस्ये श्रूयते । स्पष्ट चैतत् समान एव चाभेदात् । (व्यास ३-३-१०-इत्येतत्सूत्रीय शाङ्कर भाष्ये) ।

"आद्योऽसो ब्रह्मशाण्डिल्यो विद्या यस्यास्ति सामसु ।
स च मन्त्रात्मको ज्ञेयोऽभिमानी देवता यथा ॥ (शौ. सं., अ. ४ अ. १६/२६)

(ब) द्वितीय शाण्डिल्य वेद शाण्डिल्य हैं जिनका वर्णन वंशाध्याय में है जो वेदत्रयी के भक्तिविद्या प्रणेता थे-

द्वितीयो वेदशाण्डिल्यो वंशाध्याये निरूपितः ।
येनाधीता त्रयीविद्या भक्तिविद्याह्यनुत्तमा ॥ (शा. सं., अं. ४ अ. १६/२६)

इनका वर्णन वृ.उ.अ. ४/ब्रा. ५ में है"........शाण्डिल्यात् शाण्डिल्यः ।"
वृ. उ., अ. ४/ ब्रा. ५ "......शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो...... ।"

(स) तीसरे महर्षि शाण्डिल्य थे जिन्होंने प्रवृत्त-संहिता लिखी । इनका विवरण जया सं. प. १ "कृतवृत्यो जगत्यस्मिन् शाण्डिल्य सूयते भुवि ।" शा. सं. अ. ४ अ. १६.

"अयं महर्षि शाण्डिल्यः आचार्यः सांवृत किल ।" इनका परिचय दिया गया ऊपर की पंक्ति में "प्रसादान्नं वै जग्राह वैदिका वैष्णवोऽभवत्" सम्भवतः महर्षि

ANGIRAS ARYA

शाण्डिल्य का ही सम्बन्ध पाञ्चारात्रागम से था । 'धर्म मूर्ति शाण्डिल्य एवं उनकी परम्परा' — आलोक मणि त्रिपाठी, स्मारिक् १९९५, इतिहास विभाग, अवध वि.वि. ।

८. महर्षि शाण्डिल्य का नाम ही नारद के बाद पाञ्चरात्रागम में आता है तथा उनकी प्रकृत संहिता के विषय में कहा गया है कि वह नारद के मुख से उन्होंने सुना था-
"नारदीयं च सप्रश्नं शाण्डिल्यं वैस्यकं तथा ।
सत्योक्तं शैवकं तन्त्र वसिष्ठं ज्ञान सागरम् ॥ (अग्नि पु., अ. ३९/३)
कृतकृत्यो जगत्यस्मिन्शाण्डिल्य श्रूयते भुवि ।

xx xx xx

यादृक् प्राप्त मया पूर्व परितुष्टाञ्च नारदात् (जया सं. प.१)

९. नारद प्रणीत उस भक्ति-परम्परा के शाण्डिल्य दूसरे आचार्य थे जो श्वेतद्वीप में विख्यात हुई थी ।
तस्मादेकायेन नाम प्रवहन्ति मनीषिणः ।
श्वेतद्वीपे पराधीतो नारदेन सुरर्षिणा ॥ (परमेश्वर सं., ज्ञानपाद अ. १/१८; महाभारत शा. अ. ३३८ में कहा गया है "नारदोऽपि महातेजाः प्राप्यानुग्रह भीप्सितम् । नारायणमुखोद्दगीतं नारदोऽश्रावयत्पुनः ।" (महा. शा. अ. ३३९); पाञ्चरात्रागम में श्वेतद्वीप का भक्ति की इस परम्परा के साक्ष्य शाण्डिल्य सं. (भाग १) में प्राप्त होते हैं, अ. ३/२५, ४/२७, ५/१२ परम संहिता— २/१०९.
"स्तुत्यै स्तुवन्ति मामेव भक्त्या संपूजयन्ति च । प्रवदन्तिच मामेव वेद-शाखाशिरासि च । तथा १/१८, १/२४, ३१/४, ३१/२२, ३१/३०.

१०. इसी अध्याय में ।

११. शतरुद्रीय के सभी श्लोकों में "नमो-नमः" बार-बार दुहराया गया है और अन्त में कहा गया है— पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च" (शत. ४०) नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च । (शत. ४१)

१२. एषा पञ्चाक्षरी विद्या शतरुद्रीय मध्यगा ।
पञ्चाक्षरे महादेवः सर्वदासुप्रतिष्ठतः ॥ सूत संहिता यज्ञवैभव (खण्ड ४अ०२/३८) एवं स्कन्दपुराण अ. ८; शिवपुराण (रुद्राध्यायी) तथा लिङ्गधारण चन्द्रिका प. २१; प्रणव पञ्चाक्षरी (पंचब्रह्म, यजुर्वेद) एवं आरण्यक (पशुपतिरुद्र,) लिङ्ग-धारण एवं रुद्राक्ष- धारण सम्बन्धी विचार वेद और शैवागम दोनों में पाये जाते हैं - दोनों प्रमाणिक है उनमें विरोध नही है । (श्रीकंठभाष्य भा. २ आन ब्रह्मसूत्राज २/२/३८ पृ. २११) ।
ओङ्कारसञ्जात समस्त वेदपुराण पुण्यागम पूजिताय ।
ओङ्कार वर्ण प्रतिपादाय ओङ्काररूपाय नमः शिवाय । (शिव षडक्षरस्तोत्रम्, स्तोत्रार्णव) ।

"........पञ्चाक्षरं महामंत्र वेदराशिविनिर्गतम्" ३८/७७ (शिवरहस्य अंश ३ उत्तरार्द्ध अ. ३८) बहुकाल विचारेण रुद्राध्यायःपरःस्मृतः । ३८/९६ (यथोपरि)
"स ओङ्कारो य ओङ्कार स प्रणवो य प्रणव—तत् परं ब्रह्मेति स एक स एकोरुद्रः सईशानः स भगवान् महेश्वर समहादेवः ॥४४ ॥ अथर्वशिर उपनिषद्
अथहैनं ब्रह्मचारिण उचुः किं जप्यैनेवामतत्वमश्नुत इति ब्रूहीति सहोवाच याज्ञवल्क्यः शतरुद्रीयेण इति (जाबालोपनिषद्) ।
यः शतरुद्रीयमधीते सो अग्निपूतोभवति स्वर्ण स्तेयात् (वायुपूतो भवति) आत्मापूतो भवति पूतोभवति—तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्याश्रमीसर्वदा सवृद्धा जपेत् ॥२५ ॥
कैवल्य उपनिषद् यश्चरुद्रान्जपेनित्यं ध्यायमानो महेश्वरम् ।
यश्च सागर पर्यन्ता सशैल वन काननम् ॥१ ॥
वायुपुराण सततं रुद्र जाप्योऽसो परां मुक्तिमवाप्स्यति ।
रुद्राष्टाध्यायी भूमिका से उद्धृत पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र ।
शतरुद्र समाख्यश्च शतरुद्रीय भक्तिमान् । सूतसंहिता भाग १.
पञ्चप्रस्थान हेतुज्ञः श्रीमत्पञ्चाक्षर प्रियं । मुक्तिखण्ड ३/१/२४.

१३. जाबालाध्ययनध्वस्तपापपञ्जरसुन्दर .... । मुक्तिखण्ड ३/१/२६
मैत्रायण श्रुतिस्नेही महामैत्रायणोमुनिः ।
वाष्कलाध्य प्रणीतः शाकलाध्ययनेरतः ॥ वही ३/१/२७
सर्वे शमदमोपेता शिवभक्तिपरायणाः ।
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मो दूलित विग्रहा ॥ वही ३/१/२९
"एकशतं च यजु शाश्वास्तु सर्वास्युं रुद्रीपनिषाम्जायतं" इत्युपनिषद्छन्दे नास्य ब्रह्मविद्यात्वप्रतिपादनाच्च परमशिव परत्वमेवास्याङ्गी कर्तव्यामिति भावः ।"
श्रीकंठभाष्य १/४/२९ पृ. ५८०; शिवकर्मणि दीपिका संहिता

१४. शतपथ ब्राह्मण, रुद्रजन्म की कथा ।

१५. तैत्तिरीय आरण्यक (नारायणोपनिषद्) १७ से लिया गया है ।
इसी प्रकार यह सूची निम्न है—

	तै. आ.	नारायणीय उपनिषद्	शतरुद्रीय
नमो हिरण्य वाहवे हिरण्ययतये नमः ।	१०७	१७	२९,५१
	१०८	१८(अनु.)	१७.
ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि-भवे भवेनातिभवेनमः ।	१३४	४३ (अनु)	३, २८, ३०, ४१.
वामदेवाय नम—मनोन्मनाय नमः ।	१३५	४४	१, २८, ३०, ३२.
अथघोरेभ्योऽघोरेभ्यः अस्तु रुद्ररूपेभ्य ।	१३६	४५	२, २५, २,२५,२८ ।
तत्पुरुषाय विद्महे...... प्रचोदयात् ।	१३७	४६	३, १५.

उपर्युक्त मन्त्र पाशुपतसूत्रों के रूप में उपलब्ध होते हैं – १/४०, ४१, ४२, ४४, २/३, ४, २२, २५, २७६, ३/२१, २२, २३, २४, २५, २६, पाशुपत सूत्र कौण्डिन्यभाष्य भा. ३.

१६. कठोपनिषद्, २/१६, २३.
तम क्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः ।२/२०
सोऽध्ययनः परमाप्नोति तद्द्रिष्णोः परमं पदम्, ॥ ३/९, ४/५, १२, ५/३.

१७. श्वेता. अ. ,३/१, २, ८, २० (क. में भी है २/२०) ५/२, १३, ६/७, १५, २१; "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ .... ।६/२३, २२.

१८. पूर्व उद्धृत इसी अध्याय में

१९. यजुर्वेद वा.सं., अ.११/१,२,३,४,५; श्वेता. २/१,३,४,५; श्वेता; का २/४ क. में २/३/१० में मिलता है ।

२०. श्वेता, २/१६; शतरुद्रीय ३२, ६३, ६४, १९, २५ से लिया गया है इसी प्रकार श्वेता. ३/२ वा. सं., १७/१९ से तथा ३/५, ३/६, ३/३, ४; शतरुद्रीय एवं यजुर्वेद से लिये गये हैं । श्वेता., ३/४, १५, १६; वा. सं. ३१/१, २, ३, से, श्वेता. ४/८, ९; ऋ. १०/५२/२, १/१६४/३९; श्वेता. ४/११; वा. सं. ३२/८; श्वेता. ४/१३; वा. सं. २०/३२, २३,३; श्वेता ४/१९; वा. सं. ३२/२, ३; श्वेता. ४/२२; वा. सं. १६/१; श्वेता. ५/१०, ६/१५,; वा. सं. आशिंक रूप से ३१/१८.

२१. शतरुद्रीय चमकैस्तथा पौरुषसूक्तकै ।
नाभिसिञ्चन्ति देवेश पाषन्डोऽपहता जनाः ॥४७ ॥
सूतसंहिता भाग ३, ४, यज्ञवैभवखण्ड (ब्रह्ममीता)

२२. परमसंहिता (दीवान बहादुर -डा. कृष्णस्वामी आयंगर) प्रस्तावना - उनके अनुसार एकायन शब्द आगम का सूचक है जो पुरुषसूक्त "नान्यंपन्था विद्यतेऽयनाय" में सांकेतित है । ऋ. १०/९०

२३. ऋ. ११९० पुरुषसूक्त चारों वेदों में उपलब्ध होता है, पुरुष, पुरुषयज्ञ अथवा ब्रह्मपुरुष रूप में । श. ब्रा. ७-१-३-१०, से १८ तक । वेदों में ईशान नाम पूषन् और रुद्र का है (रुद्रसूक्त) जो आदित्यों का प्रतिनिधि है । पुरूष भी ईशान वाला है । (पुरुष सूक्त २) शतरुद्रीय का पशुपतिरुद्र भी पुरुष रूप ही है (शतरुद्रीय ३)
——मा हिंसी पुरुष जगत ॥३ ॥
वस्तुतः पुरुष सूक्त एवं रुद्रसूक्त वा प्रभाव शतरुद्रीय में भी है (शतरुद्रीय २ से ७ तक) आगे यह श्वेताश्वतर में भी उपलब्ध होता है ।
पुरुषसूक्त के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं-
पुरुषं एवं..........उतामृतत्वस्येशानो ...... ॥२ ॥
धर्माणि प्रथमा न्योसन् । ते ह नाकं महिमानः ....सन्तिदेवाः ॥१६ ॥
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वा मृत्युभेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनि परिपश्यन्ति धीरस्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि ॥१९ ॥

२४. श्वेता., उ. २ ।१६, ३ ।१, ३ ।८, ३ ।१४,१५ के मन्त्र पुरुष सूक्त से ही ग्रहण किये गये हैं। इस प्रकार इस उपनिषद् में पुरुष सूक्त एवं रुद्रसूक्त (जो शतरुद्रीय में ग्रहण किया गया है) दोनों स्पष्ट रूप से ग्रहण किये गये हैं। निश्चित रूप से पाशुपतागमों को यहीं से प्रेरणा प्राप्त हुई होगी।

२५. वेदबाह्येषु मार्गेषु संस्कृता ये नराः सुराः ।
तेहि पाषण्डिन साक्षात्तया तैः सहवासिनः ।
रुद्राक्ष धारणं भक्त्या वेदोक्तेनैव वर्त्मना ।
न करिष्यन्ति मोहेन पाषण्डोऽपहता जनाः ॥२.३८
शतरुद्रीय चमकैस्तथा पौरुषसूक्तकैः ।
नाभिसिञ्चति देवेश पाषण्डोपहता जनाः ॥२.४७ ॥
— सूतसंहिता, ४ यज्ञवैभवखण्ड, ब्रह्मगीता

२६. शैवागमो हि द्विविधः श्रौतोऽश्रौत श्च स स्मृतः ।
श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरोमतः ॥२८.११ ॥
स्वतन्त्रो दशधापूर्व तथाष्टधा पुनः ।
कामिकादिसमाख्याभिः सिद्ध सिद्धान्त संज्ञित ॥२८/१२ ॥
श्रुतिसारमयोयस्तु शतकोटि प्रविस्तरः ।
परं पाशुपतं यत्र व्रतं ज्ञानञ्च कथ्यते ॥२८/१३ ॥
परमोयोगपर्यन्तो धर्मः श्रुतिशिशिरोगतः ।
धर्मस्त्वपरमस्तद्वदधः श्रुतिमुखे स्थितः ॥२८/६ ॥
शिवपुराण वा. सं. पूर्व भाग

२७. अथ ये चान्ये ह वृथा कषाय कुण्डलिनः कापालिनः। अथ ये चान्ये ह वृथातर्कदृष्टान्त कुहकेन्द्र जालैर्वैदिकेषु परिस्थातुमिच्छन्ति - तैः सह न संवसेत। प्रकाशभूता तै वे तस्करा अस्वर्गया। इत्येव ह्याह नैरात्म्यवाद कुहकैमिथ्या दृष्टान्त हेतुभिः। भ्राम्यल्लोको न जानाति वेद विद्यान्तरं तु यत् ॥७/८ ॥
वृहस्पतिर्वै शुक्रौ भुत्वेश्रस्या भयायासुरेभ्यः क्षयायेमविद्यामसृजत् ।
तयाशिवमशिवमित्युद्दिशन्ति। अशिव शिवमिति वेदादि शास्त्र - हि सकधर्माभिध्यानमस्तिवति वदन्ति .... । ७/९
कुछ लोगों ने नैरात्म्य और वृहस्पति शब्दों के आधार पर चार्वाकमत के लिये इसे माना है किन्तु "वैदिकेषुपरिस्यातुमिच्छन्ति" से स्पष्ट है कि यह चार्वाकों के लिये नहीं है। इसी उपनिषद् (७/१०) में अवैदिक शास्त्र को ब्रह्मा द्वारा दिया गया बताया गया है जबकि ब्रह्मा चार्वाक मत के प्रतिष्ठापक नहीं थे। निश्चित रूप से यहाँ शैवों का ही वर्णन है जिन्होंने वर्णाश्रम धर्म को नहीं माना था।
— पृ. २४३, लिङ्गधारण चन्द्रिका —एम. आ. साखरे।

२८. इसका सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता चार काण्डों से है जो कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत है।

२९. वेदाश्च धर्मशास्त्राणि पुराणं भारतं तथा।
वेदाङ्गान्युपवेदाश्च कामिकाद्यागमानपि ॥२॥
कपालं लाकुलं (नाकुल) चैव तयोभिर्दान्द्विजर्षभा।
तथा पाशुपतं सोमं भैरवं प्रमुखागमान् ॥३॥
— सूतसंहिता, यज्ञवैभव खण्ड, अ. २२/२, ३

३०. वैदिकं तान्त्रिकं मार्ग स्वप्रज्ञयाद्विजाः।
यत्र यो देवता बुद्धि करोति श्रद्धयासह ॥ २/२२ ॥
— यज्ञवैभवम् अ. ३ भाग २; हारीत जो ईसवी सन् के प्रारम्भ में हुए और जिनका विवरण याज्ञवल्क्य ने दिया है उन्होंने आगमों को द्विविध बताया है:- अथातः धर्म व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणकः धर्म। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च। — लिङ्ग धारण चन्द्रिका पृ. २४० से उद्धृत। इस प्रकार विदित होता है कि इन आगमों की स्वतन्त्र धारा में तान्त्रिक विचारों का अभ्युदय हुआ।दूसरी ओर शैवों की इस धारा ने भक्ति के मार्ग सबके लिये खोल दिये।
"गतं शुद्धस्य शुद्धत्व द्विजत्व ब्राह्मणस्यतु।
"शिवसंस्कार सम्पन्ने जाति भेदो न विद्यते॥" सूक्ष्मागम लिङ्गधारण चन्द्रिका से पृ. २४३. मैत्रायणी उपनिषद् में इस तथ्य को उद्घाटित किया गया है। मैत्रायणी उपनिषद, ४/३ में वर्णाश्रम धर्म का पालन न करने वालों की ओर संकेत है।
" .... ।
तन्त्र पाशुपतं नाम पशुपाश प्रमोचनम्" ।१२/३९, अहिर्बुध्न्य संहिता; गीता में अपने पूर्व की आगम परम्परा की चर्चा तन्त्र नाम से हुई है -
तेनोक्तं सात्वतं तन्त्र यज्ज्ञात्वा मुक्ति भाग भवेत्।
यत्रस्त्री शूद्र दासानां संस्कारों वैष्णवो स्मृता॥

३१. सूतसंहिता भाग १, ३, मुक्ति खण्ड अ. ४
...........पाञ्चरात्रादिमार्गाणां वेदमूलत्वमास्तिके ॥१५॥
न हि स्वतंत्रास्ते तेन भ्रान्तिमूलतानिरूपण।
तथापि योऽशो मार्गाणां वेदेन न विरुध्यते ॥१६॥
"हम वेदों और शैवागमों में विभेद नहीं पाते हैं, वेदों की भांति शैवागम भी शिव का ही प्रतिपादन करते हैं ।शैवागम द्विविध हैं— एक द्विजन्मा के लिये दूसरे सभी के लिये। .....वेदों के मन्त्र - (पञ्चब्रह्म, यजु. आरण्यकों के) प्रणव, पञ्चाक्षरी (यजु. संहिता), पार्षद (कालिकापुराण), पशुपति (श्वेता.) तथा भस्मस्नान, लिङ्गधारण और रुद्राक्ष (अथर्व शिरस्) आदि वेद और शैवागम दोनों में पाये जाते हैं इसलिये दोनों प्रमाणिक हैं जहाँ तक शिव का सम्बन्ध है दोनों में विरोध

नहीं है ।" श्रीकंठ भाष्य आन ब्रह्मसूत्राज, वा. द्वितीय, २/२/३८ पृ. २११ —रोमा चौधरी प्राच्वनी इन्स्टीट्यूट आफ ओरिएण्टल लर्निंग, ३ फेडरशन स्ट्रीट कलकत्ता, १९५९.

३२. "...नमस्ते कृति वाससे ।
अघोरायाथ घोराय घोरघोरतराय च ॥१/३३
" सद्योजाताय देवाय वामदेवाय ते नमः ।
नमो ज्येष्ठाय रुद्राय भवोद्भव नमोऽस्ते ॥१/३४
नमो बल विकरणाय बलप्रमथाय ते ।
नमः ....य ते नमः १/३५ ॥
नमः कल विकाराय कालाय कलनात्मने ।
नमस्ते सर्व भूतानां दमनाय मनोन्मनः ॥१/३६ ।
नमः शर्वाय शान्ताय शंभवे शभवे नमः ।
.... ॥१/३७
अहिर्बुध्न्य संहिता - रामानुजाचार्य, अडयर पुस्तकालय १८३९ रा.
स्तूयते वैदिवैर्म्मन्त्रैर्देवदेवो महेश्वरः .... ॥१५/८४ ॥ कूर्मपुराण
"न वेदवाह्ने पुरुषे पुण्यलेषोऽपि शङ्कर ।
सङ्गच्छत महादेव धर्मो वेदद्विनिर्बभो ॥ १६/११५ ॥ कूर्मपुराण
__________ ।
चकारमोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः ॥१६/११८ ॥ कूर्मपुराण
कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम् ।
पाञ्चरात्र पाशुपतं तथान्यानि सहस्त्रशः ॥१६/११९ ॥ कूर्मपुराण
सर्ववेदेषु गीतानि संसारशमनानि तु ।
———— ॥ २०/६८ ॥ कूर्मपुराण
अधीष्व शतरुद्रीयं यजुषां सारमुद्धृतम् ।
जपस्वान्यचेतस्को मैययासवक्ततमनानृप ॥ २०/६९ ॥कूर्मपुराण
प्रस्तुत साक्ष्य पाञ्चरात्रों एवं शैवागम की वैदिक परम्परा का ही प्रतिपादक है । शैवागमों के वैदिक होने का एक अन्य साक्ष्य लिंगधारण चन्द्रिका (पृ. ७२) में भी है ।

५.

पाशुपतागम का अन्य उपनिषदों पर प्रभाव

उपर्युक्त सम्प्रदायों की आगमिक धारा में निहित भक्ति की धारा का प्रभाव उपनिषदों की ब्रह्म धारा पर भी पड़ा। इस सन्दर्भ में कठोपनिषद् का स्थान महत्वपूर्ण है। परमात्मा के प्रति भक्ति एवं उपासना की धारणा पर अन्य उपनिषदों से भिन्न इस उपनिषद् में आगमिक प्रभाव दिखाई देता है। आगमों में प्रसाद के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया है।[१] कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि 'मनुष्य, प्राणिमात्र के हृदय गह्वर में स्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं महान् से महान् परमेश्वर तथा उसकी महिमा को, कामना और सुख- दुःख से रहित होकर, उस परमेश्वर के प्रसाद से ही देख पाता है, वह परमेश्वर कहने सुनने अथवा मेधा मात्र से ही प्राप्त नहीं होता अपितु वह जिसको वरण करता है उसी को वह प्राप्य है।"[२]

परमेश्वर के स्वरूप-ज्ञान में गुरु (उपदेशक, आचार्य) के महत्व की ओर भी इस उपनिषद् में संकेत किया गया है। ऐसा तत्वज्ञान प्राप्त आचार्य परम दुर्लभ बताया गया है।[३]

योग-विधि अथवा अध्यात्म योग द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार और उसका स्वरूप- ज्ञान एवं परमप-प्राप्ति का विचार भी[४] न केवल पूर्व के आगमिक प्रभाव की ओर इंगित करता है अपितु उसके भक्तिमार्ग और योग-साधना मार्ग पर चलने वाले अनुयायियों (साधकों) का परिचय देता है जो इस उपनिषद् की रचना के समय तक सम्प्रदाय की परम्परा थे।[५]

इस उपनिषद् में इन्द्रियों की स्थिरता को योग कहा गया है, क्योंकि इससे साधक में प्रमाद नहीं रहता।[६] मन के सहित जब पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ नियन्त्रित हो जाती हैं और बुद्धि भी स्थिर हो जाती है तब उस अवस्था को परमगति कहा जाता है।[७] वस्तुतः कठोपनिषद् में जिस योग विधि की चर्चा है उसमें दो तथ्य महत्वपूर्ण

हैं, प्रथम इन्द्रियसंयमन आदि साधनाएं और साधक की विभिन्न अवस्थाएं तथा दूसरे योग का उद्देश्य ब्रह्म साक्षात्कार अथवा परमपद प्राप्ति कहा गया है ।

यथा "शरीर को रथ, जीवात्मा को रथी, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़े, विषयों को उनके गमनागमन का मार्ग तथा जीवात्मा को उसका उपयोग करने वाला कहा गया है जो मनुष्य विवेकी सारथि के समान श्रेष्ठ बुद्धि वाला है मन रूपी लगाम को सदा वश में रखता है वह इस संसार से पार होकर परमेश्वर के परमपद को पाता है । बुद्धिमान पुरुष वाणी को मन के वश में करे और फिर मन को ज्ञानमयी बुद्धि में निरुद्ध करे तथा बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को शान्त पुरुष परमेश्वर में लीन करने की चेष्टा करे ।"[८]

ईश्वर और जीव का सम्बन्ध धूप और छाया के सदृश है जीव भोक्तारूप में उस प्रकाश की ही छाया है, कठोपनिषद् ने यह विचार ऋग्वेद से ग्रहण किया है ।[९]

कठोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप के सन्दर्भ प्रस्तुत विचारों पर भी आगमिक धारा और परमेश्वर के प्रति उपासनापरक धारणा का प्रभाव दिखाई देता है । यथा—सबकी चरमसीमा और परमगति सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर आत्मा रूप से सभी देहधारियों में निवास करता हुआ भी दिखाई नहीं देता । वह केवल सूक्ष्मदर्शि यों को ही बुद्धि द्वारा देता है ।[१०] उसे जानकर मनुष्य मृत्युमुख से मुक्त हो जाता है ।[११] यही वह परमेश्वर है जो जल से पूर्व उत्पन्न हुआ था ।[१२] जो पुरुष इस जीवनदाता, कर्मफल दाता और तीनों कालों के शासक अर्थात् ईशान् परमेश्वर को अपने निकट समझता है वह किसी की निन्दा-स्तुति में नहीं पड़ता है ।[१३] जो प्राण को ऊपर उठाता है और आपान को नीचे करता है, देह में स्थित उस भजनीय परमेश्वर की उपासना सभी देवगण करते हैं ।[१४] वह परमेश्वर विभिन्न भोगों का निर्माता है उसी को शुद्धस्वरूप ब्रह्म कहा जाता है । उसी में सम्पूर्ण आश्रित है, वह एक होते भी विभिन्न रूपों में स्थित है ।[१५] वह सुख-दुःख से निर्लिप्त होकर भी समस्त भोगों का विधानकर्ता है, एक होकर भीअनेक रूपों में अभिव्यक्त है, सम्पूर्ण विश्व उसी से प्रकाशित है ।[१६] प्राचीन पीप्पल वृक्षरूप इस संसार का आश्रय वह अमृतरूप परमात्मा ही है ।[१७] उस ब्रह्म से सम्पूर्ण विश्व प्रकट है उसी के भय से अग्नि और सूर्य तपते हैं इन्द्र वायु और यम आदि अपने-अपने कार्यों में लगे हैं ।[१८]

यद्यपि जीव अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है ।[१९] तथा विवेक, संयत मन और पवित्र हृदय मनुष्य उस पद को प्राप्त कर लेता है जहां से लौट कर जन्म नहीं धारण करना पड़ता है ।[२०] जैसे वृष्टि का शुद्ध जल अन्य जलों में मिलकर वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार परमेश्वर को जानने वाले मुनि जनों की आत्मा परमेश्वरमय हो जाती है ।[२१] इस प्रकार साधक के निकट परमेश्वर का

तत्वभाव प्रकट हो जाता है ।[२२] योग-विधि का ज्ञान और उसकी साधना जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त कर देने वाली है ।[२३]

इस प्रकार परमेश्वर का सगुणस्वरूप, उसके प्रसादस्वरूप उसका ज्ञान, आचार्य से उसके स्वरूप का ज्ञान, योग साधना द्वारा इन्द्रिय संयमादि से उसका साक्षत्कार और उसकी कृपा से बन्धनमुक्ति, परमपद की प्राप्ति आदि धारणाएं इस उपनिषद् पर आगमिक प्रभाव को द्योतित करती हैं ।रुद्र महादेव जो परमपुरुष रूप है उनके प्रति स्वाभाविक भक्ति, उनसे रक्षा व शक्ति प्राप्ति करने की प्रार्थना मैत्रायणी संहिता में प्राप्ति होती है । इससे विदित होता है कि उन दिनों शिवभक्ति का प्रचलन का तथा-तत्पुरुषाय विद्महेमहादेवायधीमहि तन्नो रुद्र प्रचोदयात् । (मैत्रायणी संहिता २/९/१) ।

श्वेताश्वतर में मायावाद

श्वेताश्वतर में प्रतिपादित माया का सिद्धान्त पश्चात् कालीन आगमों और शैवदर्शन का आधार बना । प्रकृति को माया और महेश्वर को मायावी कहा गया जिसमें (माया विशिष्ट ब्रह्म महेश्वर) समस्त जगत समाविष्ट है ।[२४] माया को ब्रह्म की शक्ति कहा गया,[२५] शक्ति को पराशक्ति—जिसमें बल, क्रिया, निहित है,[२६] अपनी निहित शक्ति से ही वह नानाविध रूपों में जगत को अभिव्यक्त करता है ।[२७] माया और जगत की रचना के सन्दर्भ में प्रधान,[२८] क्षर-अक्षर,[२९] प्रकृति, विद्या, अविद्या, काल, स्वभाव, नियति, योनि, पुरुष, क्षेत्र, गुणी, गुणमयी आदि[३०] ऐसे दार्शनिक विचार विवेचित हुये जो बाद के पाशुपत दर्शन ही नहीं समस्त आगमिक सम्प्रदायों के आधार बने । इस प्रकार इस दर्शन में सांख्य और योग के तत्वों का भी समावेश दिखाई देता है ।[३१] अनीश, बद्ध, भोक्ता पशु, प्राणिमात्र के ईश्वर पति और माया प्रकृति रूप अनीश भोक्तृत्व का पाश सिद्धान्त सर्वप्रथम इस उपनिषद् में ही उपलब्ध होता है ।[३२] भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और प्रेरयिता ईश्वर का स्वरूप भी सर्वप्रथम यहीं निर्धारित हुआ ।[३३] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक आगम-परम्परा में श्वेताश्वतर उपनिषद् ही एक ऐसा सन्धिस्थल है जहां पूर्व की सारी परम्पराएं आकर एकत्रित हुई तथा पश्चात्कालीन आगमिक सम्प्रदायों कीअनेक धाराओं पर इसका प्रभाव पड़ा । पाशुपतों के प्रथम धार्मिक -दार्शनिक स्वरूप को श्वेताश्वतर ने ही निर्धारित किया और पाशुपतागम की परम्परा की एक ऐसी आधारशिला रखी जिसकी एक लम्बी परम्परा है ।

पाशुपतागम की आधारशिला : श्वेताश्वतर उपनिषद्

पूर्व विवेचित भक्ति की धारा और शैवोपासना की सम्पूर्ण परम्पराएं अपना आगमिक परिवेश लिये श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रतिष्ठित होती दिखाई देती हैं,

यथा—पुरुषसूक्त,[३४] यजुर्वेद के अभिचयन मन्त्रों में सविता से प्रार्थनाएं, योगसाधना,[३५] शतरुद्रीय की विशालपरम्परा,[३६] आरण्यकों के उपासनापरक विचार[३६] तथा कठोपनिषद् की ब्रह्मवादी आगमिक धारा,[३७] सब कुछ श्वेताश्वतर उपनिषद् में उपलब्ध है, उनके मन्त्रों को यथावत् श्वेताश्वतर ने ग्रहण कर लिया है। पाशुपतों के प्रथम आचार्य के रूप में स्मृत श्वेताश्वतर ऋषि ने जिस परम्परा की प्रतिष्ठा की, वह न केवल पाशुपतागम अपितु शैवागम की आधारशिला है, साथ ही अन्य आगमिक सम्प्रदायों पर भी इसका प्रभाव पड़ा जिसका विवेचन हम आगे करेंगें।

इस उपनिषद् में उपलब्ध अनुग्रह एवं प्रसाद का सिद्धान्त,[३८] ईश्वर और गुरु में आत्यन्तिक भक्ति अर्थात् पराभक्ति, ईश्वर तुल्यगुरु का विशेष महत्व,[३९] आदि ऐसे दृष्टिकोण थे जिन्हें आगमों ने अपने प्रमुख सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करते हुये प्रतिपादित किया है कि जीव जब उस परमेश्वर से अभिन्न रूप से सेवित होता है तो अमृतत्व की प्राप्ति होती है।[४०]

इस उपनिषद् ने पशुपति रुद्र को विश्व का एकमात्र, ब्रह्म, रुद्र को, सृष्टि, स्थित और संहारादि त्रिविध कार्य का स्वामी[४१] घोषित कर धर्म और दर्शन में अपना सुस्थिर स्वरूप प्रकट किया।

सन्दर्भ

१. परमसंहिता - गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज (बड़ौदा १९४०) दीवान बहादुर,
देवदेव प्रसादेन सनकस्य मुखात्पुरा। १/४५
श्रद्धाभक्तिसमाधिश्च मयि प्रणिहिता जनैः।
शुभमेव विविच्यन्ते तत्प्रसात्भवेहि मे ॥ १/८४
पाशुपत सूत्र (पञ्चार्थ भाष्य, अ० १/१ द्रष्टव्य इसी पुस्तक में भाग ३)

२. कठोपनिषद्, अ- १/बल्ली २/२०,२३
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २/२० ॥
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तयैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वान् ॥ २/२३ ॥

३. कठोपनिषद्, १/२/७,९, २/३/१८.
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विधुः।
आश्चर्यो वक्तो कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानु शिष्टः ॥ १/२/७
नैषा तर्केण मतिरायने या प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वामापः सत्यधृतिर्वतासि त्वादृग्नों भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ १/२/९ ॥
मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।

ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभुद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ २/३/१८ ॥

४. कठो० उपर्युक्त २/३/१८ "... योगविधिं... ।" "ब्रह्मप्राप्तो..."... ।
.... ॥
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति । १/२/१२
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पद्माप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १/३/९ ॥

५. शतं चैका च हृदयस्य नाऽय-स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वयान्नमृतत्वयेति विष्यऽन्या उत्क्रमणो भवन्ति ॥ २/३/१६ ॥
पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयं भूत्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिधीरः प्रत्यगात्मा नर्मेक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ २/१/१ ॥
अरण्योर्निहितो जात वेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवेदिवईड्यो जागृतवद्भिर्हविष्मदिर्मनुष्येभिरग्निः एतद्वै तत् ॥ २/१/८ ॥
गर्भ के समान दो अरणियों के बीच विद्यमान अग्नि के सदृश वह परमात्मा जागरणशील योगियों द्वारा स्तुत्य है । — कठोपनिषद्

६. कठोपनिषद्, २/३/११.
७. कठोपनिषद् २/३/१०.
८. कठोपनिषद् १/३/३,४,५,६,८,९,१२.
९. कठोपनिषद् १/३/१; ऋ०१/१६४/४६.
१०. कठोपनिषद् १/३/११.
११. कठोपनिषद् १/३/१५.
१२. कठोपनिषद् २/१/६.
१३. कठोपनिषद् २/१/५,१२.
१४. कठोपनिषद् २/२/३.
१५. कठोपनिषद् २/२/८,९,१०.
१६. कठोपनिषद् २/२/११,१२,१५.
१७. कठोपनिषद् २/३/१; तै०आ० १/११/५; ऋ० १०/९७/५.
१८. कठोपनिषद् २/३/२,३.
१९. कठोपनिषद् २/२/७.
२०. कठोपनिषद् १/३/८.
२१. कठोपनिषद् २/१/१५.
२२. कठोपनिषद् २/३/१३.
२३. कठोपनिषद्, २/३/१८.
२४. श्वेता०, ४/१० — माया तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वम् ।
तस्या वयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत ॥
२५. श्वेता० ४/१ — य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकानेकन्निहितार्थो दधाति ।

२६. श्वेता० ६/८ "... परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयतेस्व भाविकी ज्ञान -बल-क्रिया च एवं । १/६, ४/९, ३/२, ३/३, ४/५.

२७. श्वेता० ४/१.

२८. श्वेता० ६/१०.

२९. श्वेता० १/१०.

३०. श्वेता० ६/२, १६,५/१, १४, १/२, ५/१, २,३,५,७.

३१. श्वेता ६/१३ तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

३२. श्वेता० १/८ अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ भावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
श्वेता० १/९ ज्ञातौ द्वावजीवशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥
श्वेता० १/१० क्षर प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानानी-शतेदेवएकः ॥
१/१२ ..भोक्ता योग्यं प्रेरितारं चमत्वा सर्व प्रोक्तं त्रिविध ब्रह्म मेतत् ।"
४/६ द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्लं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥४/७ ॥
६/७ तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं चदैवतम् ।
पतिं पतीनां परस्ताद्विदास देव भुवनेशमीड्यम् ॥
६/१२ एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीज बहुधा यः करोति ।

३३. श्वेता० उपनिषद्, ३/३,११,१४,१५, २/१६, ४/६,८; ऋ० १/१६/४/२०,३० से लिये गये हैं ।

३४. पूर्व उद्धृत पृ० २ पाद टिप्पणी १०,११; श्वेता० अ० २/१,३,४,५

३५. पूर्व उद्धृत शतरुद्रीय और उसकी परम्पराएं तथा पूर्व उद्धृत पृ० २, पाद टिप्पणी ८,९,१०,११

३६. पूर्व उद्धृत, पृ० २ पाद टिप्पणी ६ एवं तै०आ० — श्वेता०

तै०आ०		श्वेता०
३/१३/१	-	३/८
१०/१०/३	-	३/९
३/१२/१	-	३/१५
२/१२/१	-	४/८
१०/१/३	-	२/१५

३७. कठ०

कठ०	श्वेता०
२/१/२०	३/२०
६/१३	१/१०
६/९	४/२०, ४/१७
६/११	२/९
३/८	४/१०

यजु० ३१/१८ क० ३/१५, ४/१२ श्वेता० ६/१५

३८. श्वेता० ३/२०, ६/२१ "..धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ ३/२०
तपः प्रभावाद् देवप्रसादाच्च.... ॥ ६/२१

३९. श्वेता० ६/२३ यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरो ।..... ।"

४०. श्वेता० १/१६ ...... । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्या जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।

४१. श्वेता० ३/१ य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वान्ल्लोकानीशतईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदस्मृतास्ते भवन्ति ॥
३/२ एकोहिरुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य भुवनानि गोपा ॥
श्वेता० ३/११, ३/४, ४/१.

६.

श्वेताश्वतर की पाशुपतधारा और परवर्ती उपनिषदें

श्वेताश्वेतर की पाशुपत धारा का विकास अनेक शाखाओं में हुआ। परवर्ती उपनिषदों में[१] इसका आगमिक स्वरूप[२] और पाशुपत चर्चाएं[३] प्रवाहित होती प्रतीत होती हैं। इस परम्परा में सनक, सनन्दन और सनत्कुमार[४] का नाम उपलब्ध होता है। जिन्हें परमसंहिता में भक्तिपरम्परा के योगावतार[५] तथा पुराणों[६] में पाशुपत योगावतार के रूप में स्मरण किया गया है। सनत्कुमार शिवपुराण के शैव-धर्म कथा के प्रोक्ता हैं। सनक सनन्दन और सनत्कुमार ब्रह्मा के मानस पुत्र या उर्ध्वरेता ऋषि थे जो परमयोगी और विद्वान थे। तन्त्रालोक में यह परम्परा उपलब्ध होती है।[७]

परवर्ती उपनिषदों (शैव)[८] में पाशुपत तत्व उपलब्ध होते हैं। अथर्वशिर उपनिषद् में कहा गया कि ब्रह्म एक ही है वही रुद्र है, ईशान है, महेश्वर है, महादेव है।[९] शतरुद्रीय और श्वेताश्वतर उपनिषद् का पूर्णतः प्रभाव और पूर्व की विषय-वस्तु का वर्णन यहां भी हुआ है। इसमें कहा गया है कि विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार उस एक ही के द्वारा सम्पन्न होता है।[१०] पाशुपत व्रत के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन परिवेश में अथवा उसके पूर्व पाशुपत साधना प्रचलित थी। जाबाल्युयोपानिषद् में शतरुद्रीय में मन्त्रों और भस्मलेपन आदि क्रियाएं पाशुपतचर्या के अन्तर्गत हैं और शतरुद्रीय एवं श्वेताश्ववर से ग्रहण की गयी हैं।[११] कैवल्य उपनिषद् को भी इसी परम्परा के अन्तर्गत मानना चाहिये।[१२]

भस्मधारण और महापाशुपत व्रतम् प्रकरण को देखने से स्पष्ट होता है। कि अथर्वशिरस पश्चात् कालीन उपनिषदों में सबसे पहले की रचना है। इसमें शैवदर्शन पूर्णतः विकसित नहीं है क्योंकि रुद्राक्ष और रुद्रमंत्र प्रकरण का अभाव है। मैत्रायणी उपनिषद् में पाशुपतों की एक विशेषता मिलती है।[१३] इस उपनिषद् में ग्रहों आदि के नामोल्लेख हैं, किन्तु अथर्वशिरस में नहीं। अतएव मानना होगा कि अथर्वशिरस

मैत्रायणी से पूर्व रचना है ।इस उपनिषद् में सांख्य के तत्व, न्याय की विशिष्ट शब्दावलियां (प्रमाण-प्रमेय) आदि हैं ।[१४] संभवतः यह श्वेताश्वतर में प्रतिष्ठित परम्परा की एक शाखा के रूप में विखराव के समय की है जो पश्चात् कालीन उपनिषदों में प्रवाहित हो रही थी ।

सन्दर्भ

१ .अथर्वशिर, अथर्वशिख, जाबाल्यु, बृहद्जाबाल्यु, भस्मजाबाल्, कैवल्य और कालाग्निरुद्रोपनिषद् (शैव उपनिषद्स) —महादेव शास्त्री, अड्यार पुस्तकालय १९५०.

२. अथर्वशिर उपनिषद्
अथकस्मादुच्यते भगवान् यः सर्वान् भगवान् निरीक्षित्यात्मज्ञाननिरीक्षयति योगं गमयति तस्मादुच्यते भगवान् ॥५८ ॥
रुद्रं शाश्वतं वै पुराणमिषमूर्ज तपसानियच्छत । ब्रह्मेतत् पाशुपतम् — पाशुपतम् ६७ ॥
तत् परं ब्रह्मेति स एकः स एको रुद्रः स ईशानः स भगवान् महेश्वरः स महादेवः ॥४४ ॥
बृहद् जाबाल —शिवसायुज्यमवाप्नोति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते ।
कैवल्योपनिषद् "ज्ञात्वा तं मृत्युमर्त्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥९ ॥
अथर्वशिर— "ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वेश्वरसंपन्न सर्वेश्वर शनुराकाश मध्ये.....सर्वध्यानयोग ज्ञानानां यत् फलमोङ् कारो वेद-ईशो वा-शिवएको ॥४ ॥
जाबालोनिषद्— "सर्वज्ञ पंचकृत्यसंपन्नः सर्वेश्वरईशः पशुपतिः ॥१३ ॥

३. पाशुपतव्रतम्, अथर्वशिर उपनिषद्
विभूतिधारणमहिमा वृहद् जाबालोपनिषद् ।
भस्मशय्या शयानस्तच्छब्दगोचरः ।
भस्मजाबालोपनिषद्, "तत्र ऋषयः शम्भवा महापाशुपतामहाशैवा" ।
कैवल्योपनिषद्— "महापाशुपत ब्रत" । शतरुद्रीय जपविधि

४. अथर्वशिर, खण्ड १/१.
कालाग्निरुद्रोपनिषद्, २.
जाबाल्युपनिषद् २०.

५. परमसंहिता ,३१/१६, १/४५, ३१/१७

६. शिवपुराण वा०सं०, १४/१०
कूर्मपुराण, ५/४७१
लिङ्गपुराण, ५०/१७३
"परस्तासृषदेवः सनदं सनकं तथा ।
सनातनं मुनिश्रेष्ठा नैष्कर्मेण गतः परम् ॥९ ॥
बभुं सनत्कुमारं च ससर्जादौ सनातनः ।

द्वदिताऊर्ध्वरितसौ द्विव्यौ चाग्रजौ ब्रह्मवादिनो ॥ १३ ॥
वायुपुराण—"सनक सनन्दन सत्कुमार ।

७. तन्त्रालोक (स्वच्छन्दतंत्र १०/५२०) श्लोक १५६ आ० ८
(सनकश्च सनन्दनश्च सनत्कुमार सनन्दनः ॥"

८. अथर्वशिर, जाबाल्यु. मैत्रायणी, भस्मजाबालि., कैवल्य, कालाग्निरुद्रोपनिषद् ।

९. तत्रैव

१०. तत्रैव ५४-५५

११. जाबाल उपनिषद्, ११,१५, भस्मधारण और महापाशुपतव्रत प्रकरण ।

१२. शतरुद्रीय जपविधि, २५ । यहां शतरुद्रीय की परम्परा मिलती है ।

१३. मैत्रायणी उपनिषद्, ७/८ "अथ ये चान्ये ह वृथा कषाय कुण्डलिनः कापालिनः", । ।

१४. मैत्रायणी उपनिषद्, ६/१०, ६/१८, ६/२१,२५
मैत्रायणी संहिता २/२/१ तत्पुरुषाय विद्महे। महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्र प्रचोदयात् ।
हम उस पुरुष को जानते हैं, महादेव का ध्यान करें । रुद्र हमें प्रेरित करें ।
यहां उत्तर वैदिक काल में शिव भक्ति के साक्ष्य हैं जहां उक्त भक्त को उस परम पुरुष का बोध है जिसके प्रति उसकी भक्ति है । उनसे रक्षा, शक्ति, तेज प्राप्त करने की प्रार्थना है । मैत्रायणी संहिता कृष्णयजुर्वेद भी है इसमें रुद्र-शिव तत्पुरुष महादेव के प्रति भक्ति के विचार हैं जो परम सत्ता रूप हैं ।

७.

श्वेताश्वतर की पाशुपत-परम्परा का अन्य भारतीय दर्शनों में प्रस्थान

परवर्ती उपनिषदों में प्रवाहित पूर्वोल्लिखित पाशुपत-धारा शतरुद्रीय और श्वेताश्वतर परम्परा की ही एक धारा है ।[१] पूर्व बुद्धयुग में उपनिषदों के काल के अवसान के सन्धिस्थल पर ही न्याय, वैशेषिक और योग तथा सांख्य दर्शनों के उदय के साक्ष्य प्राप्त होते हैं । न्याय के संस्थापक अक्षपाद का समय तृतीय-चतुर्थ ई. तथा कुछ लोगों के मतानुसार १५० ई. पू. रखा गया है ।[२]

श्वेत की शिष्यपरम्परा

वैशेषिकों के प्रणयन का श्रेय महेश्वर भक्त कणाद को है ।[३] वैशेषिक सूत्रों की रचना का समय तीन सौ से चार सौ ईसा पूर्व माना जाता है ।[४] न्यायदर्शन के प्रणेता अक्षपाद गौतम माने जाते हैं ।[५] कणाद और गौतम के दार्शनिक सम्बन्ध का भी उल्लेख प्राप्त होता है ।[६] वायुपुराण एवं वा.सं. में कणाद और अक्षपाद गौतम को श्वेत की परम्परा का पाशुपताचार्य कहा गया है । वे सोमशर्मा के शिष्य थे जो इसी परम्परा के पाशुपताचार्य थे तथा गौतम अक्षपाद और कणाद् से पूर्व हुए । सोमशर्मा प्रभासतीर्थ वासी थे, जिन्होंने सोमनाथ अथवा सोमसिद्धान्त का प्रणयन किया था ।[७]

श्वेताश्वतर द्वारा प्रवर्तित पाशुपत धारा का विकास वैशेषिक, न्याय, सोमनय, सांख्य योग में नवोदित दार्शनिक चिन्तन के परिवेश में भी होता है, जिनके प्रणेता और संस्थापक तथा विचारक पाशुपताचार्य थे ।[८]

सोमनय

इस मत के प्रणेता सोमशर्मा, पाशुपताचार्य थे जो प्रभासतीर्थवासी थे ।[९] अक्षपाद, कणाद, उलूक एवं वत्स उनके शिष्य थे । सोमशर्मा श्वेताश्वतर की परम्परा के आचार्य

और लकुलीश के पूर्ववर्ती थे । उनकी चर्चा नैयायिक वैशेषिक, और बौद्धों के साथ हुई है । चीनी ग्रन्थों में न्याय-सोम या सोम-सिद्धान्त की चर्चा है । अक्षपाद से पूर्व न्याय की आधारशिला सोमशर्मा ने ही रखी ।चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य और अभिलेखों में सोमसिद्धान्त की चर्चा प्राप्त होती है और सोमनय की पाशुपत-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है । इन साक्ष्यों में सोम-सिद्धान्त से सम्बद्ध कापालिकों व पाशुपताचार्यों के नाम भी मिलते हैं ।[१०अ] ऐसा प्रतीत होता है कि सोमशर्मा एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे । इन्होंने द्वितीय शती में सोमनय की स्थापना की ।[१०ब] उस सम्प्रदाय में उमासहित चन्द्रशेखर शिव की उपासना के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं ।[१०स] सातवीं आठवीं शती में दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश एवं उड़ीसा का कुछ भाग) में पाण्डुवंशी एवं सोमवंशियों के समय-शिवगुप्त के काल में सिरपुर में बलेश्वर अहारक मन्दिर में सोम सिद्धान्ती पाशुपतों की परम्परा मिलती है । वहां एक तपोवन एवं मठिकां के विद्यमान होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं । साथ ही उनके लेखों में सोमशर्मा की परम्परा के आचार्य रुद्रसोम के शिष्य तेज सोम व उनके शिष्य भोमसोम का उल्लेख हुआ है । जो लकुलीश की परम्परा से सम्बद्ध थे । उक्त सोमवंशी आचार्य पुराणों में उल्लिखित शिव के अवतार ब्राह्मण सोम शर्मा से सम्बद्ध हैं । लकुलीश जिनके यहाँ अवतरित हुए इनका समीकरण प्रभास पट्टन के सोमशर्मा एवं स्वर्ण सोमनाथ मन्दिर से स्थापित किया गया है जो पाशुपत केन्द्र था । महाशिवगुप्त ने अपने लेख में अपने को परममाहेश्वर कहा है । यहां के सोम सिद्धान्तिन् कापलिक एवं महाव्रतधरों से भी सम्बद्ध थे ।[१०द]

न्याय

अक्षपादगौतम पाशुपतों के न्याय-सिद्धान्त के प्रथम शिक्षक थे, उन्हें न्यायसूत्रों के लेखन का श्रेय है । गौतम को शिव का शिष्य और योगावतार कहा गया है ।[११] संभवतः उनका दर्शन कणाद का पूरक है जो वैशेषिक दर्शन के संस्थापक थे ।[१२] न्याय की यह पाशुपत धारा भासर्वज्ञ के समय चरमोत्कर्ष पर थी जो पाशुपताचार्य थे ।[१३] विशुद्धमुनि के यम प्रकरणों में जो पाशुपत चर्या से सम्बन्धित है गौतम का उल्लेख हुआ है ।[१४] वत्स को सोमशर्मा का शिष्य कहा गया है ।[१५] न्याय की धारा का जन्म ३०० ईसा पू. तथा गौतम का समय १५० ई. माना जाता है ।[१६] इस धारा पर पाशुपतों का प्रभाव सदैव रहा है ।[१७]

वैशेषिक

इस दर्शन के प्रणेता कणाद् सोमशर्मा के शिष्य तथा पाशुपत योगावतार थे ।[१८] उन्हें कश्यप गोत्र में उत्पन्न कहा गया है ।[१९] कणाद् ,कणभुक, कणभक्ष, कणव्रत उनके अपर नाम थे ।[२०] उई महोदय उलूक को कणाद् का अपर नाम मानते हैं- इसीलिये उन्हें उलूक वेषधारी कहा गया है ।[२१] प्रमा-राजीत्वाधिगम आदि सिद्धान्तों का समावेश

वैशेषिकों में श्वेताश्वतर के प्रभाव के कारण हुआ है।[२२] औलूक्य दर्शन के अन्तर्गत पाशुपतयोग और श्वेताश्वतर के दो मन्त्रों का उल्लेख है।[२३] कणाद महेश्वर के शिष्य थे जिनका उल्लेख श्वेताश्वतर में है और महेश्वर पाशुपतों के आराध्य पशुपति रुद्र का ही नाम था। महेश्वर मत के नाम से पाशुपतमत प्रचलित था।सम्पूर्ण वैशेषिक धारा ही पाशुपत है।[२४] कणाद का समय ४०० ई. पू. के लगभग माना गया है।[२५]

सांख्य-योग

कपिल, आसुरि, पञ्चशिख और जैगीषव्य पाशुपत योगावतार कहे गये हैं,[२६] जो सांख्य की प्रथम धारा के संस्थापक और शिक्षक थे।[२७] कपिल सांख्य के प्रणेता थे।[२८] उनके शिष्य आसुरि थे।[२९] आसुरि के शिष्य पञ्चशिख थे[३०] जो धर्माचार्य और शिव के योगमार्ग का अनुसरण करने वाले कहे गये हैं।[३१] जैगीषव्य पञ्चशिख के परवर्ती थे,[३२] जिनका समय ५२५ ई. पू. माना गया है उनका भी सम्बन्ध पाशुपत योग से था।[३३] प्राचीनतम उपनिषदों के मध्य काल में सांख्य की उत्पत्ति मानी जा सकती है।[३४] श्वेताश्वतर में विवेचित त्रिवृत्त-प्रकृति आदि सिद्धान्त ही सांख्य दर्शन के आधार बने।[३५] सांख्यकारिका पर श्वेताश्वतर का प्रभाव है।[३६] वस्तुतः सांख्ययोग की प्रथम धारा पाशुपताचार्यों की है जिस पर श्वेताश्वतर का प्रभाव है और इस प्रभाव के कारण ही सांख्ययोग का विकास होता है।[३७] कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, जैगीषव्य आदि शिवयोगी कहे गये हैं। जैगीषव्य का नाम पाशुपताचार्य के रूप में परिगणित है।[३८] शैवागमों के अन्तर्गत सांख्य का उल्लेख है।[३९]

श्वेत की पाशुपत-परम्परा और माहेश्वर मत का प्रसार

उपर्युक्त विवेचन के स्पष्ट होता है कि लकुलीश से पूर्व लगभग २०० ई. पू. तक श्वेताश्वतर की पाशुपत धारा पाशुपताचार्यों द्वारा सोमनय, वैशेषिक, न्याय, सांख्य-योग एवं परवर्ती उपनिषदों में विखर कर विकसित होती गयी। इस काल तक श्वेताश्वतर के महेश्वर-पशुपति रुद्र की आगम पाशुपतधारा में योग एवं चर्या का भी विकास हो चुका था। इस तथ्य की पुष्टि पाणिनि[४०], पतञ्जलि[४१], वादरायण के ब्रह्मसूत्र,[४२] मेगास्थनीज एवं एरियन के इण्डिका[४३] मे निहित उल्लेखों से होती है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण धारा ही श्वेताश्वतर की पाशुपत धारा थी जिसमें चर्या, यम-नियम, और चिन्हों का विकास हुआ। इसी मत को ब्रह्मसूत्र में विवेचित किया गया। अधोलिखत उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।[४४] इसी कारण तत्कालीन धार्मिक दार्शनिक व साहित्यिक परम्पराओं में परम्परागत पाशुपत मत सर्वाधिक चर्चित रहा।

सन्दर्भ

१. सूत संहिता भाग १, ज्ञानयोग खण्ड २. कैलाश शिखर के पाशुपताचार्यों का उल्लेख है-

आत्मविद्यारतः श्रीमान् श्वेताश्वतर पुत्रकः ।
श्वेताश्वतर शाखायाः श्रद्धयैव प्रवर्तकः ॥ १/२३ ॥
शतरुद्र समाख्यश्च शतरुद्रिय भक्तिमान् ।
पञ्चप्रस्थान हेतुज्ञः श्रीमान् पञ्चाक्षर प्रियः ॥ १/२४ ॥
शिव संकल्प भक्तश्च शिवसूक्तश्चप्रवर्तकः ।
लिङ्ग सूक्तप्रियं साक्षात्कैवल्य उपनिषदः ॥ १/२५ ॥
जाबालाध्ययनध्वस्त पाय पञ्जरसुन्दरः ।
मैत्रायणश्चश्रुति महामैत्रायणोमुनिः ॥ १/२६ ॥
वाष्कलाध्ययनप्रीतः शाकलाध्ययनेरतः ।
सर्वेशमदमोपेताः शिव भक्तिपरायणाः ॥ १/२८ ॥
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मोद्दूलितविग्रहाः ॥ १/२९ ॥

२. प्री दिग्नाङ्ग बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स आन लाजिक फ्राम चाइनिज सोर्सेज, २८-२९.
हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० ५० पैराफर्नेलिया ।
जापानी विद्वान एच० वूई चौथी तीसरी शदी ई० तथा साली की
तिथि ३००-३५० ई० ।

३. योगाचारविभूत्यायस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिक शास्त्रं तस्मै कणभूजे नमः ॥ प्रशस्त पाद भाष्य, पदार्थधर्म संग्रह
महिमतां प्रवरोवृषध्वजः । कण भुगादिमुनिप्रवरः प्रभु । संक्षेप शारीरक, ३/२/६३

४. प्रीमियर आफ दी लाजिक, इन्ट्रोडक्शन

५. "अथ (२) भगवताऽक्षपादेन निः श्रेयसहेतौ-
शास्त्रे प्रणीते व्युत्पादितो च भगवता । (३).."
न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका- वाचस्पति मिश्र, अ० १, भाग १, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला ।

६. षडेवेत्थं परार्था हि कणादेनोपवर्णिता ।
त एव गौतमे नोक्ताः मानमेयादिरूपिणः ॥— परार्थतत्वनिर्णय, आनन्दानुभव (न्यायकलाविधिप्रणेता)

७. सप्तविंशो यदा व्यासो जातूकर्ण्यो भविष्यति ।
प्रभासतीर्थमाश्रित्य सोमशर्मा तदाप्ययम् ॥४१ ॥
तत्रापि मम ते शिष्याः भविष्यन्ति तपस्विनः ।
अक्षपादः कणादश्चोलूको वत्सस्थैव च ॥ ४२ ॥(वा०सं०,अ० ४;
वायुपुराण अ० २३/२१९,२०,२१.

८. देखिये "सोमसिद्धान्त" हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नादर्न इण्डिया फ्राम इन्सक्रिप्सन्स-डॉ.. वी०एस०पाठक, जुलाई १९८०.

९. शिवपुराण, वा.सं. उत्तर भाग शिव के योगावतार; वायु पु. अ. २३/२१९ २०,२१; कूर्म पु. भाग २ अ. ३, शिव के २८ योगावतार ।
विशुद्धमुनि कृत आत्मसमर्पण (गणकारिका-रत्नटीका- भासर्वज्ञ, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज) द्रष्टव्य भाग ३ इसी ग्रन्थ में ।

१०. द्रष्टव्य "हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, डॉ.वी. एस. पाठक ।

१०अ. द्रष्टव्य शैव कल्टस इन नार्दर्न इंडिया, डा. वी.एस. पाठक ।
नैषधचरित १०/८७; प्रबोध चन्द्रोदय, अङ्क ३; विद्यापरिणयन, अमृतोदय २.२५; वात्स्यायन न्यायभाष्य (जे. आर एस. बी. २६/९३०) सुप्रभेदागम, स्वयं भूपुराण अकुलवीरत्न्त्र तत्वसिद्धान्त भाट यत्तु गम शा. मेऊण्डी अभिलेख– सी. आर कृष्णमाचारियर ५/२/१२/२२, वशिष्ठ व लिङ्गपुराण, कुमार पाल ११६९ ई. क प्रभासपट्टन, अभिलेख, वी. आर ८६-८७; भीम II की वेरावल प्रशस्ति (वी.आई. पृ. १८६-८७); छत्र चण्डेश्वर अ. आई;. तन्त्राधिकार निर्णय, सूत्रसंहिता, वीरमेत्रोदय वा. सा. ५.१४१.

१०ब. शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इंडिया ।

१०स. प्रबोध चन्द्रोदय, अङ्क ३,

१०द. बलेश्वर भट्टारक ए हिर्थेतो अननोन शैव इस्टब्लिस्मेन्ट एट सिरपुर- अजयमित्र शास्त्री जर्नल आफ दी एपीग्राफीकल सोसाइटी आफ इंडिया वा. १८, १९९२.

११. वायु. अ. २३; पद्म पु; दासगुप्ता, भारतीय दर्शन भाग ५; न्याय वार्तिक तात्पर्यटीका, भाग१, चौ.सं. ग्रन्थमाला;कूर्म पु. भाग २, अ. ३; विशुद्धमुनि-आत्म समर्पण, न्यायसार भूमिका, न्यायदर्शनम्, श्रीनारायण मिश्र भू. पृ. १९.

१२. न्यायसार की भूमिका—भासर्वज्ञ, पृ. ३

१३. न्यायसार की भूमिका, — भासर्वज्ञ, पृ. ७-१३ तक, १० द. संग्रह पृ. ४; न्याय दर्शनस्य पाशुपतत्वेनाऽप्रसिद्धेः पाशुपतदर्शनस्य न्यायप्रस्थानाऽऽरूढ़ त्वम्प्रायेणेत्य न्यदेत् ।

१४. गणकारिका, भासर्वज्ञ ।

१५. वायवीय संहिता, अ. ४/४१,४२.

१६. न्यायसार की भूमिका, महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शनम् (वात्स्यायन भाष्य सहित, चौ.सं.सं. सम्पादक—श्रीनारायण मिश्र, भूमिका, पृ. १९.

१७. न्यायकुसुमाञ्जलि-उदयनाचार्य, भा.वि. प्रकाशन वाराणसी १९६८, श्रीनारायण मिश्र प्रथम स्तम्बक "स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपता शिवइति शैवाः ।"

१८. वा.स. ,अ. ४/४१,४२; वायु.पु. अ. २३/१३१,३२; युक्तिदीपिका, चन्द्रकान्त भाष्य; पृ. '५; प्रशस्त पाद भाष्य—वैशेषिक दर्शनम्-पण्डित दुण्ढिराज शास्त्री कृ. पृ. ७ चौ.स.सी. । योगाचार विभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ॥ (प्रशस्त पादभाष्य, समवाय प्रकरण; पद्म पु.— कणादेन तु संप्रोक्त शास्त्र वैशेषिकं महत्

"काणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोज्ञमेतत् ।" युक्तिदीपिका का उद्धरण; किरणावली पृ.५; न्यायलीलावती भू.पृ.२; मि.वि.स. की प्रस्तावना पृ. १६.

१९. प्रशस्तपाद भाष्य वै.दर्शन प्रस्तावना, व्योमवती पृ. ग १९; ष.द. स. का. १३,५,९; किरणावली —उदयनाचार्य ।

२०. व्योम शिवाचार्य - व्योमवती पृ. २० (चौ. प्रकाशन); न्यायकन्दली पृ. ४; वैशेषिक सिस्टम— उई महोदय, पृ. ६.

२१. वैशेषिक फिलासाफी— उई, व्योमवती पृ. १४; वैशेषिक सू. वृ.; वै.द.वृ. २/१/१२,;नै. च. प्रकाश २२/३६; राजशेखर— न्यायलीलावती, भूमिका पृ. २; चन्द्रकान्त भा. पृ. ५ (गुजराती प्रेस) ।

२२. वैशेषिक दर्शन की भूमिका—अनन्त लाल ठाकुर (बड़ौदा) चन्द्रानन्द वृत्ति सहित ।

२३. सर्वदर्शन संग्रह—औलूक्य दर्शनम् "यदा चर्मवदाकाशं...भविष्यति (श्वेता. में प्राप्त होता है) "आगमेनानमानेन ध्यानाभ्यास बलेन च। त्रिधा प्रकल्पय-प्रज्ञां लभतेयोगमुत्तमम् ॥" यह मन्त्र श्वेता., के आगम — परम्परा की ओर संकेत करता है । उलूक परमयोगी , वा.पु. अ. २३/१३१,३२.

२४. षड् दर्शनसमुच्चय—हरिभद्र "वैशेषिकास्तु पाशुपता इति । तेनं नैयायिक शासन शैवमाख्यायते, वैशेषिक दर्शनं च पाशुपतं इति ।"

२५. वैशेषिक के विषय में उल्लेख मिलिन्दपन्ह में मिलता है । मिलिन्द का समय १५० ई. पू. है । इन्डियन लाजिक इन अर्ली बुद्धिज्म पृ. १२ राना डे स्कूल्स; न्याय से पूर्व वैशेषिकों की परम्परा थी (याकोबी, जर्नल आफ अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी १००; डा. कुप्पू स्वामी शास्त्री ने ४०० ई. पू. के लगभग वैशेषिक सूत्र का निर्माण काल माना है । (प्रीमियर आफ इण्डियन लाजिक, पृ. १२, (भूमिका) ।

२६. शिव पु. वा.स. उत्तर भाग; वायु पुराण अ. २२,२३; कूर्मपु. अ. ५, भाग २; भा.पु. अ. २; महाभारत की सूची में भी यही क्रम है । योसू. व्यास ३/१८.

२७. यो.सू. १/१२५ पर भाष्य; श्वेता. ५/२; श्रीमद् भागवत पुराण १/३/११, ३/२५; ब्रह्मसूत्र २/१/१ पर शाङ्करभाष्य; वायु पु.; कपिल आंसुरि, पञ्चशिख, जैगीषव्य का नाम छान्दोग्य उ. में 'काप्य पातन्जल' नाम आता है। सांख्यकारिका (तत्वकौमुदीसहित), रमाशंकर भट्टाचार्य "कपिलाय महामुनये शिष्याय तस्यासुरये । पञ्चशिखाय ततेश्वर कृष्णायैते नमस्यामः ॥ २ ॥ —महा.भा. , शा. प. २१८.
"तत्र पञ्चशिखोनाम कापिलेयोमहामुनिः ॥६ ॥
आसुरे प्रथमं शिष्या यमाहुः चिर जीविनाम् ॥१० ॥

२८. महा.भा. ,द्रष्टव्य १०.

२९. ऐतिहासिक व्यक्ति थे—पं. गोपीनाथ कविराज—जयमङ्गला की भूमिका, पृ. ३; भा.प्र., १/३/११.

सांख्यकारिका ७० "एतत्पवित्रमग्रयं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ । आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७० ॥

सां.का.पर गौडपाद भाष्य "सनकश्च सनन्दनेश्च तृतीयश्च सन्नतनः ।
आसुरि कपिलश्चैव वोढुः पञ्च शिखस्तथा ॥ यो.सू. , व्यास, ३/१८.
वृ. उपनिषद्, २-७-५-३, २८/८/५/२ में आसुरि नाम स्थान पर प्राश्नीपुत्र के वंशज को आसुरि नाम से जाना जाता है । विशुद्धमुनि के यम प्रकरण (आत्म समर्पण) में श्वेत की परम्परा में आसुरि व जैगीषव्य का नाम पाशुपतयोगावतार के रूप में है ।

३०. आचार्य पञ्चशिख वृद्धपराशर के पूर्वज व जैगीषव्य के गुरु थे ।

३१. भा.पू. १, १/३/१०; कूर्म पु. द्वितीय अ. ५ में महेश्वर के शिष्य; वायु. पु., २२/२३, ३२ में योगावतार कहे गये हैं । न्यायसूत्र वार्तिक तात्पर्य टीका ३/२/४३ में वाचस्पति मिश्र ने इन्हें धारण शा. का लेरवक कहा है । म. भा. १२/३२०/२४ में पराशर गोत्रीय कहा गया है । महाभा. १२/२/८; सां.सू. ५/३२, ६/६८ में पंचशिख का नाम है ।

३२. वायु.पु. अ. २२; महाभा. शान्तिपर्व; बुद्धचरित १२/६७— अश्वघोष; योगसूत्र व्यास, ३/१८, २/५४; न्यायसूत्र ३/२/५४; न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में धारणा शा. का लेखक माहमक १२/३२१,२४.

३३. विशुद्ध मुनि—आत्मसर्पण, पाशुपत योगावतार; वायु.पु.अ. २३/१३१,३२; महाभा. १२/३२३.

३४. कपिल का समय ७०० ई. पू. सांख्यतत्व कौमुदी, भूमिका पृ. २३; डा. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर । इन्ट्रोडक्शन गाट, इण्डियन फिलासफी, पृ. २१.

३५. सांख्य का मूल श्वेता. में ६/१३,१/४,१/८,५/२,१/३,१/४,४/१७,४/१०,६/१३, १/९, १०, १३, से ही सांख्य का विकास, कीथ, शि. प्र.वा. सं. उ. अ. ३१, ९/११, ट् वेल्व उपनिषद् स ई. रोअर ।

३६. मङ्गलाचरण— सांख्यतत्व कौमुदी; सां.का. १,३,११,१७,२२,३४,५५,५६,६९, द्रष्टव्य ।

३७. श्वेता. ६/१३, ५/२; गी. ५/५; महा.भा. १२/३०६, ४६, ४३, २६, सांख्ययोग की इस धारा पर श्वेता. का प्रभाव ।

३८. सांख्य की प्रथम धारा जो सांख्य योग की थी पाशुपत धारा से सम्बन्धित थी । —यमप्रकरण ।

३९. शिवपु. १०० सं. उ. भा. अ. ९/११; अमरकोष १/५/३; यो.सू. १/१२५; यमप्रकरण ।

४०. अष्टाध्यायी भा २, अ. ५ अ. २-७६ मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली १९७७-"अयः शूल दण्डाजिनाभ्यां उक्-उञौ ॥७६ ॥ पदानि ॥ अयः शूल, दण्डाजिनाभ्याम् ठक् ठञौ ॥

अन्विच्छति इत्येव । अय शूलदण्डाजिनाभ्याम्, तृतीय समर्थाभ्याम् अन्विछति इत्येतस्मिन्नथे ठक्-ठञौ प्रत्ययौ भवतः तीक्ष्ण उपायः अयः शूलमुच्यते तेनान्विच्छति अयः शूलिकः । साहसिक इत्यर्थः । दम्भः दण्डाजिनम् । तेनान्विच्छित दण्डाजिनिकः । दाम्भिक इत्यर्थः । — काशिकावृत्ति ५/२/७६.

४१. पतञ्जलिमुनि विरचित महाभाष्य खण्ड ४, संस्करण प्रथम निर्णयसागर १९४२ ५/२/७६ अयः शूलदण्डाजिनाभ्या ठक्-ठञौ ॥

किं योऽयः शूलेनान्विच्छति स आयः शूलिकः किं चातः ?
शिवभागवते प्राप्नोति (उद्योत) भक्तिः -सेव्यः । कर्मणि कित् । शिव भागवताः । कापालिकाः । ते हि शूलहस्ता प्रायेण भिक्षा चरन्ति ।
अर्थात् शूलधारी शिवभागवत थे । जो भिक्षावृत्ति पर निर्भर रहते थे । पाणिनि कात्यायन का सहपाठी तथा मुनि व्याडि का भागनेय था । कात्यायन का समय ३०० ई. पू. से पहले का है अतएव पाणिनि का भी वही समय होगा । पं. भगवदत्त—भारत वर्ष का इतिहास, भाग २. पतञ्जलि का समय २०० ई. के लगभग था महाभाष्य ७/२/२३ में "महीपाल वचः श्रुत्वा सुदधुः " पुष्यमित्र के छठे धनदेव (१) की अयोध्या लिपि में "द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य" से ज्ञात होता है कि पतञ्जलि पुष्यमित्र के समय था ।

४२. ब्रह्मसूत्रों के रचयिता काश्यप, वादरिया वादरायण थे । शां. भा. सू. २.१.३,४.५ में उन्हें भक्तिपरम्परा का आचार्य कहा गया है । पाणिनि सू. ४/३/११० के अनु. वादरायण ही पराशर थे जिन्हें भिक्षु सूत्र या वेदान्त सूत्र का रचयिता कहा जाता है । वादरायण का समय ५००-२०० ई.पू. है । — राधाकृष्णन् भा.सू. भाग २ ।
ब्रह्मसूत्र, २/२-३७ के "पत्युरसामत्" पत्युः अधिकरण में पाशुपतों की चर्चा है । शाङ्करभाष्य (ब्र.सू. भा. शास्त्री) में इसे महेश्वर मत कहा गया है ।
अमरकोश में "शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः " से प्रतीत होता है कि महेश्वर मत पाशुपतों का था । श्वेताश्वतर के पूर्व विवेचन से यह तथ्य प्रक्ट हो जाता है कि पशुपति -रुद्र महेश्वर मत ही पाशुपत था जिसमें पाणिनि एवं पतञ्जलि के समय में चर्चाओं का विकास हो गया था । २/२/३८. श्रीकंठ भाष्य आन -ब्रह्म सूत्राज— रोमा चौधरी (औरिएण्टल लनिगं इन्स्टीच्यूट कलकत्ता १९५९) पृ. २११ में इस मत को पाशुपत तथा आगम और वेदों से सम्बन्धित बताया गया है ।
सर्वदर्शन संग्रह में "केचन माहेश्वरा" एवम् "परे माहेश्वरा" उल्लेख के साथ इन्हें पाशुपत कहा गया है ।
शङ्करदिग्विजय के आनन्दगिरि ने इसी शैवमत का पाशुपत नाम से वर्णन किया है । उत्तरमीमांसा सूत्र में ब्र.सू. द्वितीय २/३७ को पाशुपत मत कहा गया है । भाग २,अ. २.३७-४१ में पाशुपत सम्प्रदाय की ही चर्चा है जिसे शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में पञ्चार्थ कहा है, (कार्य, कारण, योग, विधि-दुःखान्त) । यही मत आगे चलकर -लकुलीश पाशुपत (मुख्यधारा), कालमुख, योग, शैव नैयायिक, अथवा शैव, पाशुपत, कापालिक, कारुणिक या करुण सिद्धान्ती जैसी धाराओं में बंट गया ।
—(पाशुपत सूत्र कौण्डिन्य भाष्य की प्रस्तावना, पृ. ५ आर.अन्नतकृष्ण शास्त्री)

४३. इण्डिका -एरियन, पृ. ७३६ ग्रीक हिस्टोरियन्स भाग २ "सिवियन्स एण्ड इन्डियन रेस विकाज दे सा दि इनहैवीटेन्ट्स क्लोथ्ड इन स्कीन्स......दी सिवियन्स आल्सो वैरी कडगेल्स एण्ड फीगर आफ ए क्लब ब्रैन्डेड अपान आवक्सेन दिस टू दे एक्सप्लेण्ड टू बी ए कामोरेशन आफ दि क्लब आफ हेरेक्लीज ।"

यहां शिवियों का सम्बन्ध शिवपूजा से था जो शैवोपासक थे । बैल और लगुड़ उनके चिन्ह थे । इस देवता की पूजा पर्वतीय क्षेत्रों में प्रचलित थी जहां सोम उगता था । मेगास्थनीज के समय में जिस शैव पूजा के साक्ष्य मिलते हैं- (इलिअट हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग २ पृ. १३७-३८) वे भी पाशुपतों से सम्बन्धित हैं ।

४४. पाणिनि एवं पतन्जलि द्वारा उल्लिखित शूलधारी भिक्षावृत्ति पर आश्रित शिवभागवत पाशुपत थे (कम्प्रहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया —नीलकंठ शास्त्री पृ. ३४७) ।

पातञ्जल योग सूत्र, साधन पाद ॥२९ ॥

यम नियमासन, प्रायाणाम, प्रत्याहार धारणा । श्वेता. के योग २/८,९,१०,१३ से प्रभावित है ।

विशुद्धमुनि का यम प्रकरण पतञ्जलि योग के यम-नियम से सम्बन्धित है । पातञ्जल मत योग के कारण पाशुपतों से सम्बन्धित था ।द्र. महाकालेश्वर टेम्पुल इन्सक्रिप्सन उज्जयिनी (११वीं. शदी) नं. ८ । "इन्वोवेन्टरी वर्सेस् फ्राम इन्सक्रीप्सशन्स, भाग २

"नित्यं व्यापकमेकमुज्ज्वल ज्योतिः स्फुरद्रत्न वद् ।
योगोन्मीलितमीलितेक्षणवयः पश्यन्ति पातञ्जलाः ॥"

योगशास्त्र में ईश्वर का प्रत्यय भी उसी प्रकार का है जैसा कि पाशुपतों में । पा.सू. ४/१/४९, ११२ में शिव के रुद्र आदि नाम तथा शैवोपासकों का उल्लेख है । ४/२/१०४ में उद्दीच्य ग्राम शिवपुर का उल्लेख । महामयूरी ने शैवोपासक ग्राम को शिवपुर कहा है । लेवी ने शिवपुर को शिव ग्राम से मिलाया है जिसे यूनानी लेखकों ने शिब्वाय कहा है । (जे.ए.वी. १९१५ पृ. ३७७) ।

इनका सम्बन्ध शिवगणों से था (वेबर "इण्डिस्की स्टडियन, भाग १३, पृ. ३४७) ।

८.

पाशुपत धर्म-दर्शन का नवोन्मेष और माहेश्वर योगावतार लकुलीश का आविर्भाव

सोमशर्मा के पश्चात् महेश्वर शिव के अट्ठाईसवें योगावतार लकुलीश या नकुलीश का नाम आता है।[१] पुराणों के अनुसार उनका अवतरण बड़ौदा राज्य के डभोई तालुकान्तर्गत कारवण तीर्थ के उलका ग्राम में हुआ था।[२], राशिकर के अनुसार उन्होंने अपना प्रथम उपदेश उज्जैन में दिया।[३] भण्डारकर एवं डॉ. विश्वम्भर शरण पाठक ने उन्हें एक ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध किया है।[४] श्री भण्डारकर ने "लकुलीश" को पाशुपत सम्प्रदाय का संस्थापक कहा है।[५] तथा डॉ. पाठक महोदय ने पाशुपतों के संस्थापक का नाम श्रीकंठ बताया है।[६] जिनका उल्लेख महाभारत एवं अन्य ग्रन्थों में है।[७] किन्तु ध्यातव्य है कि श्रीकंठ एवं लकुलीश को शिवशासन का प्रणेता या संस्थापक कहा गया है।[८] शिवशासन का अर्थ शैवागम, पाशुपतागम या लकुलीश एवं महाभारत के श्रीकंठ के पूर्व की पाशुपत धारा से माना जाय इसका कोई साक्ष्य नहीं प्राप्त होता है। इस विषय पर आगे विचार किया जायेगा। भण्डारकर महोदय ने मथुरालेख (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के आधार पर लकुलीश की तिथि प्रथम शदी माना था[९] किन्तु आर.जी.भण्डारकर ने दूसरी शदी ई. पू. की ओर संकेत किया है। डॉ. पाठक ने इस मत का समर्थन किया है।[१०]

वस्तुतः लकुलीश को एक संगठन कर्ता मानना चाहिये। दो सौ ई. पू. के आस-पास पाशुपत धारा परवर्ती उपनिषदों योग उपनिषदों, न्याय, वैशेषिक सोमनय, सांख्य आदि में विखरी हुई थी। पाणिनि एवं पतञ्जलि तथा वादरायण ने इस सम्प्रदाय का उल्लेख किया है जिसका विवेचन पहले हो चुका है। पाशुपत धारा के विखरे हुये परिवेश को संगठित करके इसका नवपुनरुत्थान एवं नवोन्मेष के द्वारा लकुलीश ने इसके विकास को एक नयी दिशा दी। शैवों-पाशुपतों, श्रीकंठ, सोम[११] आदि के उल्लेखों से प्रकट होता है कि लकुलीश के समय में ही पाशुपत धारा अनेक शैव सम्प्रदायों में विभाजित हुई। किन्तु मुख्य धारा के प्रवर्तक लकुलीश थे। पाशुपत सूत्रों के प्रणयन का श्रेय उन्हीं

को है।[१२] लकुलीश की ऐतिहासिकता अभिलेखों व अन्य पुरातात्विक साक्ष्यों से भी प्रमाणित होती है।[१३]

सन्दर्भ

१. वायु. पु. अ. २३; लिङ्गपु. अ. २४; कूर्म पु. द्वितीय भाग १/५३, ४, १२; शिवपुराण वा. सं. उत्तर भाग २/५-९, लकुलीश महात्म्य, कारवण महात्म्य, शिवप्रसूतिसर्ग (वायुपुराण)। विशुद्ध मुनिकृत आत्मसमपर्ण, सर्वदर्शन संग्रह (लकुलीश दर्शन) राजशेखर, व हरिभद्र षड्दर्शन समुच्चय, यामुनाचार्य –आगम प्रमाण्य पृ. २६; तन्त्रालोक आ. ८/२०४; भा. वि. ५/१७; स्व. तं. १०/८५४, तन्त्रालोक अ. २३ पृ. ३४०, तन्त्राधिकारी निर्णय पृ. २ उद्धरण (शैवकल्ट इन नार्दर्न इण्डिया)।

२. गणकारिका कारवणमहात्म्य (वायुपुराण से)।
"अमरगणनिषेव्यः सर्वसिद्धि प्रदाता कलियुगमवतीर्णः कायरूपीमहेशः।
सकलभुवनकर्ता सर्वपापहर्ता दिशतु लकुट पाणिर्वो विभूति प्रसन्नः।
अवतीर्णो ह्यहं भर्त्ये उल्काग्रामे विलोमतः॥

३. पाशुपत सूत्र-पञ्चार्थ भाष्य, अ. १/१ पृ. ३ (खण्ड ३ में है)

४. वैष्णविज्म इत्यादि, कलक्शन, वर्क्स आफ भण्डारकर अ. ४ पृ. १७२; हिस्ट्री आफ शैवकल्ट्स इन नार्दन इण्डिया - लकुलीश, पृ. ७

५. तत्रैव

६. तत्रैव, शैवकल्ट इन नार्दर्न इण्डिया।

७. तत्रैव, शैवकल्ट इन नार्दर्न इण्डिया।

८. तन्त्रालोक १२ पृ. ३९६
"एतद्विपर्ययाद् ग्राह्यंमवश्यं शिवशासनम्।
द्वावाग्रतो तत्र श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलेश्वरौ॥"

९. डी.आर. भण्डारकर - एपीग्राफिका इण्डिका भाग २२. २२

१०. शैवकल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया - पृ. ९, अविनाश प्रकाशन इलाहाबाद।

११. यामुनाचार्य –आगम प्रमाण्य (पृ. २६)।
"शैव पाशुपत सौम्यं लागुडञ्च चतुर्विधन्।
शैव पाशुपत सोमं लाकुलं च चतुर्विधम् सुप्रभेदागम क्रियापाद॥
"पुनः स्वेच्छावतारेषु तन्त्रं पाशुपतं तथा।
लाकुलं सोमतन्त्रं च जगाद परमेश्वरः॥" स्वयंभूतन्त्र-डॉ. पाठक षड्दर्शनसमुच्चय;
"परं शास्त्रेषु नैयायिकाः सदाशिवभक्तवाच्छेवा इत्युच्यन्ते वैशेषिकास्तु पाशुपता।"
राजशेखर (उद्धरण डॉ. पाठक - शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया)।
"शैवापाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा।

तुर्याः कालमुखा मुख्या भेदा ऐते तपस्विनाम् ॥"
सूत संहिता— कापालं नाकुल चैव तयोर्भेदान् द्विजर्षभाः ।
तत्रांधिकानिर्णय तथा पाशुपत सोम भैरवप्रमुखागमान् ।

१२. पाशुपतसूत्र - पञ्चार्थ भाष्य - राशिकर पृ. ३, ४.
भगवान लकुलीश ने उज्जयिनी में अपने शिष्य कुशिक को जो उपदेश किया वे ही वर्तमान पाशुपत सूत्रों के नाम से प्रसिद्ध हैं जिन पर राशिकर ने भाष्य लिखा है ।

१३. डोम्मारा - नन्दूयाल प्लेट आफ पुण्यकुमार (८०० ई.) ।
लकुलीश - जयति धृत चन्द्ररेखं विपुलामत तारकाशुभं लोके ।
गगनमिव सुप्रसन्नं वपुरप्रतिमं लकुटपाणेः ॥
इनवोकेटरी वर्सेस फ्राम इन्साक्रिप्सन्स वाल्यूम २. सत्यनारायण राजगुरू, सरोद प्रेस १९७३ भुवनेश्वर २ पृ. १५ नं. १८; इपी. इण्डि. २७, २६८-७६, १०वां वर्ष भैरवकोण्डा इन्सक्रिप्सन्स आफ विक्रमादित्य इपी. इ. १६, ७८-८१; ए. के व्याहपल्दी इन्सक्रिप्सन आफ मुहिल आटिसिंह वि. सं. ११६३, इपी. इ. ३०, ८-१२; लकुलीश पाशुपत एण्ड देअर टेम्पुलस इन मेडिवल इंण्डिया - बी. पी. मयूमदन जे. वी. आर. एस. ३९, १९५३, १-९, मुनिनाथ चिल्लुक, ई. सी. १२, इन्ट्रो. पृ. ६, २८, २; हुल्स एस. आई. आई. III, इंट्रो. पृ. १८, इ. सी. ७ ।

१.

श्रीकण्ठ-पाशुपतधारा

श्वेताश्वतर से निःसृत पूर्वविवेचित अनेकशः पाशुपतधाराओं की भांति श्रीकण्ठ पाशुपतधारा[१] का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है जिसकी स्थापना श्रीकंठ नामक ऐतिहासिक व्यक्ति ने की थी।[२] श्रीकंठ का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत में है, उन्हें ब्रह्मा का पुत्र भूतपति (पशुपति) या उमापति का शिष्य (भक्त) कहा गया है।[३] ध्यातब्य है कि महाभारत में लकुलीश पाशुपत धारा के प्रवर्तक लकुलीश का उल्लेख नहीं है। अतएव श्रीकंठ को लकुलीश की निर्धारित तिथि २०० ई. पू.[४] से पूर्व और श्वेत के पश्चात् मानना होगा। निश्चित रूप से श्वेत नानागम विधायी थे।[५]

महाभारत से पूर्व की परम्परा में शिव से असंपृक्त उनकी प्रतिरूपा[६] उमा और उमापति के रूप में भूतपति -पशुपति-रुद्र[७] का उल्लेख अम्बिका, अम्बा,[८] शिवा,[९] हेमवती उमा,[१०] हिमवंतपुत्री गौरी,[११] ब्रह्मविद्या,[१२] शक्ति[१३] आदि शक्ति, रुद्र का प्रतिरूप,[१४] पशुपति शिव, उनके पतित्व के कारण उमापति हैं,[१५] उस उमा की उपासना के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। पशुपति रुद्र की देवात्मशक्ति[१६] शिवा,[१७] विद्याशक्ति,[१८], शक्ति[१९], या माया[२०] का ही विवेचन श्वेताश्वतर उपनिषद् में है। जहां शक्ति और पशुपति रुद्र का पार्थक्य नहीं है।[२१] यह मायारूपिणी शक्ति[२२] ईशन् और सृष्टि, स्थिति तथा संहार का आधार है।[२३] जहां ब्रह्म की स्थिति अपने दार्शनिक रूप में द्वैताद्वैत है।[२४] इस प्रकार श्वेताश्वतर ही श्रीकण्ठ की पाशुपत धारा का मूल है। पूर्व में यह तथ्य स्पष्ट किया जा चुका है कि श्रुति सारमयी वैदिक आगमिक पाशुपत धारा का संगम श्वेताश्वतर की धारा में है।

श्वेत से लकुलीश तक के[२५] योगावतारों की परम्परा में श्रीकंठ का नामोल्लेख न होना महत्वपूर्ण है। इसका कारण मात्र यह है कि श्वेताश्वतर की आगमिक पाशुपत धारा शुद्ध वैदिक थी। किन्तु श्वेत के पश्चात् स्वतन्त्र आगमों के विकास के भी संकेत प्राप्त होते हैं।[२६] शिवशासन के नाम से अभिहित पाशुपत धारा स्वतन्त्र धारा होनी चाहिये।

जो श्रीकंठ की पाशुपत धारा है।[२७] इस शैवागम या शिवशासन को गिरिजा या उमा द्वारा परिगृहीत और महेश्वर के मुख से निःसृत माना गया है।[२८] इसी धारा के विशिष्ट पथ का प्रवर्तन श्रीकंठ ने किया[२९] जिसका प्रचलन परम्परा में कश्मीर[३०] से कन्याकुमारी तक शताब्दियों के दौरान रहा।

सन्दर्भ

१. हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. ६

२. हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. ४

३. शान्तिपर्व, अ. ३६४/६७, ६८.

४. हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. ९, पादटिप्पणी ३.

५. "नमःश्वेतऽभिधानाय नानागम विधायिने" मङ्गलाचरण ब्रह्मसूत्र-श्रीकंठ भाष्य।

६. रामायण (बालकाण्ड), निर्णय सागर प्रेस ३५/१५, १९, २०.

७. रामायण (बालकाण्ड), निर्णय सागर प्रेस ४३/२, ३, ४; ब्रह्मपु. ३४/९८.

८. यजु. का. १ सू. ८ मन्त्र ६; तै. ब्रा. १-६-१०.

९. शतरुद्रीय १, २; वासजनेयी संहिता अ. १६.

१०. केन उ., खण्ड ३/१२ (२५)।
"स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभना नामुमा हैमवती ताँ होवाचकिमेतद्यक्षमिति।" खण्ड ४/२६/१ से ३४ तक। उमा का उपदेश शाङ्कर भाष्य, वाक्य विवरण।

११-१२-१३. शाङ्कर भाष्य केन २५; रामानुज (रंगाचार्य भाष्य);
तै. आ. १०-१
"हिमवत्पुत्र्या गौर्या ब्रह्माविद्याभिधानीरूपत्वात् गौरी वाचक उमा शब्दो ब्रह्म विद्यामुपलक्षति।"
तलवरकर उपनिषद् ३८- उमा ब्रह्मविद्या
तलवकार उपनिषद् १८- "अम्बिका जगन्माता पार्वती तस्या भौं-
तस्या भर्गे-तस्या एव ब्रह्मविद्यात्मकेहं"।

१४. रामायण बालकाण्ड. ३५/१५, १९, २०.

१५. रामायण बालकाण्ड. ४३/२, ३, ४.

१६. श्वेता. १/३, ६/१८ ; देवात्म बुद्धि प्रकाश।

१७. श्वेता. ३/५, ६.

१८. श्वेता. ५/१.

१९. श्वेता. ४/१ एकोऽवर्णोबहुधाशक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।

२०. श्वेता. ५/१० "मायां तु प्रकतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।"

२१. श्वेता. ३/१, २४/१, ४/११, १४.

श्वेता. ६/८ " परास्य शक्तिविविधैव श्रूयते स्वाभावाकी ज्ञानबलक्रिया च ।"

२२. उपर्युक्त

२३. श्वेता. ३/१ य एकोजालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत् ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमुतास्ते भवन्ति ॥

२४. श्वेता. ५/१०.

२५. शि. प. उ. भा. वा. सं. २४/१७७-७८.
शिवागमोऽपि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च संस्मृतः ।
श्रुति सारमय श्रौतः स्वतन्त्र इतरः स्मृतः ॥
कुछ आगम शिवोक्त हैं "कामिकादि प्रभेदानां यथादेवो महेश्वरः ।"
ब्रह्मगीता अ. १ "शिवागमेषु चाद्वैत बभाषे परमेश्वरः ॥"
स्वतन्त्र आगम की परम्परा जो महेश्वर से मानी गयी श्वेताश्वतर के बाद भी है । जब माहेश्वर मत पूर्णतः प्रचलित हो गया । माहेश्वर मत श्वेताश्वतर के बाद एक सामान्य नाम के रूप से पाशुपतों में प्रचलित था । बादरि या बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में इसी मत का उल्लेख किया है । अतएव मानना होगा कि ई. पू. २०० में माहेश्वरमत और महेश्वर प्रणीत आगमों की उत्पत्ति हो चुकी थी । इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है ।

२६. तन्त्रालोक "(एतद्विपर्ययाद्) ग्राह्यमवश्यं शिवशासनम् ।
द्वाप्तौ तत्र च श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलेश्वरौ ।– तन्त्रालोक आ. १२/३९६-७.
"तदा श्रीकण्ठनाथाशावसात्सिद्धा अवतरन् ॥
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने ॥" वही, आ. ३६/३८१-८.
"शवतयोस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।
इति मांगल्य शास्त्रे श्री श्रीकंठो न्यरूपयेत् ।"
यहाँ ध्यातब्य है कि पाशुपतों का सामान्य नाम से प्रसिद्ध महेश्वरमत जिसकी चर्चा ब्रह्मसूत्र (५००-२०० ई. पू.) में है उसमें महेश्वर की शक्ति (श्वेता.) उमा अर्थात् द्वयाद्वय की अवधारणा से निःसृत परम्परा ही शिवशासन या स्वतन्त्र शैवागम की धारा है जिसके प्रवर्तक श्रीकण्ठ थे ।

२७. "आगतं शिव वक्त्रेभ्यः गतं च गिरिजामुखे ।"
"पुरासाक्षात् महेशेन श्रीकण्ठाशयेन मन्दरे ।"
"देव्यै देवेन कथितं ज्ञानं पाशुपतं परम् ॥"
"श्रीकण्ठेन शिवनोक्ता शिवाये च शिवागमाः" ॥ शिव पु. वा. सं. ९/३९
(उत्तर भाग) ।

२८. हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. ५, द्रष्टब्य पादटिप्पणी, ५/१-१०, पृ. ६ पादटिप्पणी १-७, पृ. ७. पादटिप्पणी ७-८, ८/५-४.

२९. कैलासाद्रौ भ्रमन् देवी मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥ शि. दृ. ७-१०७ तः ११० ॥

श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवतरन् ।
त्रयम्बकामर्दकाभिरण्य श्रीनाथा अद्वयेद्वये ॥– तन्त्रालोक आ. ३६-१३.
सम्पूर्ण कश्मीरी शैव दर्शन में और उनकी गुरुपरम्परा के संस्थापक आदि गुरु श्रीकण्ठनाथ की चर्चा है ।

३०. शैवसिद्धान्त के आचार्य अघोरशिव रत्नत्रय की टीका में श्रीकण्ठ नाथ का उल्लेख है । (हि. आफ. शैव कल्ट्स ना. इण्डिया - डा. पाठक पृ. ५ पादटिप्पणी में) ।
द्रष्टव्य - पाशुपत सम्प्रदाय - भारती अङ्क ३, १९५९ डा. वी. एस. पाठक– पाशुपत सम्प्रदाय में श्रीकण्ठ, लकुलीश पाशुपतों व शैव सिद्धान्त में श्रीकण्ठ ।
कश्मीरी सम्प्रदाय में श्रीकंठ की परम्परा ।
शारदातिलक "श्रीकण्ठ वसुमन्तं वसुगुप्तं सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम् ।
लक्ष्मणामभिनवगुप्तं वन्दे श्री क्षेमराजं च ॥"

१०.

लकुलीश की ऐतिहासिकता और उनका पाशुपत दर्शन

श्वेत की परम्परा में महेश्वर के अट्ठाइसवें व अन्तिम योगावतार लकुलीश का नाम उपलब्ध होता है।[१] जो एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।[२] पाशुमत सूत्रों के प्रणयन का श्रेय लकुलीश को ही है।[३] पाशुपत सूत्रों के पञ्चार्थ भाष्य में कहा गया है कि "भगवान लकुलीश का ब्राह्मण कुल में कायावतार हुआ था। तत्पश्चात् वे उज्जयिनी गये जहां उन्होंने अपने शिष्य कुशिक को पाशुपतसूत्रों का उपदेश किया।"[४] कारवण या कारोहण महात्म्य[५] में कायावतार की कथा विशद रूप से वर्णित है, जिसके अनुसार "कलियुग में महेश्वर उल्काग्राम में अत्रि के कुल में विश्वराज व सुदर्शन दम्पति के यहां अवतरित हुये किन्तु सात मास की अवधि में ही इस अलौकिक शिशु का शरीर निर्जीव हो जाने के उपरान्त उनकी मां ने उन्हें पार्श्ववर्ती नदी की विपुल जलराशि में प्रवाहित कर दिया। यह जलेश्वर लिङ्ग शिशु एक महालिङ्ग के रूप में दिखाई पड़ा और वह पुनर्जीवित होकर ब्रह्मचारी लकुलीश रूप में कारोहण आया तथा वृद्धेश्वर मंदिर में रहकर अपने शिष्य को धार्मिक उपदेश करने लगा।"[६] परिवर्ती अभिलेखों में भी कायावतार की इस कथा का उल्लेख है।[७] अत्रिकुल की चर्चा शिवपुराण में हुई है।[८] उल्काग्राम अथवा उल्कापुरी आधुनिक अवक्खल है।[९] जो बड़ौदा राज्य के डभोई तालुका में बड़ौदा से १९ मील उत्तर दिशा में स्थित है। आधुनिक कारवन ग्राम ही कारोहण है।[१०] पुराणों में इसे भृगु मंडल में स्थित बताया गया है।[११] उनका कथन है कि कृतयुग में कायावतार तीर्थ का नाम इच्छापुरी, त्रेता में मायापुरी था तथा कलियुग में यह कारोहण है।[१२] उल्कातीर्थ से ब्रह्मचारी लकुलीश और्वा नदी के पश्चिम में स्थित कारोहण आये और वृद्धेश्वर मन्दिर में वह रहने लगे। वहां से ब्रह्मेश्वर लिङ्ग में आकर अध्यस्त हो गये।[१३] जिसके बायें हाथ में दण्ड और दाहिने में बीजपूरक था।[१४]

लकुलीश एवं श्रीकण्ठ तथा शैवागम

बागची महोदय ने सम्भावना व्यक्त की है कि लकुलीश श्रीकण्ठ के शिष्य हे होंगे।[१५] किन्तु साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि लकुलीश और श्रीकण्ठ दोनों शिवशासन के विशिष्ट व्यक्तित्व थे।[१६] यद्यपि भंडारकर ने लकुलीश को पाशुपतों का संस्थापक माना है।[१७] किन्तु डॉ. वी.एस. पाठक महोदय ने पाशुपत सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में श्रीकण्ठ नामक ऐतिहासिक व्यक्तित्व को स्मरण किया है।[१८] सम्भवना यह है कि दोनों ही श्वेत की परम्परा में थे। उनमें लकुलीश, पाशुपत योगावतार थे तथा दोनों अपनी विशिष्ट धाराओं के प्रवर्तक थे।[१९] शैवागम और शिवशासन में अतिविख्यात श्रीकंठ के साथ लकुलीश का नामोल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है।[२०] लकुलीश के बाद योगावतार नहीं अवतरित होते अपितु श्रीकण्ठ की परम्परा की भांति ही शिष्य-परम्परा आरम्भ होती है जिसमें १७ आचार्यों के नाम हैं।[२१] वस्तुतः लाकुलीश योगावतार और श्रीकण्ठ परमाचार्य लगते हैं।

लकुलीश का आविर्भाव काल

लकुलीश के काल-निर्धारण का आधार चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा स्तम्भ लेख है।[२२] जिसके आधार पर डी.आर. भण्डारकर ने लकुलिश की तिथि प्रथम अर्धशदी माना है।[२३] किन्तु डॉ. वी.एस. पाठक ने लकुलिन् के सद्यः शिष्य कुशिक को कुशिक प्रथम[२४] तथा दसवें कुशिक को अपर कुशिक मानकर लकुलीश की तिथि दूसरी शदी ईसा पूर्व में निर्धारित किया है[२५] जो उचित प्रतीत होती है।

पूर्व विवेचन से स्पष्ट होता है कि श्वेत की परम्परा के अन्तिम योगावतार, शिवशासन और स्वतन्त्र शैवागम के ऐतिहासिक व्यक्तित्व लकुलीश थे, जिन्होंने अपनी पाशुपत-धारा का उपदेश स्वयं अपने पाशुपत सूत्रों द्वारा किया। उनका आविर्भाव ई. पू. की द्वितीय शदी में हुआ। यह काल पाशुपत धारा के विखराव का जब परवर्ती उपनिषदों, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, सोमनय, योग, आदि दार्शनिक धाराओं में पाशुपत-परम्परा प्रवाहित हो रही थी। श्रीकण्ठ प्रतिपादित शिवशासन और शैवागम में भी लकुलीश का महत्व पूर्ण योगदान दिखाई देता है।

ऐसी स्थिति में कहना पड़ता है कि लकुलीश अपने पूर्व की समस्त धाराओं के संकलन व समायोजन कर्ता थे। उन्होंने उन तमाम पाशुपत विचारधाराओं को, जो सारे देश में बिखरी हुई थी, एक सूत्र में गुम्फित किया। इसीलिये अपनी परम्परा के वे अन्तिम योगावतार कहे गये हैं। दूसरी तरफ उन्होंने पाशुपत सूत्रों के माध्यम से पाशुपतों की नव्य व स्वतन्त्र धारा का प्रचलन किया। इस तरह वे पाशुपत मत के संकलनकर्ता और नवीन कलेवर में पाशुपत मत के प्रचारक के रूप में दिखाई देते हैं। जिसे लकुलीश पाशुपत मत कहा जाता है।[२६] उनसे पाशुपतों का महत्वपूर्ण नवीन युग प्रारम्भ होता है।

पाशुपतागम एवं शैवागम के प्रतिष्ठाता के रूप में लकुलीश के नाम का उपलब्ध होना[२७] इस तथ्य का स्वयं में एक प्रमाण है कि जिन्हें पाशुपतागम कहा गया है वे श्वेत से लकुलीश तक के परम्परागत महेश्वर प्रणीत विचार हैं[२८] जिनका संकलन कर नवीन परम्परा के रूप में लकुलीश ने स्थापित किया,[२९] यही कार्य श्रीकण्ठ ने भी किया था।

सन्दर्भ

१. कूर्म पु. १/५१/९, १०, १/५३/४;
वायु. पु. अ. २३/२१९-२४.
लिङ्ग पु. अ. २४/१२४-३४.
शिवपु. वा. स. अ. २/५, २/९.
विशुद्धमुनिकृत आत्मसमर्पणम् (गणकारिका)।

२. कलेक्टेड वर्क्स आफ सर आर. जी. भण्डारकर वा. ४, १९२९ पृ. १७२; हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया - डा. वी. एस. पाठक पृ. १७; जे. एफ. फ्लीट-शिव एज लकुलीश; जे. आ. ए. एस. १९०७ पृ. ४१९-२६; लकुलीश इन आर्केलाजीकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, १९०६-०७ पृ. १७९-९२.
पी. सी. दीवान जी—लकुलीश आफ कारवन एण्ड हिज पाशुपत कल्चर, जे. जी. आर. एस, वा. १७ (१९५५ पृ. २६७-७४); शाण्डिल्य संहिता, भक्ति खण्ड अंश ४, अध्याय १५/१६.

३. पाशुपत सूत्राज आफ पञ्चार्थभाष्य आफ श्री कौण्डिन्य, इन्ट्रोक्शन— आर. आर. अनन्तकृष्ण शास्त्री। सूतसंहिता, ४/४३-१७. पञ्चार्थमुनि कृत १ पृ. ४, पादटिप्पणी ३.
विशुद्धमुनि कृत यमप्रकरण १, २.
"गुरुं परं तीर्थकरं स्मृत्वा लकुलधारिणं ॥१॥
xx xx xx
कुशिकाद्यं परं गुरुंस्तथा यथा यथा प्रज्ञम्।
भाष्यकृतोक्तं तद्वक्ष्यं यमप्रकरणं तथा ॥२॥
द्रष्टव्य गणकारिका का. ८, पृ. ९, १९.
कूर्म पु., २/४२/७-१२.

४. पञ्चार्थ भाष्य आफ पाशुपतसूत्राज़ अ. १, सू. १, पृ. ३,
"मनुष्यरूपी भगवान् ब्राह्मण कायमास्थायः-
कायावतरणे अवतीर्य इति। तथा पद्ममामुज्जयिनीं प्राप्तः १(-)
——अतो रुद्रप्रचोदितः कुशिक भगवाऽन्भ्यागत्य पृष्टवान्।"

विशुद्ध मुनि के यम प्रकाश में आदि कुशिक को ही लकुलीश का शिष्य कहा गया है।

लकुलीश की शिष्य परम्परा— कूर्म पु. १/५१/२६ में वर्णित है;

"कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रको रुष्य एव च।"

५. कारवण महात्म्य - गणकारिका वायु. पु. अ. २३/२१९-२४. लिङ्ग पु. अ. २४/१२४-३४.

शिवपु. लकुलीश महात्म्य संतोषाधिकरण, शूलपाणिजन्मपट्टबन्ध महात्म्य, कूर्मपुराण २/४४/७.

६. गणकारिका अपेन्डिक्स ४.

"अमरगणनिषेव्यः सर्वासिद्धिप्रदाता कलियुगमवतीर्णः कायरूपी महेशः।
सकलभुवनकर्ता सर्वपापहर्ता द्विशतुं लकुटपाणिर्वो विभूतिः प्रसन्नः ॥१॥

xx xx xx

कलिद्वापरयोर्मध्ये अवतारं मम श्रृणु।

xx xx xx

अत्रिनामा तु देवर्षि पूर्वख्यातो महातपाः।
तदन्वये प्रसूतोऽसो विश्वरूपो महाद्रिजः॥
सुदर्शनस्तु देवेशि तस्य पत्नी सुदर्शना।

xx xx xx

अवतीर्णो मद्यहं मर्त्य उल्काग्रामे विलोमतः।

xx xx xx

मूर्च्छित च सुतं दृष्ट्वा विस्मिता च सुदर्शना॥
दिशो निरीक्षणं कृत्वा पतिता धरणीतले।

xx xx xx

अङ्के कृत्वा च तं बालं गता सा जलसन्निधौ।
देवखाते ततो देवि क्षिप्तोऽसौ विपुले जले॥
नीतोऽसौ कच्छपैर्देवि यत्र देवो जलेश्वरः॥
जलमध्ये महालिङ्गं तिष्ठते च वरानने॥
वृद्धस्य वचनं श्रुत्वा लकुलीशो वरानने।
ब्रह्मेश्वरं समासाद्य तस्मिन्नेव लयं गतः॥
स्थितः स भगवान् तत्र कायरूपी महेश्वरः।
येन कायावतारोऽसौ तेनेदं कायरोहणम्॥
असिदण्डधरो वामे दक्षिणे बीजपूरकम्।

xx xx xx

अवतीर्णस्ततो मर्त्ये कायरूपधरो हरः।
कायावतारे लोकेशो लोकानां हित काम्यया॥

xx xx xx

प्राप्ते कलियुगे घोरे धर्मसंस्थापनाय च ।
सर्वपापहरं पुण्यं श्रीमत्कायरोहणम् ॥

xx xx xx

घोरे कलियुगे प्राप्ते देवदेवो जगद्गुरुः ।
लकुलीश इति ख्यातः त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥

७. एकलिङ्गजी स्टोन इन्सक्रिप्सन एण्ड दी ओरिजिन एण्ड हिस्ट्री आफ लकुलीश सेक्ट, जे. वी. वी. आर. ए. एस. वा. २२२ (१९०४-०७) पु. १५१-६५ ; डी. आर. भण्डारकर, आर. यन. मेहता - कारवण-दी सीट आफ लकुलीश सेक्ट, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स आफ फोर्टीन्थ सेशन, पृ. ७११-७६.

८. गणकारिका-रत्नटीका-शिवपुराण परिशिष्ट ।
ब्रह्मणो मनसः पुत्रो द्विजनामा च विश्रुतः ॥
अत्रिस्तु जनयामास आत्रेयं नाम नामतः ।
आत्रेयादीनि शर्मोऽपि अग्निशर्म सुतः शुचिः ॥
सोमशर्मेति विख्यातो धर्मशीलोजितेन्द्रियः ।
सोमशर्मसुतो जातो विश्वरूपो द्विजोत्तमः ॥

९. उल्काग्राम की पहचान उलूक से की जा सकती है और उलूक को उल्कापुरी से जोड़ा जा सकता है । पुराणों में उलूक को शिव का अवातार कहा गया है जिनका नाम पाशुपत योगावतारों में है (पूर्व विवेचित) । महाभारत में भी उलूक का नाम उपलब्ध होता है । कणाद का अपर नाम उलूक था । (पूर्व विवेचित) ।
आधुनिक अवक्खल ही उल्काग्राम है - आर. एन. मेहता - जे. ओ. आई. वी. वा. ७, १९५७, १६९.

१०. बुहलर— इ. आई. प्रथम, पृ. २७४; जीओग्राफीकल डिक्शनरी पृ, २४०; एन. एल. डे;, गणकारिका की भूमिका पृ. ४ सी. डी. दलाल ।

११. गणकारिका रत्नटीका, अपेन्डिक्स ४.
कायावरोहणे पुण्ये तीर्थे तीर्थवरोत्तमे ।
भृगुक्षेत्र पवित्रार्थ अवतीर्ण युगे युगे ॥

xx xx xx

भृगोरनुग्राहार्थाय अवतीर्णः कृते युगे ।"

१२. वही "कृते इच्छापुरी नाम त्रेतायां मयापुरी ।
द्वापरे मेघवती नाम कलौ कायावरोहणम् ॥"

१३. "उर्वा नाम्ना तु या देवी नदी नाम्ना सरस्वती ॥
भृगुक्षेत्रे पकाराय त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
नदीतीरे गतो बालः क्रीडमानस्तु तिष्ठति ॥
ततः पश्चिम मार्गेण श्रीमत्कायावरोहणम् ।"

xx xx xx

"ब्रह्मतीर्थेषु तिष्ठस्व ब्रह्मेश्वरस्य सन्निधौ ।

xx xx xx

तृतीये तु युगे जातो वृद्धदेवो महेश्वरः ॥ — भूमिका, गणकारिका, सी. डी. दलाल

१४. असिदण्डधरो वामे दक्षिणे बीजपूरकम् (अपेन्डिक्स गणकारिका) रत्नटीका ।

१५. एच. बी. डी. पृ. ४०५, पाद टिप्पणी ७ पृ. ७ -शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया ।

१६. तन्त्रालोक आ. १२ पृ. ३९६.

१७. कलेक्टेड वर्क्स आफ भंडारकर, बा. ४, १९२९, पृ. १७१—७३.

१८. शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया, पृ. ४, ५, ६.

१९. पूर्व विवेचित ।

२०. द्रष्टव्य श्रीकण्ठ धारा ।

२१. गणकारिका अपेन्डिक्स तृतीय; षड्दर्शन समुच्चय-राजशेखर सूरि एवम् आचार्य हरिभद्र, भूमिका - पञ्चार्थ भाष्य ।

१- नकुलीश, २- कौशिक, ३- गार्ग्य, ४- मैत्रेय, ५- कौरुष, ६- ईशान, ७- पारगार्ग्य, ८- कपिलाण्ड, ९- मनुष्यक, १०-कुशिक, ११-अत्रि, १२- पिंगल, १३-पुष्यक, १४-वृहदार्य, १५-अगस्ति, १६- सन्तन, १७- राशिकर (कौण्डिन्य), १८- विद्यागुरू ।

२२. ए, इ. २१ पृ. पादटिप्पणी २; हिस्ट्री आफ शैवकल्टस् इन नार्दर्न इण्डिया; यह स्तम्भ लेख ग्र. सं. ६१ अर्थात् ३८० ई. का है ।

२३. कलेक्टेड वर्क्स आफ भण्डारकर वा. ४, १९२९ ; जे. वी. वी.. ऐर एस. वा. २२ (१९०४-०७) पृ. १५१-६५.

२४. शैव कल्टस् (हिस्ट्री आफ) इन नार्दर्न इण्डिया -वी. एस. पाठक पृ. ९, पादटिप्पणी २. कौशिक ही कुशिक प्रथम था विचारणीय है । विशुद्धमुनि के यमप्रकरण में लकुलीश शिष्य कुशिक की चर्चा है । इसी कुशिक की चर्चा कूर्म पु. १/५१/२६ में है - "कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रको रूष्य एव च" ॥

पञ्चार्थ भाष्य में पृ. ४ पर इसी कुशिक की चर्चा है । पाद टिप्पणी २ में आर. अन्नत कृष्ण शास्त्री की पहचान उचित नहीं है ।

२५. हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया—पाठक पृ. ९, पादटिप्पणी ३ ; लेख में उदित, कुशिक से १०वां था । तथा कुशिक लकुलीश से दसवें थे । यदि प्रत्येक को ३० वर्ष या २५ वर्ष दिया जाय तो मथुरा लेख की तिथि ३८० ई. से (कुशिक दसवें २५ x १० = २५० अपर कुशिक से दसवें २५ x १० = २५० = ५०० वर्ष या तीस वर्ष देने पर) ६०० वर्ष पहले अर्थात् ३८०ई. से ५०० या ६०० वर्ष पहले अर्थात् ईसापूर्व २२० से १२० ई. पूर्व के मध्य लकुलीश का आविर्भाव हुआ ।

२६. सर्वदर्शन संग्रह-नकलीश पाशुपत; षड्दर्शन समुच्चय । द्रष्टव्य गणकारिका रत्नटीका पृ. ९, १९.

ब्रह्मसूत्र भाष्य - शङ्कराचार्य, आनन्दगिरि ।

२७. पूर्व विवेचित, उद्धरण तन्त्रालोक।

२८. श्वेत नानागम विधायी था।

नमः श्वेतऽभिधानाय नानागम विधायिने" मङ्गलाचरण ब्रह्मसूत्र पर श्रीकण्ठ की टीका।

श्वेत की यह परम्परा लकुलीश तक योगावतार परम्परा में थी तथा लकुलीश से गुरु-शिष्य परम्परा में प्रवाहित हुई। "आगमो नाम आ माहेश्वराद् गुरुपारम्पर्यागतं शास्त्रम्" पाशुपतिसूत्र-पञ्चार्थभाष्य कौण्डिन्य अ. १ पृ. ७ परन्तु "आ"' शब्द पाशुपतो के स्वतः अपने सिद्धान्तों का सूचक है वेदों का नहीं (पाद टिप्पणी पृं. ७ वही आर. अन्नतकृष्णशास्त्री) पूर्व में विवेचित है कि श्वेत ने जिस आगम का विधान किया वे वैदिक थे। सम्भवतः लकुलीश और श्रीकण्ठ से स्वतन्त्र आगम की परम्परा प्रारम्भ होती है। (पूर्व विवेचित)।

२९. लकुलीश पाशुपत दर्शनम्, सर्वदर्शन संग्रह ।

११.

लकुलीश द्वारा पाशुपत सूत्रों का उपदेश

लकुलीश ने अपना प्रथम उपदेश उज्जयिनी में कुशिक को दिया।[१] उज्जयिनी में ही ब्रह्मावर्त देश के शिष्यगण लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय में दीक्षित हुये।[२] ब्रह्मेश्वर मन्दिर अर्थात् ब्रह्मतीर्थ में लकुलीश ने अपना लकुटार्णिव ब्रह्मचारी रूप अभिव्यक्त किया।[३] तत्पश्चात् प्रभाषतीर्थ (जहां सोमशर्मा ने उनसे पूर्व पाशुपत मत का प्रचलन किया था)[४] एवं भृगुमंडल[५] में अपना उपदेश कार्य सम्पन्न किया। लकुलीश के उपदेश पाशुपतसूत्रों के नाम से जाने जाते हैं।[६]

कारणव महात्म्य के अन्तर्गत ब्रह्मचारी लकुलीश की मुद्रा का उल्लेख है उनके बायें हाथ में दण्ड अर्थात् लगुड़ और दाहिने हाथ में बीजा फल रहता था।[७]

भगवान लकुलीश की शिष्य-परम्परा

लकुलीश की शिष्य-परम्परा के जिन अठारह आचार्यों की चर्चा की जा चुकी है उनमें प्रथम कुशिक थे। जिनकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। पाशुपत सूत्र में उल्लिखित कुशिक प्रथम या आद्य कुशिक थे।[८] पञ्चार्थ भाष्य में ही कुशिक से ईशान तक की परम्परा का उल्लेख है।[९] कुशिक से आरम्भ होने वाली परम्परा में चार आचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं।[१०] जिनके नाम गार्ग्य, मैत्रेय और रुष्य या कारुष थे। नरवाहन के उदयपुर अभिलेख[११] तथा जैनग्रन्थों में कुशिक एवं इस परम्परा में पाशुपताचार्यों के नाम उल्लिखित हैं जो भस्म रमाये हुये, नग्न और जटाजूटधारी होते थे।[१२]

गार्ग्य की परम्परा

पूर्वोद्धृत पाशुपताचार्यों में इस परम्परा का उल्लेख हुआ है। चिन्त्रा प्रशस्ति में गार्ग्य गोत्र से सम्बन्धित संन्यासियों की चर्चा है।[१३] अभिनवगुप्त ने गोत्र को इस सन्दर्भ में गुरु की सन्तान या शिष्य-परम्परा बताया है।[१४] इससे गार्ग्य एक गोत्र प्रतीत होता है। चिन्त्रा प्रशस्ति में ही कार्तिक राशि, तपोराशि, वाल्मीकि राशि तथा उनके शिष्य गण्डत्रिपुरान्त का उल्लेख हुआ है।[१५]

कारुष-परम्परा

तन्त्रालोक में कारुष परम्परा का उल्लेख है।[१६] भंडारकर ने कारुकों ही पहचान कालाननों से की है। वस्तुतः कारुष से यह परम्परा विकसित हुई जो लकुलीश के शिष्य थे। कारुक, कारुष का अपभ्रंश है। रामानुज और केशव काश्मीरी ने कारुक-सिद्धान्त का उल्लेख किया है। ११७० ई. के एक अभिलेख में लाकुलागम समय के रूप में कालाननों का उल्लेख किया गया है।[१७] लकुलीश से प्रारम्भ होने वाले कालमुख संन्यासियों की परम्परा का उल्लेख इनसे प्राप्त होता है। आमराज का ताण्डीकोण्डा लेख इसका उदाहरण है।[१८] इस परम्परा का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

पाशुपताचार्यों की उपर्युक्त परम्परा का उल्लेख मथुरालेख में विद्यमान होने से प्रतीत होता है कि ३८० ई. के आसपास तक प्रभाष,[१९] सोमतीर्थ,[२०] भृगुकच्छ, कारोहण,[२१] नकुलीश्वर,[२२] उज्जैन[२३] की भांति मथुरा भी लकुलीश-परम्परा के आचार्यों और उनकी शिक्षाओं से सम्बन्धित पाशुपतों का केन्द्र हो चुका था। पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि ब्रह्मावर्त्त देश—कानपुर, विठुर, आदि क्षेत्रों में पाशुपत धर्म के प्रति गहरी रुचि हुई और वहां के निष्णात शिष्य इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने लगे।[२४]

सन्दर्भ

१. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य, पृ० ४.

२. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य, पृ० ४.
"यस्मादयं ब्रह्मावर्त देशजः कुलजः पटुन्द्रियो विनिदिषादिसम्पन्नः शिष्यः" ब्रह्मावर्त देश - सरस्वती दृषद्वती के मध्य का भूभाग (मनु० सं० अ० २) कुरुक्षेत्र-कानपुर विठुरादि क्षेत्र (जीओग्राफीकल डिक्शनरी— नन्दूदाल डे पृ० १०)।

३. कारवण महात्म्य, गणकारिका रत्नटीका, परिशिष्ट।
गणकारिका रत्नटीका परिशिष्ट पृ० ५०, कारवण महात्म्य - वृद्धेश्वरमन्दिर में ब्रह्मेश्वरलिङ्ग।

४. प्रभाषतीर्थ में सोमशर्मा (वायु पृ० अ० २३), कारवण महात्म्य. प्रभाषतीर्थ प्रभाष-काठियावाड़ के जूनागढ़ का सोमनाथ, देवपट्टन (यूल्स-मार्कोपोलो भाग-१, पृ० ३३४)। प्रभाष का महादेवमंदिर (शिव पु० भाग १ अ० ४५, महा० भा० शल्यपर्व अ० ३६)। यहीं सरस्वती नदी भी थी - नन्दूलाल डे — जीओग्राफीकल डिक्शनरी, पृ० १५८.

५. गणकारिका, कारवण महात्म्य, परिशिष्ट,
"स्थितः स भगवान् तत्र कायरूपी महेश्वरः।

येन कायावतारोऽसौ तनेदं कायरोहणम् ॥

....

भृगुक्षेत्र पवित्रार्थ अवतीर्णो युगे युगे ॥
"भृगक्षेत्रोपकाराय त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
तत्र पश्चिममार्गे त्रिषु लोकेषु कायारोहणम् ॥"
सर्वतीर्थ इदं देवि विख्यातं भृगुमण्डले ॥
भृगुमंडल भृगक्षेत्र भारुकच्छ-भडौंच वेरीगाजा (जीओग्राफीकल डिक्शनरी पृ० ३२)। भृगुऋषि का आवास (भागवत पु० भाग २ अ० ८; स्कन्दपु० (रेवाखण्ड अ० १८२)जबलपुर के पश्चिम नर्मदा के किनारे का भू भाग ।

६. पूर्वोल्लिखित ।

७. कारवण महात्म्य गणकारिका परिशिष्ट -
"असिदण्ड धरो वामे दक्षिणे बीजपूरकम् ।"

८. विशुद्धमुनि का यमप्रकरण "कुशिकाद्यऽपरगुरुस्तथा... ।"

९. पाशुपत सूत्र पञ्चार्थभाष्य "कुशिकेशान् सम्बन्धात् प्राक्" पृ० १०२; गणकारिका परिशिष्ट "कारिकादिविमोक्षेकं रुद्रम" ॥१ ॥

१०. शिवपु० उ० भा० वा० स० अ० १०/२; कूर्म पु० १/५/३६
"कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रको रुण्यं च" ।
शा० सं०, भक्ति खण्ड ४/५/१७; इन्हें कलियुग में वेदमार्ग का रक्षक भी कहा गया है ।

११. वि० स० १०२८-९७८; ई० एपि० इ० पृ० २६ ।
"अह कुशिक गार्ग्य कौरूष मैत्रेय इति तदंतसद: ।१६ ॥
ततस्तपस्विनां तेषां चतुर्धा जातिरुद्गता ।
भुवं विभूषयामास चतुर्णेवमुद्रितां ।१७ ॥

१२. ग० का० परिशिष्ट; षड्दर्शन समुच्चय—राजशेखरसूरि एवं हरिभद्र
"-------- नकुलीशोऽथ कौशिकः ।
गार्ग्यो मैत्र्य: कारुषश्च ईशान: षष्ठ उच्यते ॥"
पाशुपत सूत्र के पन्चार्थभाष्य में "भस्म प्रकरणं महत्वपूर्ण" पृ० १५; गणकारिका परिशिष्ट २- सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३३.
"तदुक्तं भगवता नकुलीशेव - "भस्मना त्रिषवर्णं स्नायीत भस्मीन शयीत ॥"
षड्दर्शनसमुच्चय - "ते दण्डधारिण: प्रौढ़ कौपीन परिधायिन: ।
कम्बालिका प्रवरणां जरापटलशालिन: ।
भस्मोद्वलन कर्तारो नीराहारसेविन: ॥
विशुद्धमुनि-यम प्रकरण - "भस्मस्नाच्छरीरस्य तथोपस्पर्शनादिभि: ॥१८ ॥
हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० ९ पाद टिप्पणी उद्धरण २;

१३. इपी०.इ०, पृ० १८२ वा० १९.

१४. तन्त्रालोक, तृतीय पृ० २९६.
१५. शैव कल्ट्स - डॉ० पाठक, पृ. १०.
१६. आ० ८ पृ० १८४, आ० पृ० ७०.
१७. वैष्णविज्म इत्यादि पृ० १७२, भारती - पाशुपतसम्प्रदाय अंक ३, १९५९.
१८. इपी०इ०, २३ पृ० १६१-१७०.
१९. कूर्म पुराण, १/३४/१६.
२०. कूर्म पुराण, २/३४/२०.
२१. कूर्म पुराण, २/४२/७.
कायावरोहणं नाम महादेवालयं शुभम्।
यत्र माहेश्वराधर्मा मुनिभिः संप्रवर्त्तिताः ॥७ ॥
२२. गुह्याद् गुह्यतमं तीर्थ नकुलीश्वरमुत्तमम् ।
तत्र सन्निहितः श्रीमान् भगवान् नकुलीश्वरः ॥ २/४२/१२. कूर्म पुराण ।
२३. उज्जैन का महाकाल कालेश्वर तीर्थ कूर्म० पृ०, २/४२/११.
पूर्वोद्धृत पाशुपत सूत्र, अ०१ पृ० ३ पञ्चार्थ भाष्य ।
२४. द्रष्टव्य पूर्वोद्धृत पृ० ५० की पाद टिप्पणी "ब्रह्मावर्त देश" ।

१२.

लकुलीश पाशुपत मत का प्रचलन-क्षेत्र

पूर्व के अध्यायों में इस तथ्य का विवेचन किया जा चुका है कि पाशुपतों की प्राचीनतम श्वेताश्वतर शाखा का प्रचलन क्षेत्र श्वेतद्वीप[१], मेरु पर्वत के उत्तर-पश्चिम क्षीरसागर या कैस्पीयन सागर के उत्तर अफगानिस्तान से पामीर के मध्य का कोई भू-भाग था।[२] शतरुद्रीय में न केवल रुद्र को इक्कीस नदियों, वनस्पतियों, पर्वतों का देवता कहा गया[३] अपितु सम्पूर्ण सृष्टि के विभिन्न रूपों में, उसे विश्वरूप कहा गया है।[४] शतरुद्रीय की पशुपति रुद्र की विशाल धारा भारत ही नहीं अपितु एशिया के विस्तृत भू-भाग में प्रवाहित हो रही थी।[५]

रुद्र के भव, शर्व, ईशान नाम शतपथ ब्राह्मण की रचना के पूर्व ही प्रचलित हो चुके थे।[६] पशुपति, रुद्र, उग्र, महेश्वर, महादेव और देवाधिदेव नाम से पूजित होने लगे थे।[७] शतरुद्रीय की धारा श्वेताश्वतर में प्रतिष्ठित हुई,[८] श्वेताश्वतर से बादरायण के ब्रह्मसूत्रों तक पशुपतिरुद्र-सम्प्रदाय माहेश्वर-सम्प्रदाय के रूप में प्रचलित हुआ।[९] पाशुपतों की इस विशाल धारा से श्रीकंठ प्रणीत शैवागमिक भक्ति का पाशुपत मत कश्मीर से कन्याकुमारी तक पल्लवित हुआ।[१०] किन्तु सम्पूर्ण धारा का समायोजन और संगठन लकुलीश ने किया।[११] लकुलीश पाशुपत मत विखरी हुई सम्पूर्ण एवं लम्बी धारा का नवोन्मेष था जिसमें पूर्ण परम्परा विद्यमान थी।[१२] पाणिनि[१३] पतञ्जलि[१४] एवम् अन्य महत्वपूर्ण साक्ष्यों से[१५] ईसा की शदियों के आरम्भ तक उत्तर-पश्चिम भारत अफगानिस्तान एवं मध्य एशिया में इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता, प्रचार तथा इसके प्रति भक्ति, और श्रद्धा विद्यमान होने के साक्ष्य मिलते हैं।

कुषाणयुग में लकुलीश पाशुपत मत अथवा माहेश्वरमत

इस सम्प्रदाय की धार्मिक अनुकृति एवम् भक्ति के तत्व ईसा की प्रारम्भिक शदियों के सिक्कों पर प्राप्त होते हैं।[१६] गोझडोफोर्नीज एवं एजेज तथा मावेस के सिक्को पर वृषभ और शिव तथा कुलीश का अङ्कन शैव प्रभाव का द्योतक है।[१७] विम कैडफाइसिस के सिक्कों पर वृषभ के साथ दक्षिणं हस्त में त्रिशूलधारी तथा

वाम हस्त में डमरू, कमण्डल एवम् भुजाओं में व्याघ्रचर्म लपेटे महेश्वर का अङ्कन है।[१८] कनिष्क एवं हुविष्क के सिक्कों पर त्रिशूल, डमरू, कमण्डलु, व्याघ्र चर्म के अतिरिक्त लगुड, पाश, तथा कपाल अथवा बीजाफल सुशोभित है।[१९] कनिष्क के सिक्कों पर महेश्वर के पार्श्व में हिरन है।[२०] हुविष्क के एक प्रकार के सिक्के पर धनुर्धारी पिनाकी रुद्र हैं।[२१] महेश्वर कहीं चतुर्भुज और कहीं त्रिमुख हैं।[२२] महेश्वर के कन्धों से अग्नि शिखायें निकलती दिखाई गयी हैं, यह शिव का उग्र रूप है।[२३] सिक्कों पर लेख "सर्वलोकेश्वरस देवदेवस महेश्वर" है। वृषभ के साथ शीश पर चन्द्रमा 'चन्द्रशेखर 'शिव' का अकंन है।

इस प्रकार पाश, पशु से युक्त पशुपति,[२४] 'वृषभध्वज,[२५] पिनाकी, त्रिशूली या शूलपाणि[२६], लगुड्धारी, कपाल या बीजाफलधारी,[२७] भव,[२८] शर्व,[२९] ईशान,[३०] महादेव,[३१] महेश्वर[३२] रुद्र नाम और उन रूपों का अङ्कन कुषाण सिक्कों पर हुआ है।[३३] शतरुद्रीय से श्वेताश्वतर और लकुलीश तक पाशुपतों की यह लम्बी परम्परा है जो कुषाण क्षेत्रों में पूजित और पल्लवित हुई। कदाचित कुषाण शासकों ने माहेश्वर पाशुपत धर्म ग्रहण कर लिया था।[३४] मावेस के सिक्के पर भी दण्ड त्रिशूल धारण किए पुरुषाकृति शिव की ही है।[३५] शिवभागवत,[३६] लगुडधारी,[३७] शर्व, भव,[३८] ईशान, भीम उग्र,[३९] पशुपति,[४०] माहेश्वर[४१] की भक्ति प्रतीच्यों में प्रचलित[४२] थी बाहलीक देश में शर्व नाम प्रचलित था। जिसकी परम्परा अथर्ववेद, वाजसनेयिसंहिता, शतरुद्रीय, श्वेताश्वतर, पाणिनि, पतञ्जलि, देव महादेव,[४३] लोकेश्वर,[४४] त्रैलोक्यपति, और त्रिदेव एवं त्रिविध कार्यकारी एक ही रुद्र की प्रतिष्ठा[४५] पाशुपत सूत्रों से पूर्व ही हो चुकी थी। महाकाव्यों में इसका स्वरूप स्थिर है।[४६] हुविष्क के सिक्के पर "उमा" लेख के साथ देवी का अङ्कन[४७] उमापति, पशुपति भक्त एवम् ब्रह्मा के पुत्र श्रीकण्ठ की आगमिक धारा का प्रभाव है।[४८]

कुषाण शक्ति, सृजन अथवा प्रजनन का प्रतीक,[४९] त्रिशूल त्रैलोक्य के सर्वशक्तिस्वरूप, स्वामित्व, संहार अर्थ में[५०] लगुड अचल भक्ति, धर्म, साधना और श्रद्धा अर्थ में प्रतीक के रूप में अङ्कित हुआ है।[५१] वृषभ शिव के वाहन महागणपति के रूप में प्रचलित हुआ।[५२] इन प्रतीकों की परम्परा प्राचीनकाल से आज तक विद्यमान है।[५३] कुषाण सिक्कों का रुद्र महेश्वर रूप का आधार भी यही था।[५४] ईसापूर्व शदियों में पाशुपतचर्या और साधना के क्षेत्र में नव्य पाशुपत धारा के प्रणेता महेश्वर योगावतार लकुलीश ने लगुड या दण्ड, वल्कल, जटा और कमण्डलु, इत्यादि चिन्ह अपनाये थे। इस मत में इन्हें लिङ्गधारी कहा जाता है।[५५] पाशुपतसूत्रों में विशिष्ट लक्षणों से युक्त साधक के महागणपति पद प्राप्ति का उल्लेख है। यही नन्दि महाकाल को गण कहा गया है।[५६] कुषाण सिक्कों पर वृषभध्वज व्याघ्रचर्म

या वल्कल, दण्ड, एवं कमण्डलु तथा जटाजूट धारी महेश्वर के इसी स्वरूप का अङ्कन है।[५७] कुषाण सिक्कों के प्रचलन क्षेत्रों में लकुलीश पाशुपत मत के प्रचलित होने तथा कुषाण शासकों द्वारा पाशुपत महेश्वर मत ग्रहण[५८] करने का यही प्रमाण है। जिसकी परम्परा ईसा की दूसरी तीसरी शदियों तक वर्तमान रही। नैयायिक एवं वैशेषिक पाशुपताचार्यों की परम्परा भी इसी समय प्रवाहित हो रही थी।[५९]

सन्दर्भ

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास– भाग १, पं० भगवद्दत्त।
२. पूर्व द्रष्टव्य श्वेतद्वीप, शैवमत और नाग—ऋतम्भरा— आलोकमणि त्रिपाठी ।
३. शतरुद्रीय, श०ब्रा०, १०/६४/८.
४. वही।
५. पूर्व द्रष्टव्य शतरुद्रीय की धारा और उपर्युक्त प्रकरण।
६-७. अथर्व० वे, ११.२.२८, ११ ।६/९, १५/५/१-७, ६/९३/२, ८/२/७, १०/१/२३, ११/२/१, ५, १०, १९.
शत० ब्रा० ६/१/३/७-१९, शा० ब्रा० ६/१-९.
८-९. पूर्व द्रष्टव्य।
१०. पूर्व द्रष्टव्य, श्रीकंठ धारा।
११. पूर्व द्रष्टव्य लकुलीश धारा।
१२. पूर्व द्रष्टव्य लकुलीश धारा।
१३. अष्टाध्यायी ४/३/९९ पूर्व द्रष्टव्य-लगुड़धारी एवं माहेश्वर सूत्र जो शिव से प्रकट माना जाता है।
१४. महाभाष्य -अष्टाध्यायी पर टीका भाष्य पूर्व द्रष्टव्य; शिव-भागवत २/७६ ३/९९, १/६३, ७/७७; पाणिनि महाभाष्य में रुद्र के शिव गिरीश महादेव, त्रयंम्बक, भव और शर्वनाम तथा शिव भागवतों की चर्चा है।
१५. कुषाण सिक्के एवं यूनानी लेख।
१६. कैटलाग आफ इण्डियन म्यूजिम क्वायन्स वा०। पृ. १४०-४१ वृषभ और नन्दी पाद आहत सिक्के।
१७. कैटलाग आफ इन्डियन क्वायन्स म्यूजियम, इन्ट्रो. पृ. १८ प्लेट, नं. २०-२३.
कैटलाग आफ इन्डियन क्वायन्स ब्रिटिश म्यूजियम दी सिथियन किंग आफ वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, प्लेट २३/१५.
क्वायन्स आफ दी अलेक्जेण्डर, प्लेट ८ नं. ७-१२.
उपर्युक्त इण्डोसिथियन, यूनानी तथा आहत सिक्कों पर वृषभ इत्यादि का अंक है।

गोफडोफोर्नीज के सिक्के पर शिव का अङ्कन; हिन्दू आइकोनोग्राफी पृ. ११९-२०; एजेज के सिक्कों पर लगुडधारी लकुलीश की मूर्ति ह्वाइट हेड १५१. पी.एल (प्लेट) १४ गोण्डोफोरस के सिक्के पर शिव का मानवीय चित्र लेख देवव्रट गुदुफर देवव्रत अर्थात् शिवभक्त।

१८. दी एज आफ कुषान क्वायन्स, पृ. १७०-७१ "डेटीज आफ कुषान क्वायनेज, लाहौर म्यूजियम वेक्टलाग आफ क्वायन्स, ह्वाइट हैंड प्लैट ८/३१,३३.

१९. दी एज आफ कुषान क्वायन्स, पृ. १७०-७१, डेटीज आफ कुषान क्वआयनेज, लाहौर म्यूजियम वेक्टलाग आफ क्वायन्स, ह्वाइट हैंड प्लेट ८/३१,३३.

२०. यथोक्त

२१. यथोक्त, पृ. १७५-७६, तत्रैव।

२२. यथोक्त, तत्रैव।

२३. यथोक्त, तत्रैव।

२४. ७-८-९-१०-११-१२-१३-१४-१५, पृ. १७५-७६;
डेटीज आफ कुषान क्वायनेज—भास्कर चट्टोपाध्याय; हिन्दू आइकोनोग्राफी — जे० यन० बनर्जी।

२५. वही
"लेख जिसमें विम ने सम्पूर्ण राज्य शिव को समर्पित किया है। "सर्वलोकईश्वरस महेश्वरस ॥" द्रष्टव्य कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आफ इन्डिया, वा. २ पृ. २३२— प्रो. जे. एन. बनर्जी, ओरिएण्ट लागमैन्स १९५७; कुषाण सिक्कों के पृष्ठ भाग पर परम्परागत रूप से शिव और वृषभ का अङ्कन होने लगा। रिलीजिअस लिटरेचर आफ इण्डिया—फर्क्यूहर १९२० पृ. १०३; हुविष्क के सिक्कों पर (१२५ ई. से १४० ई.) लकुलीश का अङ्कन है। महा. भा, ६/६६/६ 'वासुदेवो ऽनुनेयो व. सर्व लोक महेश्वर, यहां वासुदेव के लिए यह उपाधि।

२६. सिरकप सील, कोनोव कार्पस इन्सक्रिप्सनम इण्डिकेरम, वा. १ पृ. १०२.

२७. अष्टाध्यायी (पाणिनि) महाभाष्य पतञ्जलि पूर्वोद्धृत।

२८. अष्टाध्यायी ४/३/९९ ९ (पाणिनि) महाभाष्य (पञ्तजलि) २-७६ पूर्वोद्धृत

२९. शत.ब्रा. ,६-१-३-७-१९, शा.ब्रा. ६-१ ९; अथर्व. वे. ८२/७, १०/१/२३, ११/२/१; मार्क. पु. ५२/२/३, १५/५/१-७ भव शर्व ईशान उग्र पशुपति रुद्र।

३०. शत. ४०; अथर्व. वे. ११/२/१०.

३१. शत. १७,२८; अथर्व. वे. १५/५/१-७, पूर्वोल्लिखित श्वेताश्वतर धारा।

३२. बादरायण— ब्रह्मसूत्र; माहेश्वर-पाशुपत पूर्वोक्त, अथर्वशिर उ.।

३३. 'शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाल्हीका पशूनामपति रुद्रोहिऽग्निर इति।" शत. ब्रा. उद्धृत मूलसंस्कृत उद्धरण पृ. ७४।

३४. उपर्युक्त, अथर्व. वे. ६/९३/२, ८/२/७, १०/१/२३, ११/२/१,५,१९.

३५-३६रामायण ५/८९/६, १/४५/२१; अर्थ.वे. १५/५/१-७ ; अथर्वशिर उपनिषद्, त्रैलोक्य का ईशन् करता है, स्वामी है, महेश्वर है । शाक. ब्रा. ६/१-९ महादेव ।

३७. श्वेताश्वतर; अथर्वशिर (पूर्वोल्लिखित) ।

३८. महाभारत, कर्णपर्व २४/६१,६,३, शल्यपर्व ३९/६, सौप्तिक पर्व ६/२२.

३९. हिन्दू आइकोनोग्राफी, प्लेट १२,७, पी.एम.सी. प्रथम, पृ. १९७; एज आफ दी कुषानाज, पृ. १७७ भास्कर चट्टोपाध्याय ।

४०. पूर्वोद्धृत, रामायण अ. ४३, ३६, ३७.

४१. ऋ. १/९४/१०, १/१६०/३, ६/४६/४, ७/१०१/१, २/३३/६,७ ; वैदिक वाङ्मय में रुद्र को गोपित, वृषभ या वृषभध्वज कहा गया है । पशुपति को पशुओं का स्वामी कहा गया है। आश्वलायन श्रौत सूत्र ३/११/१, ४/११/५; ऋ. १/४२/६; अथर्व. वे. १/१०१/४, ४/२४/१; महाभा. १७/११५; कूर्म पु. २/५/४२ वृषवाहन देव भवरुद्र ।

४२. षड्विंश ब्रा. त्रिशूल आयुध है, रुद्र का आयुध है। (वेदोत्तर साहित्य) अष्टाध्यायी४/२/७६ शूल और दण्ड; वैदिक कोष पृ. ५२३; रामायण १/४५/२१ त्रिशूलधारी शिव; कूर्मपुराण १/११/२, १/१४/३७-४०, १/२१/३०,३१; शूलधारी रुद्र शिव संहार करते हैं (घोरमुद्रा) ; पाञ्चाल रुद्र गुप्त के सिक्कों पर दो खम्भों के मध्य त्रिशूल, एलन—कैटलाग आफ इण्डियन क्वायन्स पृ० २७,२; कूर्म. २/४४/३५ शूलपाणि महेश्वर को सर्वशक्ति स्वरूप कहा गया है ।

४३. पाणिनि एवं पतञ्जलि (अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य) पूर्वउद्धृत ४/२/७६; कूर्म. १/११/२ दण्डधारी विकराल रुद्र ईशान ।

४४. बुद्धचरित, १०/३ वृषध्वज (१०० ई. के लगभग); कूर्म पु. २/५/४२ वृषवाहन रुद्र; २/४१/१८ महादेव वृषभध्वज के पुत्र रूप में नन्दी ने अवतार लिया, २/४१/३६-३८ नन्दी ने शिवभक्ति से महागणपति महेश्वर पद प्राप्त किया ।

४५. कूर्म पु. २/५/८-११ जटाधारी अर्धचन्द्र व्याघ्रचर्म धारी त्रिशूली भयंकर रुद्र (उग्ररूप) ।

४६. पाशुपत सूत्र पञ्चार्थ भाष्य अ. १/६ लिङ्गधारी; पाणिनि ४/२/७६, शूलदण्डधारी ।

४७. पाशुपत सूत्र पञ्चार्थ भाष्य अ. १/३८ पृ. ५१.

४८. पूर्व द्रष्टव्य ।

४९. जे.यन.बनर्जी—डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ. १२९.

५०. पूर्व उद्धृत न्याय-वैशेषिक धारा, गौतम अक्षपाद (कणाद) वात्स्यायन एवं प्रशस्तपाद भाष्य ।

१३.

पाशुपत-सूत्र और उनका प्रचार

पाशुपत सूत्रों पर तैत्तिरीय आरण्यक के मन्त्रों एवं रुद्राध्यायी का प्रभाव दिखाई देता है।[१] अधिकांशसूत्र तैत्तिरीय आरण्यक से गृहीत हैं। उदाहरणार्थ सद्योजात,[२] वामदेव,[३] भवे भवे नाति भवेरुद्र,[४] कलाविकरण,[५] बल विकरण,[६] प्रमथ सर्वभूतदमन,[७] अघोर-घोर,[८] घोरतर[९] शर्व,[१०] तत्पुरुष,[११] महादेवस्यधीमहि इत्यादि।[१२]

श्वेताश्वतर उपनिषद् से जो तथ्य ग्रहण किये गये हैं उनमें ईशान,[१३] वीतशोक,[१४] विभुत्व,[१५] महेश्वर,[१६] दक्षिणामुख,[१७] शक्ति (ज्ञान-बल-क्रिया)[१८] द्देवप्रसाद,[१९] था प्रकृति[२०] एवं योग[२१] से सम्बन्धित विचार।

रुद्राध्यायी एवं तैत्तिरीय आरण्यक की परम्परा श्वेताश्वतर[२२] एवम् मैत्रायणी संहिता में मिलती है।[२३] मैत्रायणी संहिता के मन्त्र पाशुपत सूत्रों में उपलब्ध होते हैं।[२४]

चतुर्थशती में (३५० ई.) उत्तर भारत में पाशुपतोपासना के विद्यमान होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं।[२५]

पञ्चार्थ दर्शन

बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में जिस माहेश्वर मत की चर्चा की गयी है[२६] उसे शंकराचार्य ने अपने भाष्य में पञ्चार्थ कहा है।[२७] अन्य साक्ष्यों से भी विदित होता है कि माहेश्वर मत का विकसित रूप लकुलीश प्रवर्तित, पाशुपत सूत्रों का दर्शन "पञ्चार्थ दर्शन" ही था।[२८] इसमें १६८ सूत्र—सद्योऽजात, वामदेव अघोर, तत्पुरुष, ईशानादि पांच भागों में विभाजित हैं।[२९] इन पञ्चार्थ सूत्रों का भाष्य पञ्चार्थ-भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है[३०] जो लकुलीश पाशुपतों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा प्रारम्भिक और आधारभूत ग्रन्थ है।[३१]

पाशुपतसूत्रों के भाष्यकर्ता कौण्डिन्य और उनकी ऐतिहासिकता

भाष्य के प्रारम्भ में कहा गया है कि पञ्चार्थ का भाष्य कौण्डिन्य ने किया।[३२] कौण्डिन्य के विस्तृत परिचय के सन्दर्भ में साक्ष्यों के अभाव में कुछ लिखना कठिन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में गुरुपरम्परा-प्रकरण में कौण्डिन्य नाम एक गोत्र नाम के रूप में

होता है ।[३३] विशुद्ध मुनि के यमप्रकरण[३४] व सर्वदर्शन संग्रह में भाष्यकार का उल्लेख है ।[३५] इसमें भाष्यकार का नाम राशिकर आया है ।[३६] राशिकर नाम षड्दर्शन समुच्चय व गणकारिका में भी उपलब्ध है ।[३७] गणकारिका रत्नटीका में लकुलीश से राशिकर तक की परम्परा की चर्चा है ।[३८] गुरुपरम्परा में सत्तरहवें गुरु राशिकर की चर्चा है ।[३९] पञ्चार्थ भाष्यकर्ता राशिकर का नाम ही साक्ष्यों से प्रमाणित होता है ।[४०] गणकारिका एवं सर्वदर्शन संग्रह[४१] विशुद्धमुनि के आत्मसमर्पण यमप्रकरण[४२] तथा षड् दर्शन समुच्चय में[४३] जिन सूत्रों, पञ्चार्थ, सूत्रों और उनके पञ्चार्थ भाष्य की चर्चा है । वह निश्चित रूप से पञ्चार्थ पाशुपत सूत्र एवम् कौण्डिन्य कृत पञ्चार्थ भाष्य ही था ।[४४]

अतएव उपर्युक्त साक्ष्यों से विदित होता है कि राशिकर एवं कौण्डिन्य एक ही व्यक्ति थे ।

कौण्डिन्य व पञ्चार्थ भाष्य का काल

कौण्डिन्य कृत राशिकर-भाष्य ईसवी तृतीय शती के अन्तिम सोपान अथवा चतुर्थ शती के प्रारम्भ ३०५ ई. के लगभग का साक्ष्यों से प्रमाणित होता है ।[४५] जब पाटलिपुत्र एक प्रमुख एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्वपूर्ण अविजित नगर का स्वरूप ग्रहण कर चुका था ।[४६] उज्जयिनी सांस्कृतिक-धार्मिक केन्द्र हो गयी थी ।[४७] इस समय एक साधारण व्यक्ति के राजा होने का उल्लेख है ।[४८] राशिकर का समय कुशिक और ईशान की परम्परा के पश्चात्[४९] कुशिक द्वितीय से दसवां एवम् मथुरालेख के उदित से पूर्व का है ।[५०] इस समय मनु के नियम और व्यवस्था स्थिर हो चुकी थी ।[५१] भाषा के दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ पर महाभाष्य का प्रभाव है ।[५२] वैयाकरण की शैली का उपयोग किया गया है ।[५३] नाट्यशास्त्र एवं गान्धर्वशास्त्र के उल्लेख से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ दूसरी शती ईसवी से पूर्व का नहीं है ।[५४]

पञ्चार्थ-भाष्य व अन्य दार्शनिक परम्पराएं

पञ्चार्थ-भाष्य पर सांख्य-योग[५५] का विशिष्ट प्रभाव है किन्तु अपने स्वरूप के सन्दर्भ में उसका स्रोत श्वेताश्वतर उपनिषद् ही है ।[५६] जिससे सांख्य विकसित हुआ । सांख्य दर्शन से सम्बन्धित साहित्य और योगसूत्रों की रचना इस समय तक हो चुकी थी ।[५७] न्यायसूत्र और वैशेषिक सूत्र पूर्णतः प्रकाश में आ गये थे ।[५८] पञ्चार्थ-भाष्य में उपर्युक्त दार्शनिक प्रणालियों एवं तत्सम्बन्धी साहित्य की झलक मिलती है ।[५९] मैत्रायणी उपनिषद् में वर्णित सांख्य-योग के तत्व श्वेताश्वतर के पाशुपत दर्शन की परम्परा में है ।[६०] जिनका विकसित रूप भाष्य में मिलता है ।[६१]

लकुलीश-परम्परा के अन्तिम पाशुपताचार्य

कौण्डिन्य अथवा राशिकर के पश्चात्[६२] उदिताचार्य का नामोल्लेख परम्परा में कुशिक द्वितीय अथवा अपर कुशिक से दसवें स्थान के पश्चात् मिलता है ।[६३] उदिताचार्य

पराशर से चौथी पीढ़ी में थे ।[६४] पराशर की परम्परा पूर्वोल्लिखित गुरु परम्परा से अलग किन्तु पूर्णतः पाशुपत-परम्परा हैं ।[६५] पराशर एवं उदिताचार्य के मध्य कपिल विमल एवं उपमित विमल के शिष्य थे । परम्परानुसार गुर्व्वायतन में इन आचार्य द्रय की प्रतिमा स्थापित किये जाने का उल्लेख है ।[६६] यह परम्परा ३८० ई. के सद्यः पूर्व की है ।[६७] स्पष्टतया इस समय मथुरा पाशुपतों का एक प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था ।

दक्षिण भारत में पाशुपत मत और कापालिक-सम्प्रदाय

एक महायानी साहित्य में न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य के साथ पाशुपतों का उल्लेख है जिससे विदित होता है कि इस समय दक्षिण भारत में पाशुपतों का विस्तार हो रहा था ।[६८] योगसूत्र व न्यायसूत्रों का भाष्य,[६९] सांख्य कारिका[७०] तमिल देश में नक्करदेव की शैव परम्परा,[७१] स्मार्त्तपरम्परा इसकी समकालीन है ।[७२]

कषाय-कुण्डली लकुलीश पाशुपतों की परम्परा [७३] से नव्य परम्परा के निःसृत होने का प्रमाण मिलता है जो कापालिक पाशुपतों के नाम से विख्यात हुये ।[७४] वाचस्पति एवं भास्कराचार्य,[७५] यामुनाचार्य,[७६] याज्ञवल्क्य स्मृति, [७७] सप्तशती, ललित विस्तर आदि में कापालिकों के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि ईसा पूर्व की प्रथम शती से इसकी प्रथम शती तक यह सम्प्रदाय प्रकाश में आ चुका था । अमरकोष में टीकाकार क्षीरस्वामी ने भी इनका उल्लेख किया है । कापालिकों का सोम मत से घनिट सम्बन्द्ध बताया गया है जो पाशुपत मत है ।[७८] कापालिकों से सम्बद्ध एक अन्य मत था जिसका केन्द्र वर्तमान गोरखपुर में आज भी है उसे गोरक्षमत कहा जाता है ।[७९] गोरक्षमत को लकुलीश पाशुपत मत से सम्बद्ध कहा गया है ।[८०] कौलमत से पाशुपत सम्प्रदाय के सम्बद्ध होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं । कयोंकि कौल-सम्प्रदाय के संस्थापक अल्लट या कालवर्त पाशुपत योगी विश्वरूप के शिष्य थे जो पाशुपतों के पञ्चार्थि (लकुलीश पाशुपत) सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे ।[८१] गोरक्षनाथ जो कौल मत्स्येन्द्र के शिष्य थे उन्हें इस सम्प्रदाय से सम्बद्ध कहा गया है ।[८२] लकुलीश के चार शिष्यों अथवा पञ्चदेवों की परम्परा में गोरक्ष नाम उपलब्ध होता है ।[८३]

लकुलीश पाशुपत मत और कालमुख सम्प्रदाय

पाशुपतों की परम्परा में कालमुखों का विशेष महत्व है । जिनके उल्लेख हमें परम्परा में प्राप्त होते हैं ।[८४] साक्ष्यों से विदित होता है कि कालमुख सम्प्रदाय अपने पूर्ववर्ती लकुलीश पाशुपत-सम्प्रदाय से घनिट रूप से सम्बद्ध था और उनकी परम्परा में ही कालमुखों का विकास हुआ । बेलगांव के दक्षिण केदारेश्वर मन्दिर के कालमुख लेखों में लाकुल-समय या लाकुल-सिद्धान्त की चर्चा है ।[८५] एक अन्य स्थल पर इस परम्परा के एक प्रसिद्ध आचार्य को इस जगत का लकुलीश घोषित किया गया है ।[८६] वस्तुतः उक्त लेख कालमुखों की शक्ति परिषद व सिंह परिषद से सम्बद्ध है जिनके कुछ आचार्य,

जिसमें श्रीकंठ आदि उल्लेखनीय हैं, वे लोग लकुलीश सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे, ऐसा विदित होता है ।[८७]

तथ्यों से यह भी ज्ञात होता है । कि लकुलीश पाशुपत-सिद्धान्तों का अध्ययन वहां के कोदिय मठ में होता था। पूर्वोल्लिखित श्रीकंठ के उत्तराधिकारी लाकुलागम के अनुयायी कहे गए हैं । दक्षिण के अन्य लेखों में लकुलीश मत और कालामुखों के मध्य गहरा सम्बन्ध बताया गया है ।[८८] इन लेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि ग्यारहवीं शती में लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय उत्तर-पश्चिम भारत में मैसूर में प्रचलित हो गया था । साथ ही कन्नड़ अभिलेखों में भी लकुलीश का उल्लेख प्राप्त होने लगता है । एक स्थल पर कहा गया है कि भुजंग वल्ली के पुजारी जो शक्ति परिषद् से सम्बद्ध थे उनकी एक शाखा (कालमुखों की) कश्मीर से और दूसरी लकुलीश से सम्बद्ध थी ।[८९]

मुहम्मद गोरी व गजनी के आक्रमण के समय सोमनाथ व मथुरा पाशुपतों के शक्तिशाली केन्द्र थे किन्तु इसी समय इनका दक्षिण की ओर प्रसरण भी होने लगता है ।[९०] सोमनाथ लेख से स्पष्ट हो जाता है कि लकुलीश की शिष्य-परम्परा इस समय वहां जीवित थी । अलबेरुनी के उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि इस शती में उत्तर-पश्चिम भारत से विद्वान् साधु व साहित्यकार दक्षिण की ओर चले गये ।[९१]

साक्ष्यों से यह भी विदित होता है कि आठवीं शती से श्रीपर्वत कालमुखों का केन्द्र था जहां लकुलीश के सिद्धान्तों के आधार पर अध्ययन की परम्पराएँ थी ।[९२] एक अन्य लेख में दक्षिण के मुख्य कोणेय समिति के पुजारियों को लाकुलागम का श्रृंगार कहा गया है, यह स्थान बेलगांव के पर्वतवल्ली में है ।[९३] एक अन्य लेख में शब्द-शास्त्र की चर्चा है जिसने लाकुल-सिद्धान्त के विकास में नवजीवन दिया । अतः कालमुखों के पूर्ववर्ती लकुलीश पाशुपत ही प्रतीत होते हैं और इनके उत्तराधिकारी के रूप में वीरशैवों का नामोल्लेख किया जा सकता है । होयसल राजा बल्लाल के समय के एक अन्य लेख में कुछ कालमुख आचार्यों व एक आचार्य को शिव भक्त और लाकुल-सिद्धान्त का अनुयायी कहा है । श्रीपर्वत या श्री शैल के अन्य कालमुखों को लाकुलिन् (लाकुल-सिद्धान्त) व नैयायिक, कहा गया है ।[९४] अनेकशः अन्य साक्ष्यों से भी विदित होता है कि लकुलीश की परम्परा में ही कालमुख या श्रुतिमुख हुए हैं ।

सन्दर्भ

१. पा.सू., पञ्चार्थ भाष्य अ. १ पृ. २९.
"भस्मोध्वस्तो भस्मराशौ शयानो, रुद्राध्यायी मुच्यते पातकेभ्यः" एवं तै. आ. रुद्राध्यायी के अधोलिखित मन्त्र तैत्तिरीय आ. से ग्रहण किये गये हैं ।

२. रुद्राध्यायी; अ. १०-५; पा. सू. १,४०,४१ सद्योऽजातं प्रपद्यामि सद्योजताय वै नमोनमः ।

३. रुद्राध्यायी १०-६; पा.सू. २-२२.
४. रुद्राध्यायी १०-५; पा.सू. १-४२.
५. रुद्राध्यायी १०-६; पा.सू. २-२४.
६. रुद्राध्यायी १०-६; पा.सू. ५-२५.
७. रुद्राध्यायी १०-७; पा.सू. २-२५,२६.
८. रुद्राध्यायी १०-८; पा.सू. ३-२१,२२.
९. रुद्राध्यायी १०-८; पा.सू. ३-२३.
१०. रुद्राध्यायी १०-८; पा.सू. ३-२४,२५,२६.
११. रुद्राध्यायी १०-९; पा.सू. ४-२२ तत्पुरुष षाय विद्महे।
१२. रुद्राध्यायी १०-९; पा.सू. ४-२३ महादेवस्य धीमहि।
१३. श्वेता. ३-१२; पा.सू. ४-४२.
१४. श्वेता. ४-७, २-२०; पा.सू. ५-३९.
१५. श्वेता. ३-२०; पा.सू. १-२४ भाष्य।
१६. श्वेता. ४-२०; पा.सू. ५-२८.
१७. श्वेता. ४-२१; पा.सू. १-९.
१८. श्वेता. ६-८; पा.सू. ४-२४,५-४७ पृ. ४८.
१९. श्वेता. ६-२१; पा.सू. अ. १ भाष्य पृ. ४.
२०. श्वेता. ६-१०; अ. १ पा. सू. २-५.
२१. श्वेता. अ. १,२; पा.सू. १-२५; सांख्ययोग, पं. ५ योग, १-१६ पृ. ६, पृ.; २८; ग्रन्थार्थ विदुषे नित्ययोगमार्गा प्रदर्शित!
२२. द्रष्टव्य पृ. ६० इसी अध्याय में।
२३. मैत्रायणी संहिता, २-२-१-३, २-२-१०-५४.
२४. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य, १-४०, ४१,४२, २५,२६, ३-२१, २२,२३, ४-२२, २३.
२५. प्रयाग-प्रशस्ति पंक्ति ९ "पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जरान्तगुहा निरोध-परिमोक्ष शीघ्रामेव गांग (पयः) ११ (९)—गुप्त अभिलेख गुप्त साम्राज्य—पी.एल. गुप्त १९७०.
२६. ब्रह्मसूत्र, २-२-३७-४०.
२७. ब्रह्मसूत्र, २/२/३७-४० शंकरभाष्य।
२८. पूर्व द्रष्टव्य श्वेताश्वतर से पाशुपतसूत्रों तक नकुलीश पाशुपत दर्शनम्-सर्वदर्शन् संग्रह "केचन माहेश्वरः परमपुरुषार्थ साधन पञ्चार्थ प्रपञ्चनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयन्ते" "तत्रेदमांदिसूत्रम् अथातः पशुपतेः पाशुपतः" "भेदात्पञ्चविधः" "कार्य, कारण, योग-विधि दुःखान्ते" सूत्रकारेण।" — पाशुपतसूत्र पञ्चार्थभाष्य अ. १; ब्रह्म सूत्र भाष्य-शंकर।
२९. पाशुपतसूत्र पञ्चार्थ भाष्य।
३०. सर्वदर्शन संग्रह पृ. ३०९ नकुलीश पाशुपत दर्शनम् 'पञ्चार्थ भाष्य दीपिकादो द्रष्टव्य पञ्चार्थ प्रतिपादन पाशुपत शास्त्रं।"

३१. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य के साथ ही प्राप्त हो सका है ।इसे पाशुपतशास्त्र व ग्रन्थ की संज्ञा दी गयी है जो पञ्चार्थ भाष्य के रूप में शास्त्र अर्थात् शिव रूप में आदि से अन्त तक है । —पाशुपत सूत्र पन्चार्थ भाष्य "अथशब्दादि शिवान्त" ।

३२. कौण्डिन्य विरचित पञ्चार्थ भाष्य सू. ।
"पञ्चार्थ क्रियते भाष्यं कौण्डिन्येनुपूर्वशः ।"

३३. वृहदारण्यक उपनिषद् गुरुपरम्परा प्रकरण "कौशिकः कौण्डिन्यात् । कौण्डिळ्यशाण्डिलात् । विदर्भी कौण्डिन्यात् । विदर्भी कौण्डिन्यो ।

३४. यमप्रकरण २, रुद्रनामानि ।

३५. नकुलीश पाशुपत दर्शनम्-"पञ्चार्थ भाष्य दीपिकादौ द्रष्टव्यः" ।

३६. नकुलीश पाशुपत दर्शनम् - "स खलु राशिकर भाष्ये द्रष्टव्यः ।"

३७. राजशेखर सूरि "राशिकरः सप्तदशो" एवम् हरिभद्रसूरि । गणकारिका रत्नटीका पृ. १९- "लकुलीशादीन् राशिकरान्ताश्च तीर्थकरानुक्रमेण"

३८. वही

३९. पूर्वोद्धृत

४०. नकुलीश पाशुपतदर्शनम् "पञ्चानां पदार्थानां प्रमाणतः पञ्चाभिधानं विस्तरः । स खलु राशिकर भाष्ये द्रष्टव्यः गणकारिका रत्नटीका पृ. ९ "श्रीमताऽऽचार्येण भाष्यावसाने पृ. १३.श्रीमद् भाष्यकृताऽपि, पृ. २१ —सूत्रभाष्य ।

४१. उपर्युक्त में सूत्रभाष्य व भाष्य उद्धृत है विशुद्धमुनिकृत आत्मसमर्पणम् ६,१२ (गणाकारिका) ।

४२. पञ्चार्थ भाष्य पृ. १४६, अ. ५/४७.
"एवमेते पञ्चपदार्थाः कार्यकारण योगविधि दुःखान्ताः समास विस्तार विभाग विशेषोपसंहार निगमनतश्च व्याख्याताः ।"
इस उद्धरण की तुलना उपर्युक्त पाद टिप्पणी ९ "पञ्चानां पदार्थानां प्रमाणतः पञ्चाभिधानं विस्तरः स खलु राशिकर भाष्ये द्रष्टव्यः" से स्पष्ट है कि पञ्चार्थ भाष्य कर्ता राशिकर ही थे जिनका गोत्र नाम कौण्डिन्य था ।—गणकारिका रत्नटीका
"तत्र पञ्चपदार्थ विषयं समास विस्तर विभाग-तेषां समासादीनां स्वरूपं यद्यपि श्रीमताऽऽचार्येण भाष्यावसाने प्रकटितं... ॥"

४३. भण्डारकर ए.पी. ३०१/१/१-९; "चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरालेख (३८० ई.) में कुशिक से १० वें उदित का उल्लेख है । पूर्व में प्रमाणित है वे अपरकुशिक १० वें थे इनसे १० वें उदिताचार्य थे । १७ वें राशिकर थे इस प्रकार उदित अपर कुशिक के १० वें राशिकर ७ वें पीढ़ी में हुये थे । प्रमाणित है कि राशिकर उदित से ३ पीढ़ी पूर्व हुये । पूर्व नियम के अनुसार ३ पीढ़ी २५ वर्ष अर्थात् उदित से ७५ वर्ष पूर्व राशिकर का काल ३८० ई. -७५ वर्ष ३०५ ई. का प्रतीत होता है । लकुलीश की निर्धारित तिथि द्वितीय शती ईसापूर्व १२५-३० से १७ वीं पीढ़ी ४२५ वर्ष पश्चात् ३०५ ई. ही उचित जान पड़ता है । हिस्ट्री आफ शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया पृ. ९ पर आधारित ।

४४. पञ्चार्थ भाष्य अ. ५/७ पृ. ११४/१५ "वायु काम क्रोध पाटलिपुत्रवत् " अर्थात् पाटलिपुत्र की विजय उतनी ही असम्भव है जितनी वायु, काम, क्रोध पर ।

४५. पाशुपत सूत्र भाष्य, पृ. ३-उज्जयिनी में नकुलीश द्वारा उपदेश (अ. १ १). ।

४६. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य, ५/३५ पृ. १३४.
"नृपदहनतस्कर दायाद साधारण फलत्वात्। "- श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री महोदय (पञ्चार्थ भाष्य नामक पुस्तक के सम्पादक)भूमिका, इसमें साधारण व्यक्ति के राजा होने का संकेत मानते हैं (भूमिका पृ. १३) परन्तु यह संकेत चन्द्रगुप्त प्रथम के लिये है, जो सद्यः पाटलिपुत्र का राजा हुआ था, साधारण व्यक्ति था । (गुप्त साम्राज्य— पी.एल. गुप्त) ।

४७. पञ्चार्थ भाष्य अ. ४/१० पृ. १०२, "कुशिकेशान सम्बन्धात् प्राक्।" यहां कुशिक और ईशान दोनों की परम्परा का उल्लेख है । यदि प्रथम कुशिक का आशय है तो कुशिक से कारुष (१-५) और ईशान से मनुष्यक की परम्परा (६-९) का उल्लेख है ।

४८. भण्डारकर ए.पी. इ. २१/१-९ "चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा अभिलेख गु.सं. ६१-३८० ई. (उद्धृत शैव कल्टस इन नार्दर्न इण्डिया) ।

४९. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य में मनुस्मृति के उद्धरण हैं- द्रष्टव्य -
अ. १/९ पृ. १६ पाद टिप्पणी २, मनुस्मृति ४/२०४.
पृ. १८ पाद टिप्पणी १, मनुस्मृति ४/६.
पृ. २० पाद टिप्पणी १, मनुस्मृति २/३९.
पृ. २२ पाद टिप्पणी २, मनुस्मृति ४/१३८.
पृ. २५ पाद टिप्पणी १, मनुस्मृति ४/२०२,०३.
पृ. २८ पाद टिप्पणी १, मनुस्मृति २-२००.
अ. १/१२, १२ पृ. ३६ पाद टिप्पणी १, मनुस्मृति ४-७७.
१/३९ पृ. १६ पाद टिप्पणी १, मनुस्मृति २/८५.
३/३ पृ. ७९ पाद टिप्पणी १, मनुस्मृति २/१६२,६३.
कल्चरल हेरटेज आफ इण्डिया पृ. ३७७ वी. राघवन; मनुस्मृति का काल २०० ई. पू. से २०० ई. का है ।

५०. पञ्चार्थ भाष्य की भूमिका—आर अन्नतकृष्ण शास्त्री- पृ. १३.

५१. पाणिनि अष्टाध्यायी—भूमिका, मद्रास द्रष्टब्य ।

५२. लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर (नन्दाज एण्ड मौर्याज) पी.सी. वागची एण्ड वी. राघवन-नाट्य शास्त्र की रचना दूसरी शदी तक हो चुकी थी (पृ. ६३८ मनुस्मृति की रचना भी इस समय तक पूर्ण हो चुकी । पृ. ६५७) ।

५३. पञ्चार्थ भाष्य १/२५ पृ. ४५ "सांख्ययोगादीनमपि सहैश्वर्येण कार्यकारण त्यागं कृत्वा कैवल्य निष्ठा ।" वही १/१६ पृ. ३८ पतञ्जलि योग "प्राणायाम", योग भाष्य, पृ. १४८.

५४. पूर्व द्रष्टब्य श्वेताश्वतर धारा, सांख्यसिस्टम-भूमिका कीथ ।

५५. सांख्यकारिका की रचना ३०० ई. के पूर्व हो चुकी थी । सांख्य सिस्टम—कीथ, पृ. ४३.

भारतीय दर्शन, भाग, २, पृ. ३७७; हिस्ट्री आफ रिलीजिअस लिटरेचर, पृ. ९४.

५६. पूर्व उद्धृत न्याय-वैशेषिक धारा ।

५७. पञ्चार्थ भाष्य, पृ. ७, अ. १/१६/, २०, २/५, ५/४०, ४७.

५८. पन्चार्थ भाष्य पृ. ७, अ. १/१६, २०, २/५, ५/४०, ४७.

५९. मैत्रायणी उपनिषद् ३/३, ३/३ अ. २/५ पृ. ५८, ५९.

६०. षड्दर्शन समुच्चय, एवं कुशिक की परम्परा द्रष्टब्य-भण्डारकर ए.पी.इ. २१/१-९

६१. भण्डारकर -एपी.इ. २१/१-९ चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरास्तम्भ लेख गु. स. ६१ (३८० ई.) "कुशिकाद्दशमेन" ।

६२. वही „ "भगवत्पराशराच्चतुर्थेन" ।

६३. वही „ ।

६४. वही "स्वपुण्याप्यायननिमित्तं गुरुणां च कीर्त्यर्थमुपतितेश्वरकपिलेश्वरौ गुर्त्वाद्यतने गुरु प्रतिष्ठापितौ ।"

६५. अभिलेख की तिथि गु.सं. ६१-३८० ई. है ।

६६. लङ्कावतार सूत्र-रिलीजिअस लिटरेचर आफ इण्डिया पृ. १६१, १५२; दक्षिण महायानी साहित्य ।

६७. रिलीजिअस लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ. १२३, १३२ फर्क्वर्यूयूहर योगचर्या, योगसूत्र, मीमांसा भाष्य (शबरस्वामी) तथा वात्स्यायन का समय चौथी शती ई. से पूर्व ही लगता है । वात्स्यायन (पक्षिल) तमिल निवासी थे । —अभिधान चिन्तामणि "द्रामिलः पक्षिल" ।

६८. तत्रैव „ ।

६९. तत्रैव पृ. १४७.

७० तत्रैव पृ. १४१; बौधायन गृहसूत्र - स्मार्त सूत्र ।

७१. मैत्रायणी उपनिषद् एवं संहिता २/२/१/३, २/२/१०/५४; द्रष्टब्य पूर्व अ. "कषाय कुण्डलिनः कापालिनः" ।

७२. याज्ञवल्क्य स्मृति, ३/२४३ । दण्डधारी शिरः कपाली, जिसके हाथ में (१००-३०० ई.) भिक्षापात्र है— कापालिकाज एण्ड क़ालमुखाज पृ. ७५; गाथा सप्तसती (प्राकृत) ४०८ भस्मराग विभूषित पाशुपत कापालिक ।

७३. भामती, बी. शास्त्री २-२-३७, ब्रह्मसूत्र भाष्य, २-२-३७.

७४. आगम प्रमाण्य के के हन्दी स्वा टिप्पणी, श्रीहर्ष — नैषधचरित पृ. ६४४ १०/८७.

७५. सम्पादक एन. आर. आचार्या ।

७६. प्रबोध चन्द्रोदय अध्याय ३ पृष्ठ ११; क्षत्रचन्द्रशेखर अ. १,२, ९,१७४; तन्त्राधिकारं निर्णय पृ. २, अमृतोक्ष २/२५ ।

७७. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह—जी.एनस. कविराजदिकापालिकाज एण्ड कालमुखाज—डेविड एव लोरेन्जेन पृ. ३६ थामसन प्रेस, दिल्ली १९६२.

७८. शारङ्ग देव की चिन्त्रा प्रशस्ति; एपीग्राफिया इण्डिका पृ. २८४ वी. ४६.

७९. इपी. इ. २, ११६ वि.सं. चाहमान-विग्रहपाल हर्ष प्रस्तर-लेख।

८०. शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इंडिया, पृ. २८, डा. वी. एस पाठक।

८१. एपी. इ. १, पृ. २८४ चिन्त्रा प्रशस्ति।
गोरक्षकं भैखमञ्जनेथ सरस्वतीं सिद्धि विनायक।
चकार पञ्चायतान्तराले बालेन्दु मौलि स्थिति मानसोयः।

८२. आगम प्रमाण्य; श्री हर्ष में उल्लेख पृ. ६४३; श्रीभाष्य २/३५-३६; स्कन्द पुराण, अरुणाचल मा. १०/६५; कर्मरकर पृ २२०; वामन पुराण, १०-२०; षड् दर्शन समुच्चय (राजेश्वर) डा. पाठक पृ. २१; शक्ति संगम तन्त्र,– बी. भट्टाचार्य १/५/९२-९३; सिद्ध सिद्धान्त पद्धति – डा. पाठक द्वारा उल्लिखित पृ. २६.

८३. दक्षिण केदारेश्वर मन्दिर लेख १०७८ ई, राइस इ. सी. ७ एस के ११२.
८४. १०९४ ई. का एकदानपत्र जिसमें केदार शक्ति श्रीरेठ और उनके उत्तराधिकारियों की चर्चा है जो कालमुख पाशुपत थे। 'राइस, इ. ७ एस. के ९४..

८४. उक्त लेखों का निष्कर्ष।

८५. कापालिकाज एण्ड कालमुखाज–डेविड एन. लोरेन्जेनु पृ. १०६-७.

८६. बेलगांव से ११४८ ई. के सिरसांगी व १२१९-२० ई. का नीसांगी लेख जिसमें कालमुखों व पशुपतों की चर्चा है। पाचमुखी–कर्नाटक अभिलेख ; न. २४, १९३९-४९; जे.एफ. फ्लीट जे.वी. वी. आर ए. एस. पृ. १६७-२९८ न.६.

८७. जे.एस. फ्लीट, संस्कृत एण्ड ओल्ड कनारीज इन्सक्रिप्सन्स आइ. ए. १० (१८८१) १२६-३१).

८८. इ.सी. साचौ, अल्बेरुनीज इंडिया, ग. २२.

८९. सोमनाथ की चिन्ना प्रशस्ति–जी. बुहर, इपी. ई. १,२७१-८.

९०. राइस इ.सी. ७, एसके १२३.

९१. फ्लीट, इपी.इ. ५/२२०.

९२ सेतना वल्ली. का हरिहरेश्वर दानपत्र लेख (१२०४ ई.) सन्निगेर ४, न. १.

९३. सोमेश्वर १०६९ ई. का शिवपुर लेख, आर.एस. शास्त्री; एन. एल. राव; एस आई. आई. ९, भाग १, न. १३४.

९४. वेंगी के चालुक्य नरेश (९४७-९७०अ) ताण्डीकोण्डा दानपत्र (बी.वी. कृष्णाराव) इपी. इ. १३, १६१-९७०.
लेखक के अनुसार
"विभिन्न युगों के मुनीश्वरों के अवतरण के आरम्भ में लकुलीश अवतरित हुए जो स्वयं भू रुद्र थे, उन्हीं की परम्पराओं में कालमुख या शुतिमुख हुए और ये लोग सिंह परिषद् के मुनीश्वर हुए।

१४.

लकुलीश पाशुपत मत की पौराणिक धारा

राशिकर कृत पञ्चार्थ भाष्य के पश्चात् पाशुपत-परम्परा का नवोन्मेष पौराणिक कलेवर में होता है।[१] श्वेताश्वतर की पाशुपत धारा का पुनरुत्थान लकुलीश ने नये धार्मिक-दार्शनिक आयामों में किया था।[२] लकुलीश की आचार्य-परम्परा के अन्तिम सोपान पर ही पराशर की परम्परा के अन्तर्गत कपिलेश्वर, उपमित, विद्यागुरु और उदित का उल्लेख प्राप्त होता है।[३] परन्तु चतुर्थ शती के उत्तरार्ध में ही इस परम्परा का विखराव होता दिखाई देता है।[४]

विखराव के इस काल में ही पाशुपतों की परम्परा का समग्र रूपेण समायोजन, सङ्कलन और संग्रह नये पौराणिक परिवेश में होता है।[५] जो प्रकृति से वैदिक[६] और तान्त्रिक दो विचार धाराओं का संगम था।[७]

वायुपुराण और पाशुपत मत

ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपतागम की भक्ति धारा[८] का पुनः उदय इस काल में होता है जो पौराणिक स्वरूप में विस्तार पा सका।[९]

पुराणों में प्राचीनतम वायुपुराण है,[१०] जिसका उल्लेख बाणभट्ट ने किया है।[११] इस पुराण के विभिन्न अंशों की रचना विभिन्न कालों में हुई,[१२] जिसमें पाशुपत योग-प्रकरण को पश्चात् कालीन माना जाता है।[१३] क्योंकि ४०० ई. के पहले अलग न होने वाले ब्रह्माण्ड पुराण[१४] में उपर्युक्त पाशुपत अंश का अभाव है। वायवीय संहिता के रूप में वायुपुराण की प्राचीनता में सन्देह है जो शिव पुराण का भी एक महत्वपूर्ण अंश है।[१५] किन्तु यदि पाशुपत प्रकरण को पश्चात् कालीन मानें तो यह प्रश्न अनुत्तरित होगा कि यह अंश पश्चात् कालीन पुराणों—कूर्म, स्कन्द, शिव इत्यादि में कहां से और कब आया ? इस स्थिति में कहना होगा कि वायुपुराण के प्राचीनतम अंश के लेखन के[१६] साथ ही उसी पौराणिक परिवेश में पाशुपतों की परम्परा का संग्रह, संकलन और समायोजन हो रहा था।[१७] यह माना जा सकता है कि यह कार्य ४०० ई. तक पूरा नहीं हो सका था[१८] अथवा वायुपुराण में संयुक्त न हो सका था। वायुपुराण से पाशुपत परम्परा के संयुक्त

होने का कोई गम्भीर कारण होना चाहिये। बाणभट्ट[१९] और ह्वेनसांग [२०]तथा मिहिरकुल[२१] की प्रशस्ति में उल्लेखों से प्रकट हो जाता है कि पाशुपत धर्म दर्शन का प्रचार व विस्तार इनके उल्लेखों से पूर्व ही हो चुका था। यह तिथि ४०० ई. से ६५० ई. के मध्य की है। ५ वीं-छठीं शती में पाशुपतों की पौराणिक-परम्परा के स्रोत के अभिज्ञान एवं संकलन के कारणों पर गम्भीरता से विचार करना होगा।

वायुपुराण का यह अंश विभिन्न पुराणों में मिलता है।[२२] संभवतः यह पश्चात्कालीन नहीं है। इस पुराण के आलोच्य अंश में महेश्वर के जिन पाशुपत योगावतारों का वर्णन है[२७] उनमें लकुलीश अन्तिभ थे। उनकी प्रथम गुरु-परम्परा के आचार्यों में केवल कुशिक गार्ग्य, मैत्र्य और रुष्य के नाम प्राप्त होते हैं।[२४] इसके बाद की परम्परा नहीं है। वायवीय संहिता में भी ऐसा ही उल्लेख है।[२५] सोमशर्मा और उनकी प्रथम परम्परा का उल्लेख है।[२६] इससे सिद्ध होता है कि इस अंश की रचना दूसरी -तीसरी शती के बाद ही हुई। किन्तु कुशिक की परम्परा के बाद के आचार्यों का नामोल्लेख न होना, कुशिक के बाद स्वतन्त्र पौराणिक पाशुपत-परम्परा की ओर निर्देश करता है।[२७] कदाचित् यह अंश पांचवीं शती के प्रारम्भ में वायुपुराण में संयुक्त हुआ।[२८] शिव प्रसूति सर्ग में महेश्वर के लकुट पार्थिव अवतरण की कथा अधूरी जान पड़ती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है परम्परा के समग्र लेखबद्ध इतिहास का अंश ही वायुपुराण में संयुक्त हुआ है।[२९]

वायुपुराण का पाशुपत मत और उसका तान्त्रिक परिवेश

पाशुपतागम की परम्परा और उसकी प्राचीनता का उल्लेख वायुपुराण में प्राप्त होता है।[३०] लकुलीश से पूर्व ही परम्परा व्यवस्थित रूप में इस पुराण में प्राप्त होती है। श्वेतकल्प से वैवस्वतमनु-काल के श्वेत महामुनि तक का आदिकालीन इतिहास तथा महेश्वर के अट्ठाइस योगावतारों एवम् उनकी चर्या का वर्णन प्राप्त होता है।[३१] लकुलीश की आचार्य-परम्परा के साथ पाशुपतागम की क्रमबद्ध परम्परा के इतिहास का आधार वायुपुराण ही है।[३२] पाशुपतों की न्याय-वैशेषिक परम्परा का आद्य इतिहास भी उपलब्ध होता है।[३३] ऐसा प्रतीत होता है कि वायुपुराण के इस अंश की रचना के समय वैदिक पाशुपतागम में तान्त्रिक धारा का भी समावेश हो गया था[३४] जो पौराणिक परम्परा के रूप में मध्य-पश्चिम एवं उत्तर भारत में गंगा की तरह प्रवाहित हो चला था।[३५] महेश्वर के लकुट पार्थिव अवतरण की कथा पार्वती के प्रश्न पर उनके मुख से कहलायी गयी है जो नवीन लेखन-परम्परा की ओर संकेत करती है।[३६]

पाशुपत मत के महत्वपूर्ण केन्द्र

पाशुपत धर्म के केन्द्र के रूप में प्रभाष, भृगुमण्डल, भृगुनन्द कारोहण, उल्काग्राम, उज्जैन, ब्रह्मवर्त देश, (कानपुर विठूर) तथा मथुरा के अतिरिक्त [३७] रुद्रहिमालय, कैलाश क्षेत्र, केदारनाथ , गोकर्ण, मन्दाकिनी गङ्गा इत्यादि (श्वेताश्वतर का आश्रम) प्राचीन स्थलों

के इतिहास एवम् उनकी परम्पराओं पर प्रकाश पड़ता है।[३८] जो सदियों से महेश्वर योगावतारों द्वारा स्थापित पाशुपत साधना, उपासना एवं धर्म-दर्शन के केन्द्र के रूप विख्यात थे।[३९] दक्षिण के साहित्य में पाशुपतों के उल्लेख से प्रकट होता है कि लकुलीश के पश्चात् कौण्डिन्य की धारा का प्रसार हो रहा था।[४०]

इस प्रकार कैलाश-रुद्र हिमालय से पश्चिमी तट, भृगुकच्छ (पश्चिमोत्तर एवं उत्तर भारत) तथा मध्य[४१] एवम् दक्षिण भारत[४२] में पाशुपत धर्म का विस्तार वायुपुराण के इस अंश के रचनाकाल तक हो गया था।

विशिष्ट साहित्य में पाशुपत-परम्परा

लगभग इसी समय के पाञ्चरात्र साहित्य में भी पाशुपतों के उल्लेख मिलते हैं।[४३] विष्णु के संकल्प से शिव के मुख से उद्भूत पाशुपत योग का वर्णन अहिर्बुध्न्य संहिता में मिलता है[४४] जिससे तान्त्रिक धारा के प्रवेश की सूचना मिलती है।[४५]

पांचवीं सदी के अवसान पर अन्यान्य ग्रन्थों, याज्ञवल्क्य स्मृति[४६] वृहत्पराशर,[४७] योगियाज्ञवल्क्य[४८] इत्यादि के विभिन्न स्थलों पर पाशुपतों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

द्विविध पाशुपतागमों का संगम

पूर्व के साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि पांचवीं शती में पाशुपतों के समानान्तर पाञ्चरात्रों का विकास भी शीघ्रता से हो रहा था।[४९] शैव धर्म शैव पाशुपत, तथा पाशुपत, लकुलीश पाशुपत (मुख्य शाखा) और कापालिकों में विभाजित होकर विकसित हो रहे थे।[५०] दक्ष यज्ञ-कथा तान्त्रिक स्वतन्त्र पाशुपतों के वैदिक-परम्परा में अन्तर्लयन का द्योतक है।[५१] बाद में तान्त्रिक-परम्परा भी वैदिक मानी जाने लगी।[५२]

वायुपुराण की पाशुपत – परम्परा एवं लकुलीश की प्रतिमाएं

वायुपुराण के आलोच्य प्रकरणों से[५३] विदित होता है कि पाशुपतागम परम्परा के अभिज्ञान एवं संकलन के सुनियोजित प्रयास ने पाशुपतों के पौराणिक परिवेश को जन्म दिया।[५४]

श्वेताश्वतर इस परम्परा के प्रणेता एवं प्रथम योगावतार थे।[५५] श्वेत की परम्परा के अट्ठाइसवें योगावतार लकुलीश, जो श्वेत-परम्परा के नवोन्मेषकर्ता और अपनी धारा लकुलीश पाशुपतागम के प्रणेता थे।[५६]

लकुलीश ने अपने शिष्य कुशिक को पाशुपतयोग का ज्ञानोपदेश उज्जयिनी में किया।[५७]

पञ्चार्थ भाष्य व वायुपुराण की रचना काल के[५८] समानान्तर लकुलीश की प्रतिमा निर्माण के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं।[५९]

श्वेतकल्प और पाशुपत मत का तान्त्रिक परिवेश

वायुपुराण के अनुसार पाशुपत-धारा का आविर्भाव वैवस्वत मन्वन्तर में श्वेत-कल्प में हुआ[६०] जब श्वेत-महेश्वर प्रकट हुये।[६१] महेश्वर के अनुग्रह से तपोशील श्वेताश्वतर ऋषि का अवतरण एवं ज्ञान हुआ जो अपनी धारा के प्रणेता थे।[६२] श्वेत की समग्र युग की धारा अथवा परम्परा श्वेतकल्प के नाम से ज्ञात है।[६३] क्योंकि इस परम्परा का सृजन श्वेत से हुआ है। लकुलीश इस धारा के अन्तिम योगावतार थे।[६४]

दक्ष-यज्ञ-कथानक,[६५] कथानक से महेश्वर-रुद्र की सर्वश्रेष्ठता,[६६] इस सम्प्रदाय की वैदिकता,[६७] लोकप्रियता[६८] व सुदृढ़ता की सूचना मिलती है।[६९] सम्भवतः यह अंश पाशुपतों की श्रुतिमूलकता में सन्देह के कारण लेखबद्ध हुआ।[७०] क्योंकि तत्कालीन परिवेश में शतरुद्रीय की विशाल परम्परा की भांति ही अनेकानेक परम्पराओं और तान्त्रिक तत्वों का संगम और परिपाक हो रहा था।[७१]

पाशुपतसूत्रों व पञ्चार्थ भाष्य के अनन्तर वायुपुराण का आलोच्य अंश पाशुपतागम का संक्षिप्त संग्रह है।

छठीं शती में पाशुपत मत और न्याय-वैशेषिक

छठीं शती के प्रारम्भ में ही न्याय-वैशेषिकों में भी पाशुपत-परम्परा उपलब्ध होती है।[७२] उद्योतकर[७३] एवं प्रशस्त पाद[७४] पाशुपत मत से प्रभावित थे।[७५]

छठीं-सतावीं शती में लकुलीश पाशुपत मत

बाणभट्ट के समय में पाशुपत साधक देश के विभिन्न भागों में थे।[७६] उन्होंने दिवाकरमित्र के आश्रम में पाशुपत साधकों के उपस्थिति का उल्लेख किया है।[७७]

षष्ठ शती के अवसान तक पश्चिमोत्तर भारत की सीमा पर 'कपिशा'[७८] भी इस पाशुपत-परम्परा का केन्द्र बन गया था। वहां के भस्मराङ्ग विभूषित कपालधारी पाशुपतों की चर्चा है।[७९] ह्वेनसांग ने अहिक्षेत्र में नौ देवमन्दिरों व तीन सौ पाशुपत साधकों का उल्लेख किया है।[८०] कपित्थ या संकिस्स में माहेश्वर उपासक थे।[८१] वाराणसी भी पाशुपतों का विख्यात केन्द्र हो चुका था।[८२] यहां के मुण्डितकेश, जटाजूटधारी, दिगम्बर, भस्मराङ्ग विभूषित कठोर पाशुपत साधक दुःखान्त (जन्म-मृत्यु बन्धन समाप्ति) प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे थे।[८३] मालवा में पाशुपतों की संख्या इस समय अधिक थी।[८४]

यद्यपि उज्जयिनी में पाशुपतों का नामोल्लेख ह्वेनसांग ने नहीं किया है तथापि अनेक प्रकार के विरोधियों के शब्दों में यह सम्प्रदाय ध्वनित होता है।[८५] महेश्वर पुर के धर्मावलम्बियों में पाशुपतों की संख्या अधिक थी।[८६] सिन्ध के दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र में अत्य नकबेल नामक राज्य में दस देवमन्दिरों में पाशुपत साधक निवास करते थे।[८७] लङ्कीलों या लङ्गल में महेश्वरदेव के मन्दिर व पाशुपतों का उल्लेख है।[८८] यहां के

पाशुपतों की धार्मिक चर्या का भी उल्लेख है ।[८९] सिन्ध के अबन्द राज्य के पांच देव-मन्दिरों में पाशुपत अनुयायी थे ।[९०]

आलोच्य विवरण से ज्ञात होता है । कि सातवीं शती के प्रारम्भ तक लकुलीश की पाशुपत धारा अफगानिस्तान, कपिशा, हिन्दूकुश से उत्तर, मध्य व पश्चिम व दक्षिण भारत में विखर कर पल्लवित और विकसित हो रही थी । सम्भवतः यह प्रसार पौराणिक परिवेश व दार्शनिक सुदृढ़ता[९१] के कारण ही सम्भव हो सका था ।

सन्दर्भ

१. वायु पुराण -पाशुपत योग, युगधर्म निरूपण ।

२. पूर्व द्रष्टव्य-श्वेताश्वतर एवं लकुलीश धारा ।

३. एपी.इ. २१/१-९ चन्द्रगुप्त द्वितीय मथुरालेख —भंडारकर ।

४. एपी.ई. २१/१०९ - चन्द्रगुप्त द्वितीय मथुरालेख —भंडारकर । उक्त लेख में आचार्य -परम्परा के १७ वें राशिकर १८ वें विद्यागुरु के पश्चात् उदिताचार्य (कुशिक द्वितीय से दसवें) का उल्लेख है । इसके पश्चात् लकुलीश पाशुपतों की आचार्य -परम्परा विखर जाती है । दक्षिण भारत में पाशुपतों के उल्लेख मिलते हैं । (लङ्कावतार सूत्र) । कापालिक पाशुपतों की नवीन धारा निःसृत होती है ।

५. वायु. पु. अ. २२-२३, पाशुपतयोग निरूपण ।

६. पूर्वोल्लिखित श्वेताश्वतर की धारा "श्रुतिश्च द्विविधा । वैदिकीतान्त्रिकी च" शिव पु. वा. सं. २४; उ. भाग १७७-७८, परमसंहिता प्रस्तावना पृ. ३०.

७. पञ्चार्थ भाष्य -पा.सू. को तन्त्र भी कहा गया है । अ. १. पृ. २ "तन्त्रे सिद्धम्" पृ. १९,२०,२१,२२,२३,२४,२५,२७,२९,३१,३३; पञ्चार्थ भाष्य ही तान्त्रिक व वैदिक परम्परा का संगम है ।

८. पाशुपतागमिक धारा (पूर्व द्रष्टव्य) ।

९. वायु,कूर्म, शिव. ,स्कन्द पुराणों में पाशुपत धारा का आगमिक स्वरूप (आगे...)

१०. आर.सी. हाजरा, क्रोनोलाजी आफ पुराणिक चैप्टर्स, पृ. १७४ (२००-४०० ई.); फर्क्यूहर- क्लासिकल लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ. १४५.

११. हर्षचरित, उच्छ्वास ३ पृ. ३९ (बाणभट्ट—पी.पी. काणे, मोतीलाल बनारसी दास १९७३) "पवमान प्रोक्तं पुराणं प्रपाठ" ।

१२. आर.सी. हाजरा, पौराणिक रिकार्डस्, पृ. १७४ .
अ. ५७—९५ = युगधर्म २००-२७५ ई.
७३—८३ = २००-५०० ई. अव्यपश्चात् कालीन ।
१६—७१ = ४०० ई. के बाद जोड़े गये ।

१३. आर.सी. हाजरा, पौराणिक रिकार्डस, पृ. १५.

१४. आरसी. , हाजरा पौराणिक रिकार्डस , पृ. १५.

१५. आरसी. हाजरा, पौराणिक रिकार्डस पृ. १३

१६. आरसी., हाजरा पौणाणिक रिकार्ड्स पृ. १६-२०० से २७५ ई. व २०० से ४०० ई.

१७. पञ्चार्थ- भाष्य का प्रभाव तथा पराशर की परम्परा प्रचलित थी किन्तु वह परम्परा पौराणिक नहीं है । इस परम्परा में पौराणिको छाप वायुपुराण से ही पड़ी होगी ।

१८. प्राचीनतम अंश पाशुपत योग प्रकरण नहीं है । ब्रह्माण्ड पु. में पाशुपतागम का उल्लेख नहीं है ।

१९. हर्षचरित, कादम्बरी ६००-६५० ई.

२०. जीवनी- सैमुअल बील, ६२९-६४५ ई.— ह्वेनसांग की यात्रा ।

२१. ग्वालिअर-प्रशस्ति ५००-५३२ ई.

२२. कूर्म पुराण पूर्व भाग अ. ५१, शिवपु.; वा.स.; पूर्व भाग.; स्कन्दपुराण योगावतार ।

२३. वायुपुराण अ. २३.

२४. वायुपुराण अ. २३/२०८, १०,१२
"तदा चाहं भविष्यामि योगात्मा योगमायया ।
भविष्यामि तदा ब्रह्म न कुली नाम नामतः ॥"
"तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपस्विनः ।
कुशिकश्चैव गार्ग्यश्च विश्वको रुष्य एव च ॥"

२५. शिव.पु,.वा.सं. पूर्व भाग पाशुपत योगावतार ।

२६. वायुपु. अ. २३/२१९, २०,२१.
प्रभाषतीर्थवासी सोमशर्मा उनके शिष्य कणाद् अक्षपाद, उलूक, वत्स ।

२७. पूर्व निर्देशित इसी अध्याय में ।

२८. पूर्व निर्देशित इसी अध्याय में ।

२९. वायुपुराण, शिवप्रसूति सर्ग द्रष्टव्य ।

३०. श्वेत की परम्परा पूर्वोल्लिखित ।

३१. वायुपुराण अ. २२, ३, २० अ. २३ १०१-२२.

३२. वायुपुराण अ. २२.

३३. वायुपुराण अ. २३/२१९, २०,२१ सोमनय, कणाद, उलूक, वत्स ।

३४. इस अंश में लकुलीश की शिष्य -परम्परा है । पाशुपत सूत्रों एवं पञ्जार्थ भाष्य की रचना हो चुकी थी । (३०५ ई.) वायवीय संहिता पूर्व भाग अ. २८/६.
"परमोयोग पर्यन्तो धर्म्मः श्रुतिशिरोगतः ।
धर्मस्वपरमस्तद्वदधः श्रुतिमुखे स्थितः ॥" २८/११
"शैवागमो हि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च स श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरोमतः ॥२८/११
अश्रौत अर्थात् इतर मत का स्वतन्त्र का अर्थ तन्त्र से है जिसका विवरण पञ्चार्थ भाष्य में है ।

३५. वायु.पुराण शिव प्रसूति सर्ग (गणकारिका से उद्धृत)।
वैकलास क्षेत्र वैकलाश शिखरावरूढ़ भगवन्तं त्रिलोचनम्।
कुरुक्षेत्र-तस्मिन् तीर्थे सर्वकामार्थ साधने॥ सोमतीर्थ, प्रभास, भृगमंडल, उल्काग्राम-पूर्वोल्लिखित अ. २३/२१९, २०,२१ एवं शिवप्रसूति सर्ग। वायुपु. अ. २३/१०१-२२ श्वेताश्वतर या श्वेत का आश्रम पूर्वोल्लिखित मन्दाकिनी गङ्गा, केदारनाथ, अमरवन, कैलास रुद्रहिमालय क्षेत्र।

३६. वायुपुराण- शिवप्रसूति सर्ग "एकाकिनं प्रभुं दृष्ट्वा पपृच्छ पार्वती तदा"। शक्तिरूपा पार्वती द्वारा अवतरण (योगावतार) के रहस्य की जिज्ञासा का दार्शनिक महत्व है।

३७. पूर्वोल्लिखित सोम एवं लकुलीश की परम्परा।

३८. वायुपुराण अ० २३ श्वेतमुनि और उनका आश्रम।
द्रष्टव्य पूर्व श्वेताश्वतर धारा, पाद टिप्पणी, उत्तरमेघ १-२ पूर्व मेघ ३६.

३९. वही।

४०. पूर्वोल्लिखित, लङ्कावतार सूत्र।

४१. पूर्व मेघ ३४ उज्जैन में महाकाल का प्रसिद्ध मन्दिर।

४२. ओरिजन एण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साऊथ इण्डिया, "समबन्दर और अप्पर"।
शैव नायनारों के भक्तिगीतों पर पाशुपतों की उक्त पौराणिक परम्परा का प्रभाव पड़ा जो जैन धर्म के विरुद्ध सफल हो सका था।

४३. अहिर्बुध्न्य संहिता, समय ३००-५०० ई०; जयाख्य संहिता की भूमिका पृ० ५३.

४४. अहिर्बुध्न्य संहिता -
तन्त्रं पाशुपतं नाम पशुपाश विमोचनम्।
मद्वक्त्रान्निःसृतं विष्णोः संकल्प प्रभृज्जितम्॥
पातिकाण्डंमश्वास्तु पशुकाण्ड मतः परम्।
पाशकाण्डं तृतीयं तु प्रोक्तं पंच प्रभेदतः॥
शुद्धचर्या मिश्र चर्या द्वे काण्डे परिकीर्तते।
देवकाण्डऽथोषष्ठं दीक्षाकाण्डं मतः परम्॥
सायुज्याष्टमं प्रोक्तं काण्डं पाशुपतं महत्।
अष्ट काण्ड इदं प्रोक्तं मयातन्त्र मनुत्तमम॥
पाशुपत ब्राह्मण उपनिषद् में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है।

४५. यहां तन्त्र शब्द ध्यातव्य है। ५वीं सदी से पूर्व ही तान्त्रिक प्रभाव पाशुपत धारा में समाहित हो चुका था। यही धारा वायुपुराण में भी मिलती है।

४६. याज्ञवल्क्य स्मृति पृ० २११ अपरार्क की टीका शैव, पाशुपत, पाञ्चरात्र, कापालिक, पातञ्जल।

४७. सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
कृतान्तपाञ्चकं विद्धि ब्राह्मणः परिमार्गणे॥

(सनातन धर्मोद्धार सामान्य काण्ड पूर्वार्द्धः) ।

४८. योगि याज्ञवल्क्य (खण्ड २ पृष्ठ ६६६ वही)
वेदाः स्नानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दशः ।
साख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ॥
टिप्पणी - वायु पुराण में याज्ञवल्क्य व पराशर का उल्लेख है ।
"याज्ञवल्क्य वसिष्ठायन तथा पाराशरेण च" "शिवप्रसूति सर्ग ।

४९. पाञ्चरात्र साहित्य - श्रेडर
अहिर्बुध्न्य संहिता में तान्त्रिक पाशुपतों का उल्लेख है ।— जयाख्य संहिता भूमिका ।
वायुपुराण अ० २४/५६, ३०/८९.

५०. याज्ञवलक्य स्मृति पृ० २११.
शैव, पाशुपत, कापालिक (पूर्व द्रष्टव्य) ।
वायुपुराण २४/१२९, ५४, ७०, ५५/१४, २४/१४०; कपालधारी शिव पाशुपत भस्मराङ्ग- विभूषित ।

५१. दक्ष यज्ञ- कथा— वायुपुराण, अ० ३०, अ० २५.

५२. कुलार्णव तन्त्र, १/१०.
मथित्वा ज्ञानमन्थेन वेदागम महार्णवम् ।
सर्वज्ञेन मया देवि कुलधर्मः समुद्धृतः ॥
शिवपुराण, खण्ड २ अ० ८/११.

५३. वायुपुराण अ० २२ एवम् २३.

५४. द्रष्टव्य पूर्व इसी अध्याय में ।

५५. वायुपुराण, अ० २३/१०१-२२.

५६. वायुपुराण ,अ० २३/१०१-२२ एवम् "लकुलीश धारा" पूर्व द्रष्टव्य ।

५७. पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य, पृ० .३

५८. पूर्व द्रष्टव्य चौथी - पांचवी शताब्दी ।

५९. आर्कोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया (वा० ५ प्लेट ३७. चित्र १) ।
चतुर्थ शती के गुप्त अभिलेख, स्तम्भ पर लकुलीश की स्थानक मूर्ति ।

पी० के० गौड वा० "मथुरा में यमुना के किनारे स्वामी घाट से प्राप्त (५ सदी ईसवी) । (आर्कोलाजिकल म्यूजिअम मथुरा, एलोरा में डूमर गुहा चित्र) द्रष्टव्य ।

६०. वायुपुराण अ० २२, २३.

६१. वायुपुराण अ० २२, २३.

६२. वायुपुराण अ० २३/१०१-२२.
श्वेताश्वेतर उ० ६/२१, २२, २३ "देव प्रसादाच्च" ॥
श्वेताश्वतर धारा द्रष्टव्य इसी सन्दर्भ में ।

६३. श्वेतकल्प वायु० पु० अ० २२/३-२०; कूर्मपुराण १/३-२०, कूर्मपुराण १/५/११-१७, मन्वन्तर में कल्प "पूर्वकल्प कल्प के अनुसार ही होता है । कल्प वह समय है जिसमें

किसी धारा का सृजन हुआ। सृष्टि सृजन, उत्पत्ति जिससे हुई, जिसमें परम्परा विशेष सन्निहित है। विश्वोतीर्ण होने का समय भी कल्प कहा जा सकता है।

६४. वायु पु० अ० २३ "लकुलीश की धारा" पूर्व द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ में।

६५. वायु पु०, अ० २५/६३ अ० ३० समग्र दक्ष-यज्ञ।

६६. वायुपुराण अ० ५/३८, ३९, ४० अ० ३०, देवेषु च महान् देवो महादेवस्तत: स्मृत:।, वायुपुराण ३०/२८१ "सर्वस्त्वं सर्वगो देव सर्वभूतपतिर्भवान्" अ० ५५/१०.

६७. वायु० अ० २२/अ० २३, समग्र एवं श्वेत की धारा, पूर्व द्रष्टव्य।

६८. वायुपुराण अ० ६६/१०८, "एक: स्वयंभुव: कालस्त्रिभिस्त्रीन् करोति य:।
सृजते चानुगृह्याति प्रजा: संहरते तथा॥"

६६/११०, ११, १२, १६.

६९. पाशुपत योगावतार एवं परम्परा, वायु० पु० ३०/२८१, सर्वभूतान्तरात्मा रुद्र (दक्ष-यज्ञ)। ५४/१०० यहां पशुपति शिव व नारायण का तादात्म्य दिखाई देता है। द्रष्टव्य सागर मन्थन और विषपान।

७०. अ० ३० दक्ष-यज्ञ के समय रुद्र को आमन्त्रित नहीं किया गया। उन्हें अवैदिक कहा गया उनकी निन्दा की गयी है। इस समय तक पाशुपतचर्या व साधना का विकास हो चुका था। कुछ क्रियाएं सर्वथा लौकिक नहीं थी। उदा० प्रा० सू० पञ्चार्थ भाष्य, अ० १/८.

३/११ प्रेतवच्चरेत्, १२- क्राथेत् वा, १४-मण्टेत् वा।

४/६ उन्मत्त वदे को विचरेत् लोके, ८-उन्मत्तो मूढ़ इत्येवं मन्यते इतरे जना:, शून्यागार श्मशानवासी इत्यादि।

७१. वायु पु० अ० ९,२२,२३,२४, २५, ३०, ५५, ५४; देवी की उत्पत्ति (शक्तिरूप में) श्वेत की परम्परा, पाशुपतयोगावतार लिङ्गोत्पत्ति कथा, शिव- विष्णु का तादात्म्य— दक्षयज्ञ, सागर मन्थन, अ० ७२ में स्कन्द जन्म, अ० ९७, १०१, १२२ में शिवस्तुति भक्ति इत्यादि प्रकरणों में पशुपति रुद्र को प्रधानता दी गयी है। अ० २३ में लकुलीश की परम्परा के शिष्यों के नाम हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के रुद्र, शतरुद्रीय की धारा, श्वेताश्वतर, की परम्परा एवं लकुलीश का नवोन्मेष सम्पूर्ण परम्पराएं निहित हैं।

तान्त्रिकधारा - पाशुपतसूत्रों व पञ्चार्थ भाष्य की रचना पूर्व में हो चुकी थी, अहिर्बुध्न्य संहिता (पूर्व द्रष्टव्य) के पाशुपत प्रकरण में पाशुपतयोग को तन्त्र कहा गया है।

वायुपुराण में तान्त्रिक व वैदिक दोनों धारायें हैं -

(१) श्वेत से लकुलीश।

(२) लकुलीश के बाद की।

शि० पु० वा० सं० (पूर्वभाग) अ० २८/११ "श्रुतिसारमय: श्रौत: स्वतन्त्र इतरो मत:" किन्तु दोनों वैदिक हैं -

शि० पु० वा० सं० २८/६ "परमो योगपर्यन्तो धर्म: श्रुतिशिरोगत:।
धर्मस्त्व परमस्तद्वद्ध: श्रुतिमुखे स्थित:॥"

पञ्चार्थ भाष्य २/५ पृ० ५८ में उसे तन्त्र कहा गया है– "अथेह तन्त्रे" ।

७२. उद्योतकर का समय ६०० ई० के लगभग है । उन्होंने न्यायवार्तिक लिखा । न्यायसार - भूमिका पृ० ४ ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी मद्रास १९६१; प्रशस्तपाद का समय छठवीं सदी है । वे दिङ्नाङ्ग पूर्ववर्ती थे । प्रशस्तपाद भाष्य,(पृ० २४, ढुंढिराज शास्त्री) के भाष्यकार सूत्रकार प्रशस्तपाद के समकालीन ही थे ।
"सूत्रकारस्य समये भाष्यकारोप्यजायत" इति केचित्" ।
प० धर्म० सं० भूमिका श्लोक १५-१६ ढुण्ढिराज शास्त्री

७३. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका मङ्गलाचरण, वाचस्पति मिश्र; षड्दर्शन समुच्चय-आचार्य हरिभद्र (गणकारिका) उद्योतकर का उल्लेख हुआ है वे नैयायिक थे ।

७४. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० २९७; प्रशस्तपाद वैशेषिक थे ।
योगाचार विभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ॥
प्रमाणत्रित्वाधिगम सिद्धान्त पाशुपत मत से प्रभावित है । –वैशेषिक दर्शन-प्रस्तावना – अनन्तलाल ठाकुर ।

७५. रिलीजिअस लिटरेचर आफ इण्डिया– फर्क्वर्यूहर पृ० १९१.

७६. हर्षचरित उच्छ्वास ३ में भैरवाचार्यों के सम्बन्धों का उल्लेख है । पाशुपत साधकों का वर्णन है । पृ० ४६ - "क भैरवाचार्य ------ " गुरु भैरवाचार्य मस्करिणं व्यसर्जयत् । जटीकृतेक देशलम्बमानरुद्राक्ष ----- सञ्चरत, सिद्धान् --- भस्म ललाटिकया बहुशः ----- कैलासमिव पशुपति चरणरजः पवित्रितशिरसम्, शिवलोकमिव माहेश्वर गणानुयातम्----- (पृ० ४९)। भगवतो महाकाल हृदय नाम्नो महामन्त्रस्य --- महाश्मशाने जपकोटया वेतालसाधना वसानासिद्धिः ।"

७७. कादम्बरी– "धवल भस्म ललाटिकाभिः अक्षमालिका परिवर्तन प्रचल करतलादिभिः पाशुपतव्रत धारणीभिः ।"
कादम्बरी - उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर का उल्लेख है ।

७८. ह्वेनसांग की भारत यात्रा (आदर्श प्रकाशन) लाइफ का अनुवाद (सेमुअल बील) पृ० ३८. हिन्दूकुश से घिरा हुआ क्षेत्र बमियान के पार्श्व में है । उत्तरी अफगानिस्तान "काबुल गान्धार क्षेत्र" –जीओग्राफीकल डिक्शनरी-नन्दूलाल डे ।

७९. तत्रैव पृ० ३९.

८०. वही, पृ० १४२, ओही चीटालो - अहिक्षेत्र ।

८१. वही, पृ० १४३ कपित्थ - अतरञ्जी से ४० मी० दक्षिण – कनिंघम ।

८२. वही, पृ० २१२ यहां १०० मन्दिर व १०००० विरुद्ध धर्मावलम्बी हैं ।

८३. यहां महेश्वर की १०० फीट की ताँबे की मूर्ति का उल्लेख है ।

८४. वही, पृ० ३७२ मोलापो, मालवा की राजधानी ।

८५. लाइफ (सैमुअल बील) ह्वेनसांग की भारत यात्रा ; पृ० ४०० "उशेयनना" ।

८६. . लाइफ (सैमुअल बील) ह्वेनसांग की भारत यात्रा, पृ० ४० ; नन्दूलाल डे, जिओ० डिक्शनरी, ११९; महेश्वरपुर नर्मदा के किनारे माहिष्मती का क्षेत्र महेश (मत्स्य पृ० १८९, स्थविखलकी चरित १२) "मोही शीफालोपुलो - महेश्वरपुर ।

८७. लाइफ (सैमुअल बील) ह्वेनसांग की भारत यात्रा , पृ० ४०५; इसका मुख्य नगर "खिटसी" था । सिन्ध से १५०० अथवा १६०० ली पर यह स्थित था ।

८८. लाइफ (सैमुअल बील)— ह्वेनसांग की भारत यात्रा, पृ० ४०६, यह स्थान कच्छ के कोटेसर से २०० ली उत्तर है । कनिंघम ने इसे शम्भुरीश्वर यालुकुर माना है ।

८९. लाइफ (सैमुअल बील) —ह्वेनसांग की भारत यात्रा, पृ० ४०८; कुछ लोग अवन्द (आ-पन्-न-च) को अवन्ति मानते हैं ।

९०. लाइफ (सैमुअल बील) ह्वेनसांग की भारत यात्रा, पृ० ४०६; विजयनगरम् व कलिंग पट्टम के मध्य लंगुल्या नदी, (जिओग्राफीकल डिक्शनरी ११३) ।

९१. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य; के दर्शन के अतिरिक्त वायुपुराण में विशाल आगम परम्परा प्रशस्त हो चुकी थी ।

१५.

कूर्मपुराण में लकुलीश पाशुपत मत और उसका तान्त्रिक परिवेश

कूर्मपुराण में पाशुपत धारा का विस्तृत आयाम प्राप्त होता है, यह पुराण मूलतः पाञ्चरात्रों से सम्बन्धित था[१] किन्तु पाशुपतों ने इसे अत्यधिक प्रभावित किया।[२] इस पुराण पर शाक्त तत्वों का भी प्रभाव है,[३] किन्तु यह पुराण आगमों से परिचित नहीं होता।[४] पाशुपतों द्वारा इस पुराण के परिवर्तन व प्रक्षिप्त करने के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं।[५] तान्त्रिक तत्वों के समावेश और पाशुपतचर्या में नवीन चर्चाओं के कारण इस पुराण में पाशुपतों की निन्दा भी की गयी है।[६] किन्तु उन मोहशास्त्रों की रचना केशव व महेश्वर ने वेद वाक्यों की रक्षा के लिए किया।[७] जिनमें कपाल, नाकुल, भैरव, पाञ्चरात्र व पाशुपत थे।[८] पाशुपतों की चर्यायें पाशुपत सूत्रों के तान्त्रिक तत्वों से निःसृत हुई थीं।[९] किन्तु यह धारा वैदिक धारा के ही अन्तर्गत थी।[१०] पाशुपत यतियों की भैक्ष्य-चर्या पाशुपत सूत्रों के भाष्य और कूर्मपुराण में एक समान ही प्राप्त होती है इस चर्या का विकास लकुलीश-पाशुपतों में कूर्मपुराण की रचना के पूर्व ही हो चुका था।[११]

पाञ्चरात्रों में तान्त्रिक परिवेश का सृजन पांचवीं शताब्दी तक हो चुका था।[१२] इससे पूर्व लकुलीश-पाशुपतों में तन्त्रों का समावेश हो चुका था।[१३]

कूर्म पुराण में लकुलीश पाशुपतों की श्रुतिमूलक और स्वतन्त्र धारा

साक्ष्यों से प्रकट होता है कि इस काल में पाशुपतों में अनेक धाराओं का विकास हो गया था।[१४] कूर्मपुराण में पाशुपतों की श्रुतिमूलक शुद्ध वैदिक धारा[१५] जो परवर्ती उपनिषदों में प्रवाहित हो रही थी[१६] पुनः उसने नये आयाम प्राप्त किये।[१७]

लकुलीश के पश्चात् स्वतन्त्र धारा में तान्त्रिक तत्वों के समावेश हो जाने से[१८] युगानुरूप अनेकानेक परम्पराओं के अन्तर्लयन के फलस्वरूप इस पौराणिक धारा के पाशुपतों, लाकुलों, कापालिकों, सोम, भैरवों को वाममार्गी कहा गया[१९] जिनमें लकुलीश

पाशुपत ही प्राचीन प्रधान अथवा मुख्य शाखा और वैदिक धारा से सम्बद्ध थे ।[२०] इसी प्रकार पाञ्चरात्र भी वैदिक शाखा से सम्बद्ध थे ।[२१]

कूर्मपुराण में वैष्णव एवं लकुलीश पाशुपतागम का संगम

कूर्मपुराण में वैदिक एवम् वाममार्गी धाराओं के टकराहट पर विचार करते समय हम देखते हैं कि कूर्मपुराण में औपनिषदिक पाशुपतों[२२] और उन वैष्णवों की धारा का पाशुपतों में संगम दिखाई देता है[२३] जो पाञ्चरात्रों और लकुलीश पाशुपतों के तान्त्रिक परिवेश से प्रभावित हुये ।[२४] पाञ्चरात्रों और पाशुपतों की भर्त्सना का कारण यही प्रतीत होता है ।[२५] सम्भवतः इसी कारण आगमिक धारा भी विभाजित हुई ।[२६] कूर्मपुराण में वैष्णवों का पाशुपतों में अन्तर्लयन दिखाई देता है ।[२७] सम्भवतः इसी कारण वैष्णव कूर्मपुराण पाशुपत कलेवर में परिवर्तित हो गया ।[२८] कूर्मपुराण में इस वाममार्गी धारा के विकास का प्रयोजन वेदवाक्यों की रक्षा करना था ।

कूर्म पुराण का काल निर्धारण

मूल वैष्णव कूर्मपुराण की सम्भावित तिथि ५५० से ६५० ई. के मध्य निर्धारित की गयी है ।[२९] इसका संशोधित पाशुपत स्वरूप का निर्माण काल ६५० से ८०० ई. के मध्य माना गया है ।[३०]

महेश्वर योगावतार का विवरण[३१] वायुपुराण से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है क्योंकि सातवीं शती के पूर्व वायुपुराण में ही पाशुपत योगावतारों का नामोल्लेख है ।[३२]

कूर्म पुराण कालीन लकुलीश पाशुपतों के महत्वपूर्ण केन्द्र

आलोच्य पुराण के साक्ष्यों से विदित होता है कि पाशुपतोपासना के केन्द्र के रूप में वाराणसी की अत्यधिक प्रसिद्धि थी ।[३३] मध्यमेश्वर लिङ्ग का पाशुपतों से गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है ।[३४] जहां कूर्म पुराण के अनुसार हृषिकेश कृष्ण ने पाशुपत व्रत धारण किया ।[३५] शतरुद्रीय एवं पाशुपत चर्याओं का यहां के पाशुपतों पर प्रभाव दिखाई देता है ।[३६] महाकाल तीर्थ के पाशुपतों का भी उल्लेख हुआ ।[३७] इसके अतिरिक्त केदार,[३८] रुद्रकोटि,[३९] कालन्जर[४०] गोकर्ण,[४१] कनखल,[४२] प्रभास,[४३] सोमतीर्थ,[४४] सप्तसारस्वत्[४५], नकुलीश्वर,[४६] तीर्थों के विवरणों में पाशुपतों की उपस्थिति का संकेत उपलब्ध होता है । ध्यातब्य हो कूर्मपुराण की रचना गंगाद्वार में होने का उल्लेख है ।[४७] वायु पुराण का रचना-क्षेत्र कुरुक्षेत्र ज्ञात होता है ।[४८]

आगम साहित्य की रचना एवं परिवेश

सातवीं-आठवीं शती के अन्तराल में पाशुपतागम के पूर्व विवेचित तान्त्रिक परिवेश में तान्त्रिक आगम साहित्य के निर्माण के साक्ष्य प्राप्त होते हैं ।[४९] जिनकी पृष्ठभूमि कूर्मपुराण में सांकेतित है ।[५०] साक्ष्यों से विदित होता है कि पाशुपतागम की

इस स्वतन्त्र परम्परा[५१] की उत्पत्ति शिव वक्त्र से हुई[५२] जिसके संस्थापक पाशुपत श्रीकंठ थे।[५३]

परम्परा में आगम शब्द का उल्लेख यत्र-तत्र प्राप्त होता है।[५४] पाशुपतागम का तन्त्रों से गहरा सम्बन्ध, साक्ष्यों से स्पष्ट होता है।[५५] इन तान्त्रिक आगमों का अपना वैशिष्ट्य है।[५६]

सन्दर्भ

१. डा. श्रेडर– पाञ्चरात्र व अहिर्बुध्न्य संहिता की भूमिका।
२. कूर्मपुराण, भूमिका–आनन्दस्वरूप, "काशिराजन्यास प्रकाशन, रामनगर वाराणसी १९७२. अ. १-२३, ३१,३२,३४,३७,४०, ४२, ५१,२-५, ७,११,३५.
३. कूर्मपुराण, अ. १/१/१, ३४, ३७,३८, ३९,४०,५०,५१,१,१,११.
४. पुराणिक रिकार्डस् आन हिन्दू राइट्स एवं कस्टम्स्, पृ. ७०.
५. तत्रैव, पुराणिक रिकार्डस आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ. ७०.
६. कूर्म पु., २-२१-३४ उनके विवरण निम्न हैं–
   बुद्धश्रावक निर्ग्रन्था पाञ्चरात्र विदो जनाः।
   कापालिकाः पाशुपताः पाषण्डा येच तद्विषा॥
   १-२८-२५ "वाम पाशुपताचारास्तथा वै पाञ्चरात्रिकाः।"
   कूर्मपुराण १-१४ दक्ष यज्ञ –"निन्दन्तो वैदिकान् मन्त्रान् सर्वभूतपतिं हरम्॥२०॥
   यहां विष्णु को वैदिक तथा शिव को वेद विरोधी माना गया है किन्तु कूर्मपुराण में स्पष्ट किया गया कि महेश्वर मत वेद विरोधी नहीं है विष्णु व महेश्वर में तादात्म्य है।
   मन्यते ये जगद्योनिं विभिन्नं विष्णुमीश्वरात्।
   मोहावेदनिष्ठत्वात् ते यान्ति विष्णुमीश्वरात्॥ १-१४-८७
   इन मोह शास्त्रों (लाकुल पाशपतों) की रचना वेद-बाह्य लोगों की रक्षा करने के लिए की गयी, मोहशास्त्र को वेदबाह्य नहीं कहा गया है। कूर्म पुराण १-२८-२५–" वाम पाशुपताचारस्तथा वै पाञ्चरात्रिका।"
७. कूर्मपु. ,१-१५-१११ "तस्मात् वै वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम्।" कूर्मपु. १-१५-११२ – "एवं संबोधितो रुद्रो माधवेन मुरारिणा।
   चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः॥"
८. कूर्मपु. १-१५-११३ कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्व पश्चिमम्।
   पञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रसः॥"
९. कूर्मपु. १-१५-११९ "कपालमालधारणः प्रेतभस्मावगुण्ठितः।
   विमोह्यंल्लोकमिमं जटामण्डल मण्डितः॥"
   पाशुपतसूत्र पञ्चार्थ भाष्य, अ. १-२ "भस्मना त्रिषवणं स्नायीत ॥"

१-३ "भस्मनि शयीत" ।
१-६ लिङ्गधारी ।
५-३० श्मशानवासी ।
४-११ प्रेतवच्चरेत् ।

१०. कूर्म पु. २-७-१८ आत्मानः पशवः प्रोक्ता सर्वे संसार वर्तिनः ।
तेषां पतिरहं देवः स्मृतः पशुपतिर्बुधैः ॥
मायापाशेन बध्नामि पशूनेतान् स्वलीलया ॥
मामेव मोचकं प्राहुः पशूनां वेद वादिनः ॥ २-७-१९

द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ में श्वेताश्वतर, शतरुद्रीय एवं लकुलीश धारा; वायुपु.; अ. २३.

११. पञ्चार्थ भाष्य अ. १. पृ. ३१-३२; आहार लाघवं तन्त्रे सिद्धम्; कूर्मपुराण २-२९ -१.

१२. पुराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ. २१८, अहिर्बुध्न्य एवं जयाख्य संहिता की रचना पांचवी सदी से पहले हो चुकी थी । जयाख्य संहिता की भूमिका २६-३४. बी. भट्टाचार्य ।

१३. द्रष्टव्य– पाशुपतसूत्र एवं पञ्चार्थ भाष्य ।

१४. कूर्मपुराण १-१५-१९.

१५. द्रष्टव्य –श्वेताश्वतर की धारा, इसी ग्रन्थ में ।

१६. द्रष्टव्य –उपनिषदों की पाशुपत धारा, अथर्वशिर, जाबाल्य एवं परवर्ती शैव, उपनिषद; जाबाल्य ९-१३, बृहज्जाबाल, ब्रा. ३-३२-३५, ५-८-१७ ॥१५॥ ——तामिदं पाशुपतं यद्भस्मा नाङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद् ब्रह्म तदेत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय । (अथर्व शिरस्) ।

१७. कूर्म पुराण, २-३७-१४०-४१, ४२, ४३.
प्रशान्तः संयतमनाः भस्मोद्धलित विग्रहः ।
ब्रह्मचर्य ब्रतो नमो व्रत पाशुपतं चरेत् ॥१४०॥
निर्मित हिमयापूर्व व्रतं पाशुपतम् परम् ।
गुह्याद् गुह्यतमं सूक्ष्मं वेदसारं विमुक्तये ॥
"वेदभ्यास रतो विद्वानध्यायेत् पशुपतिं शिवम् ॥१४२॥
"एष पाशुपतों योगः सेवनीयो मुमुक्षुभिः .... ॥१४३॥

१८. पूर्व द्रष्टव्य –पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य एवं वायुपुराण ।

१९. कूर्मपुराण २-३७-११९ "वामं पाशुपतं सोमं लाकुलं चैव भैरवम् ।
असेव्यमेतत् कथितं वेदवाह्यं तथेतरम् ॥"

२०. द्रष्टव्य —इसी ग्रन्थ में लकुलीश पाशुपत-धारा एवम् वायुपुराण; पाशुपत सूत्र के मन्त्र तैत्तिरीय, शतरुद्रीय, से ग्रहण किये गये हैं। श्वेत की धारा के २८वें योगावतार लकुलीश थे।

२१. शाण्डिल्यसंहिता, भाग २, भूमिका– गोपीनाथ कविराज १९३६ सरस्वती भवन सं. ६०, अनन्त शास्त्री फड़के।

२२. पूर्व द्रष्टव्य– इसी ग्रन्थ में "उपनिषद् धारा", अथर्वशिर, जाबाल्यु, मैत्रायणी, बृहज्जाबाल उपनिषद्; कूर्म, पु. २-३७-१४०-४३, २- ३६-३, १०-३०-२४.

२३. ईश्वर गीता, अ. १-११ (कूर्म पुराण, अध्याय ४) कठोपनिषद्; एवं गीता की अवधारणा कूर्मपु. १-२४-४८-५१, १-३२-२१, २२ कृष्ण द्वारा पाशुपत व्रत ग्रहण एवं पशुपति शिव की आराधना १; कूर्मपु. १-९-१-८१, १-१५-५८-५९, ६०.

२४. वैष्णवों में तान्त्रिक धारा के तत्व प्राचीनतम पाञ्चरात्र संहिता अहिर्बुध्न्य संहिता में उपलब्ध होते हैं । जिसकी रचना ३००-५०० ई. में हुई तथा जयाख्य सं. का काल ४५० ई. है। जयाख्य संहिता की भूमिका, पृ. ५३, एवं २६-३४ (वी. भट्टाचार्य) पाशुपतों तथा पाशुपत सूत्रों में तान्त्रिक तत्व "पूर्व द्रष्टव्य"।

२५. कूर्मपु., २-२१-३४, १-२४-३१-३५, २-२१-३२, ३३, २-१६-१.६.

२६. पूर्व द्रष्टब्य—श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।
शिव पु., वा. सुं. पूर्व भाग अ. २८-६.

२७. कूर्मपुराण १-२६-१३ परात् परतरं यान्ति नारायण परायणः।
न ते तत्र गमिष्यन्ति ये द्विषयन्ति महेश्वरम् ॥

वूर्म्पपुराण, २-४४-१०१-०४, १-९-५७, १-३२-२१-२२ (विष्णु द्वारा महेश्वर की प्रशंसा, महेश्वर की श्रेष्ठता का प्रतिपादन)।

कूर्मपुराण १-२४-४८, ४९-९२, उपमन्यु द्वारा कृष्ण को पाशुपत योग उपदेश।

२८. पुराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टमस्, पृ. ६३, ७१, आर. सी. हाजरा।

२९. वूर्म्पपुराण, १-१५-१११.
तस्माद् वै वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम्।
विमोहनाय शास्त्राणि करिष्यामो वृषध्वजः ॥
वूर्म्पपुराण १-१५-११५ "जायन्तो मनुष्य लोके क्षीण पापचयास्ततः।
ईश्वराराधनबलाद् गच्छध्वं सुकृतां गतिम् ॥"

३०. पुराणिक रिकार्ड्स., पृ. ७१, आर. सी. हाजरा।

३१. पुराणिक रिकार्डस., पृ. ७१.

३२. कूर्मपुराण, १-५-१-१-३५.

३३. वायुपुराण, अ. २३.

३४. वूर्म्पपुराण १-३०-१२, १३, कृतिवासेश्वर, मध्यमेश्वर, विद्धूश्वर एकपदीश्वरलिंग।

३५. वूर्म्पपुराण १-३२-५ "ततः पाशुपताः शान्ता भस्मोद्धलित विग्रहाः।
द्रष्टुं समागता रुद्र मध्यमेश्वरमीश्वरम् ॥"

१-३२-७ ओङ्कार सक्त मनसो वेदाध्ययन तत्पराः ।
जटिला मुण्डिताश्चापि शुक्ल यज्ञोपवीतिनः ॥

३६. कूर्मपुराण १-३२-२१, २२. "—————— ।"
२१ अत्र हृषिकेशो विश्वात्मा देवकीसुतः ।
२२ "भस्मोद्धूलित सर्वाङ्गो रुद्राध्ययन तत्परः ।
आराधयन् हरिः शंभु कृत्वा पाशुपतं व्रतम् ॥

३७. कूर्मपुराण १-३०-२४.
युगे युगे ह्यत्र दान्ता ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपासते महादेवं जपन्ति शतरुद्रियम् ॥
पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य १-२, ३, ४, ५, ६.

३८. कूर्मपुराण २-३६-१, २, ३ तत्र पाशुपता शान्ता भस्मोद्धूलित विग्रहा ।
उपासते महादेवी वेदाध्ययन तत्परा ॥३ ॥
महाकाल तीर्थः महाकालेश्वर मन्दिर उज्जयिनी में है । मेघदूत १—३७, ३८ उज्जयिनी में महाकालेश्वर —जीओग्राफीकल डिक्शनरी; पृ. २१०-११ नन्दूलाल डे ।

३९. कूर्मपुराण २-३६-५; गढ़वाल में मन्दाकिनी और दुग्ध गंगा के किनारे का केदारनाथ-जीओग्राफीकल डिक्शनरी पृ. ९७-९८— नन्दूलाल डे; महापन्थ चोटी के नीचे पट्टी मेखण्ड, नागपुरपट्टी, रिलीजन इन हिमालयाज पृ. ७७, अटाकिंसन ।

४०. कूर्मपुराण, २-३५-१, कुरुक्षेत्र (पद्मपु. स्वर्गखण्ड अ. १११), जीओग्राफीकल डिक्शनरी ।

४१. कूर्मपुराण २-३५-११; यहाँ राजा श्वेत ने शतरुद्रीय का जप व शिवाराधना करके जीवन प्राप्त किया था । (२-३५-१३), कालन्जर तीर्थ —पद्मपु. स्वर्गखण्ड अ. १९; शिवपु. संहिता ५-अ. १६. बुन्देलखण्ड के बांदा जिले में है । जीओग्राफीकल डिक्शनरी पृ. ८४.

४२. कू. पु. २-३४-२९-३२ गोकर्णेश्वर लिंग, गंगोत्री का आधुनिक गोमुखी, पृ. ७०; कूर्मपु. २-३६-९ दक्ष का यज्ञ यहीं हुआ था । लिङ्गपु. १-१०० गंगाद्वार के समीप नीलधारा व गंगा का संगम जहाँ हरिद्वार है ।

४३. कूर्मपु., २-३४-१६, काठियावाड़ देवपट्टन (यूल्स मार्क्रोपोलो, वाल्यूम द्वितीय, पृ. ३३४ पाद टिप्पणी) ।

४४. कूर्मपुराण, २-३४-२० काठियावाड़ का सोमनाथ, प्रभाष में ही पड़ता है । महाभारत शल्यपर्व अ. ३६, सोमेश्वर लिङ्ग, —जीओग्राफीकल डिक्शनरी पृ. १५७ ।

४५. कूर्मपुराण २-३४-४४ मङ्कणक ने यहाँ पशुपति शिव की आराधना की थी । सप्तसारस्वत् सात नदियों का संयुक्त नाम नैमिषारण्य का कञ्चनाक्षी, गया में विशाला, कोशल में मनोरमा, कुरुक्षेत्र में उघावती, हरिद्वार में सुरेनु, हिमालय पर विमलोदक,

पुष्कर में सप्रभाव है। संभवतः सप्तसारस्वत तीर्थ कुरुक्षेत्र के पास होना चाहिये। (महा. भा. वनपर्व अ. ८३) —जीओग्राफीकल डिक्शनरी।

४६. कूर्मपुराण २-४२-१२, कारवण में, नर्मदा के किनारे, बड़ौदा से १५ मील दक्षिण अर्ली हिस्ट्री आफ गुजरात —भगवान लाल इन्दाजी पृ. ८३-८४; नकुलेश्वर तीर्थ —जहाँ महेश्वर के २८वें योगावतार लकुलीश का जन्म हुआ; वायु पु. शिव प्रसूति सर्ग, (गणकारिका) द्रष्टव्य "लकुलीश धारा" इसी ग्रन्थ में।

४७. कूर्म, पु. २-४४-१४२.

४८ वायुपुराण, १-१-११.

४९. एन आउट लाइन आफ रिलीजिअस लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ. १९३-९४, कूर्मपुराण १-२९-२५, २६, ४४, श्रीकृष्ण का पाशुपत व्रत ग्रहण।

५०. कूर्मपुराण, १.२५:४६-४८,५८,६१ लिङ्ग धारण चन्द्रिका, पृ० २५८,७४.
कूर्मपुराण, १-११-२७३ कापालं पाञ्चरात्रं च यामलं वाममार्हतम्।
एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु ॥२७३।
ये कुशास्त्राभियोगेन मोह्यन्तीह मानवान्।
मया सृष्टानि शास्त्राणि मोहायैषां भवान्तरे ॥ २७४ ॥

५१ पूर्व द्रष्टव्य —श्रीकंठ धारा एवं लकुलीश धारा, इसी ग्रन्थ में एवं उपर्युक्त १, २.

५२.५३. महाभारत शान्तिपर्व अ. ३४९.६७; पूर्व द्रष्टव्य तप श्रीकंठ धारा।
उमापतिर्भूतिः श्रीकंठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपते शिवेः ॥६७॥
शिवतत्व विवेक, ४७७ आगम अपौरुषेय हैं। शिवपु. वा. सु. अ..९-३०
श्रीकंठेन शिवेनोक्ता शिवायै च शिवागमाः।
कामिकादि प्रभेदानां यथा देवो महेश्वरः ॥— सूतसंहिता
याज्ञवल्क्य स्मृति ४.१ अपरादित्य टीका में हारीत का उद्धरण -
"श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च"। स्वतन्त्र परम्परा म. भा. २ पृ. ८५ "आगतं शिववक्त्रेभ्यः गतं च गिरिजामुखे।"

५४. मनुस्मृति १-१०, कूलूकभट्ट "इदानीमागम.............."।
याज्ञवल्क्य स्मृति (अपरादित्य टीका) १-७.
रघुवंश, २६-१० "बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।— शंकर विजय ७, ८, ९.

५५. स्टडीज इन तन्त्राज, पृ. १०६ (उद्धृत शैव कल्ट्स - वी. एस पाठक पृ. ५)
"अस्य तन्त्रस्य का संज्ञा, पिंगलामत संज्ञा....................।
क कर्ता भगवान श्रीकंठनाथ कर्ता"।
सर्वदर्शनसंग्रह, शैवदर्शनम्।
——"तदुक्तं तन्त्र तत्वज्ञैः।
त्रिपदार्थ चतुष्पादं महातन्त्रं जगद् गुरुः॥"

५६. परमेश्वर आगम १०.८३ " सर्वधर्मान् परित्यज्य शैवं पञ्चाक्षर जपेत् ।"
सूक्ष्मागम २१-१६ "उपदिष्टमया तस्मै ज्ञानं योग स्वरूपतः" ।
गुरु व उनकी दीक्षा का महत्व है-
तन्त्रालोक १-पृ, २८ "जयतिगुरुरेक एव श्रीकण्ठो भुवि प्रथितः ।"
स्टडीज इन तंत्राज "श्रीकण्ठस्य प्रसादेन सर्वोऽयं परिणतो मम";
उद्वधृत —शैव कल्ट्स पृ. ५;
परमेश्वर आगम १०.८३
"ज्ञात्वा शास्त्रं विधानोक्तं तत्वकूर्यागुर्रोमुखम् ।— लिङ्गार्चन-लिङ्ग धारण चन्द्रिका, द्रष्टव्य पृ. २७९.
सर्वदर्शन संग्रह नकुलीश पाशुपत दर्शनम् (गणकारिका से) ।
"दीक्षा कारिकं पञ्चकं चोक्तम् ।"
"द्रव्यं काल क्रिया मूर्तिगुरुश्चैव हि पञ्चमः ।"
"वासचर्या जपो ध्यानं सदा रुद्रस्मृतिस्तथा" ।

१६.

नवम् शती में पाशुपतदर्शन

लकुलीश पाशुपतों का तान्त्रिक परिवेश और शैवागम

निःसन्देह लकुलीश पाशुपत धारा के तान्त्रिक तत्वों ने पाशुपतागम को प्रभावित किया।[१] कूर्मपुराण से ज्ञात होता है कि इस नवोदित परिवेश में वाममार्गियों का विकास हुआ।[२] जिनमें लकुलीश पाशुपतों का महत्वपूर्ण स्थान था।[३] उनकी इस महत्वपूर्ण भूमिका के परिणाम स्वरूप अश्रौत यम स्वतन्त्र आगमिक धारा का विकास हुआ।[४] नवम् शती में कश्मीर शैवागम[५] तथा दक्षिणी साहित्य का सृजन[६] इसी परम्परा और परिवेश में हुआ जो संस्कृत और प्राकृत अथवा अन्य भाषाओं में लिखे गये।[७]

शङ्कराचार्य और रामानुज तथा लकुलीश पाशुपत

शङ्कराचार्य ने जिस माहेश्वर मत का उल्लेख ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में किया है[८] वे लकुलीश पाशुपत ही थे।[९] ऐसा प्रतीत होता है कि वे लकुलीश पाशुपत सूत्रों के पञ्चार्थ दर्शन से पूर्णतः परिचित थे।[१०] वाचस्पति मिश्र[११] व भास्कराचार्य ने इसी सन्दर्भ में व्याख्यायें की हैं।[१२]

इसी परम्परा में रामानुज ने वेदान्तसार[१३] व श्रीभाष्य[१४] में जिन पाशुपतों का उल्लेख किया है वे पञ्चार्थ दर्शन से ही सम्बन्धित थे।[१५] यामुनाचार्य ने लकुलीश पाशुपतों व उनकी इस नव्य परम्परा तथा अन्य शाखाओं का उल्लेख किया है।[१६]

सन्दर्भ

१. पूर्व द्रष्टव्यः इसी खण्ड में।

२. १.३२.२१, २२, १.३२, ६, २.३६.१, २, ३; आगम प्रामाण्य, ४५, ४८, ८३, ८६.

३. १.२४.११, ४८-५०; आगम प्रामाण्य, ४८; लागुड मत।
"एवमुक्त्वा ददौ ज्ञानमुपमन्युर्महामुनिः।

व्रतं पाशुपतं योगं कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे ॥४८ ॥
तत्रैव तपसां देवं रुद्रमाराधयत् प्रभुः ॥४९ ॥

४. शिव. पु. वा. सं. २४-१७७-७८.

शिवागमोद्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च संस्मृतः ।

श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरः मतः ॥

५. कश्मीर शैवागम के संस्थापक श्रीकण्ठ नाथ हैं।

काश्मीरी शैवागम नवीं शती से लिखे जाने लगे । —आउट लाइन आफ रिलीजिअस
लिटरेचर, पृ. १९४, फर्क्यूहर १९८ ।
शिव दृष्टि, ७-१०७, ८, ९, १०.

कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे ।

कलापिग्रामप्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने ॥

कैलासाद्रो भ्रमन देवो मूर्त्या श्रीकण्ठ रूपया ।

अनुग्रहायावतीर्णश्चचोदयामास भूतले ॥

श्रीकण्ठ ऐतिहासिक व्यक्ति थे शैवकल्ट्स - डा. वी. एस. पाठक पृ. ५ ।

नवम् शतक में वसुगुप्त को शिवसूत्रों की प्राप्ति हुई ।

शिव. सू. वा. १-३ श्रीमन्हादेव गिरौ वसुगुप्त गुरोः पुरा ।

सिद्धदेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥

स्पन्दकारिका वृ. "दृब्धं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिव सूत्रसिन्धोः ।

स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादैः श्रीकल्लटस्तत् प्रक्टी चकार ॥

वसुगुप्त व उनके शिव सूत्र का समय ८२५-८५० ई. है । —अभिनव गुप्त, पृ. १५४, कान्तिचन्द्र पाण्डेय ।

६. एन आउट लाइन आफ रिलीजिअस लिटेरेचर, - पृ. १९७, २५६-५८.

७. दक्षिणी शैवमत का साहित्य (भारतीय दर्शन, भाग ५ पृ. १५) से उद्धृत पादटिप्पणी; शिवज्ञान सिद्धि में उद्धरित शिवधर्मोत्तर (ओरिएण्टल रिसर्च इन्टीट्यूट, मैसूर, हस्तलेख संख्या ३७२६;
संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैः यश्च शिष्यानुरूपतः ।
देशभाषाद्युपायैश्च च बोधयेत् स गूढः स्मृतः ॥

८. शरीरक भाष्य, २-२-३७ ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य, भामती एवं परिमल, आनन्तवृक्ष्ण शास्त्री १९३८, शङ्कराचार्य (७८८-८२० ई.) पृ० ५६६, माहेश्वरास्तु, मन्यते कार्य कारणयोग विधि दुःखान्ता । पञ्चपदार्थाः पशुपतेनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षयोपदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्त कारणमिति ।

९. तथोक्त, द्रष्टब्य—पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य , ५-४७ पृ. १४६.
"एवमेते पञ्च पदार्थाः कार्यकारण योग विधि दुःखान्ता —-" १-१ पृ. ६.
"एवं सदुःखान्त कार्य कारणं योगो विधिरिति पञ्चैव पदार्था समासत उद्दिष्टाः ।"
—कल्पतरु, परिमल टीका अप्पय दीक्षित - ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य, पृ. ५६६ "नकुलीश पाशुपता मन्यते कार्य कारण योग विधि दुःखान्ता पञ्च पदार्थाः पशुपाश विमोक्षणाय बोधव्याः ।"

१०. वाचस्पति मिश्र (८५० ई.) —भामती २.२.३७.

११. भामती सूत्र भाष्य, २.२.३७ (८५० ई.) ।

१२. भामती सूत्र भाष्य, २.२.३५, ३६, ३७, ३८, ३९ - "पशुपतेर्मतमनादरणीयम्" ।

१३. भामती सूत्र भाष्य, २.२.३५, ३६, ३७, ३८, ३९.

१४. भामती सूत्र भाष्य, २.२.३५, ३६, ३७, ३८, ३९ "पशुपतेर्मतमनादरणीयम्" एवम् उपर्युक्त शाङ्करभाष्य ।

१५. यामुनाचार्य (१०५० ई.) आगम प्रामाण्य - रामानुज रिसर्च सोसाइटी, मद्रास ।

१६. शैव पाशुपतं सौम्यं लागुडञ्च चतुर्विधम् ।
तन्त्रभेद समुदिष्टःशङ्करं न समाचरेत् ॥ ४५, ८३, ८६

१७.

वायवीय संहिता में लकुलीश पाशुपत मत

नवम् शताब्दी[१] के पाशुपतों के धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का संग्रह शिवपुराण की वायवीय संहिता में लेखबद्ध किया गया[२] प्रतीत होता है। वायु प्रोक्त होने के कारण इसका सम्बन्ध वायुपुराण से सम्भावित है।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपतों की पौराणिक-परम्परा का वह संग्रह जो पञ्चम शती में वायुपुराण में संयुक्त हुआ[४] उसी का विकसित, परिवर्धित और विस्तृत रूप वायवीय संहिता है। जिसमें उसके श्लोकों की संख्या चार हजार बतायी गयी है।[५]

वायवीय संहिता में पाशुपतागम की द्विविध धाराओं का संगम दिखाई देता है— श्रुतिमूलक और स्वतन्त्र आगमिक धारा।[६] नवोदित स्वतन्त्र शैवागम जिसके संस्थापक श्रीकण्ठ बताये गये हैं[७], उस धारा का श्रुतिमूलक पाशुपतागम से विरोध की समाप्ति के साक्ष्य मिलते हैं।[८]

साक्ष्यों से विदित होता है कि वायवीय संहिता में श्वेताश्वतर तथा परवर्ती उपनिषदों, श्रीकण्ठ एवं लकुलीश की धारा जिसने अब तान्त्रिक कलेवर धारण कर लिया था वे सम्पूर्ण धाराएं अपनी विशिष्ट परम्परा में एकाकार होती प्रतीत होती हैं।[९] इन साक्ष्यों से यही स्पष्ट होता है कि वायवीय संहिता की पाशुपत-परम्परा श्वेत एवं लकुलीश की परम्परा से सम्बद्ध है।[१०]

श्वेताश्वतर एवं वायवीय संहिता

श्वेताश्वतर द्वारा उपदिष्ट धार्मिक एवं दार्शनिक विचार[११] समग्ररूपेण वायवीय संहिता में उपलब्ध होते हैं।[१२] कार्यरूप जगत् प्रकृति,[१३] कारण-महेश्वर पशुपतिरुद्र,[१४] उनकी माया-शक्ति,[१५] उनका पतित्व अधिष्ठातृत्व,[१६] महेश्वर के प्रसाद[१७] और गुरु के शक्ति अथवा अनुग्रह[१८] इत्यादि सन्दर्भों से सम्बद्ध विचार वायवीय संहिता में श्वेताश्वतर से गृहीत प्रतीत होते हैं।

पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ-भाष्य एवं वायवीय संहिता

साक्ष्यों से विदित होता है कि वायवीय संहिता के धर्म-दर्शन का लकुलीश पाशुपतों के पञ्चार्थ दर्शन[१९] एवं पाशुपत सूत्रों से गहरा सम्बन्ध है। इसमें श्वेत से लकुलीश पर्यन्त योगावतारों व उनकी शिष्य-परम्परा का उल्लेख है[२०] तथा उनके द्वारा पाशुपत धर्म के सुदृढ़ीकरण के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं।[२१] पञ्चार्थ दर्शन के सन्दर्भ में कहा गया है कि यह श्रुतिसम्मत पाशुपत दर्शन पुराणों में संग्रहीत हैं।[२२]

पाशुपत सूत्रों में उपदिष्ट पाशुपत चर्याओं का उल्लेख इस संहिता में प्राप्त होता है। शिवशास्त्रोक्त नैमित्तिक विधि,[२३] यम-नियम,[२४] सूत्र के भाष्य,[२५] पञ्चार्थ भाष्य में उल्लिखित अहिंसा,[२६] सत्य,[२७] अस्तेय,[२८] शौचकर्म,[२९] तप,[३०] प्राणायाम,[३१] योग,[३२] शिवमन्त्र जप[३३] व प्रदक्षिणा[३४] आदि चर्याओं का उल्लेख है।

एक स्थान पर पाशुपत-मन्त्र-साधन-प्रकरण में शिवशास्त्र और उसमें पूज्य लकुलीश के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गयी है।[३५] भस्म-स्नान व भस्म की महिमा परवर्ती उपनिषदों[३६], लकुलीश[३७] पाशुपतों की परम्परा में ही व्यक्त की गयी है।[३८] इस संहिता में योगमार्ग में गुरू को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। शिक्षा, संस्कार, उपदेश, अनुग्रह से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बताया गया है।[३९] गुरु को शिव तुल्य कहा गया है।[४०] इस विषय में यथावत आलोच्य धारणा पञ्चार्थ भाष्य में भी प्राप्त होती है।[४१] गुरु की दीक्षा के सन्दर्भ में शक्तिपात् का उल्लेख नवोदित तान्त्रिक परिवेश की नयी धारणा है जो शात्रों में प्रचलित हुई।[४२] इसका प्रभाव कश्मीर शैवागम पर दिखाई देता है।[४३]

सिद्धयोगी के प्रस्तुत लक्षण लकुलीश के पाशुपत सूत्रों से प्रेरित प्रतीत होते हैं।[४४] इस संहिता में शिव के उन विभिन्न नामों का अष्टमूर्तियों के रूप में पाशुपत व्रत विधि के अतर्गत उल्लेख है[४५] जो रुद्राध्यायी पाशुपत सूत्रों में पाशुपतों के मन्त्र-रूप में प्रचलित थे।[४६] कार्यकारण-विवेचन प्रसंग में पाशुपत सूत्रों की भांति ही महेश्वर पशुपति रुद्र को देवों में प्रथम, उनका अधिपति, और ब्रह्मादि कार्यों का अधिपति कहा गया है।[४७]

इस संहिता में पाशुपत-व्रत-विधि के सन्दर्भ में पाशुपत सूत्र का उल्लेख है।[४८] कथन की शैली समास विस्तर की है।[४९] अनुमान है कि सूत्र के रूप में लकुलीश पाशुपत सूत्रों की ओर ही संकेत है तथा पञ्चार्थ-भाष्य में समास-विस्तर की प्रणाली का उपयोग हुआ है।[५०]

वायवीय संहिता में श्रौत, स्मार्त एवं अन्य परम्पराएं

वस्तुतः श्रौत एवं स्मार्त परम्पराएं पाशुपत सूत्रों व पञ्चार्थ भाष्य से निःसृत होकर पौराणिक परिवेश में पूर्णतः विकसित होती हैं ।[५१] वायवीय संहिता में न केवल दोनों परम्पराएं पूर्णत्व प्राप्त करती हैं अपितु उनका विरोध भी समाप्त हो जाता है ।[५२]

इसका प्रभाव वैशेषिकों,[५३] नैयायिकों तथा योग मतावलम्बियों,[५४] नवोदित तान्त्रिक आगमों पर भी पड़ा ।[५५] साक्ष्यों से विदित होता है कि वायवीय संहिता के रचनाकाल तक इस महान् परम्परा के अन्तर्गत लकुलीश पाशुपतों से पाशुपतों की अन्य शाखायें प्रेरणा ग्रहण कर विकसित हो रही थीं ।[५६]

वायवीय संहिता में उल्लिखित पाशुपतों के केन्द्र (तीर्थ)

पाशुपतों में पञ्चाक्षर जप एवं रुद्राध्यायी की परम्परा औपनिषदिक काल की भांति इस समय भी वर्तमान थी ।[५७] साक्ष्यों से विदित होता है कि पाशुपतों ने अनेक संहिताओं का प्रवर्तन किया था ।[५८] पाशुपत धर्मदर्शन के ज्ञाताओं में दधीचि और अगस्त्य तथा उपमन्यु का नाम स्मरण किया गया है ।[५९] जिनमें पौराणिक परिवेश में उपमन्यु सर्वाधिक विख्यात बताये गये हैं ।[६०]

साक्ष्यों से विदित होता है कि वाराणसी पाशुपत धर्मावलम्बियों का विख्यात केन्द्र था । गङ्गा के किनारे अविमुक्तेश्वर लिङ्ग एवं वैश्वेश्वर लिङ्ग पाशुपत साधकों का केन्द्र था ।[६१] इस संहिता के अनुसार इसकी रचना प्रयाग में हुई थी ।[६२] जहां पाशुपत योगावतार जैगीषव्य ने योगसिद्धि प्राप्त किया था ।[६३] मोक्षदायी अविमुक्तेश्वर लिङ्ग ज्ञानवापी के समीप बताया गया है जहां का श्मशान अतिप्रसिद्ध था । इसे पाशुपतों का औपनिषदिक तीर्थ कहा गया है ।[६४]

साक्ष्यों से विदित होता है कि इस समय तक प्रभास, सोमतीर्थ, कारोहण, उल्काग्राम, ब्रह्मतीर्थ, महाकाल, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, कनखल इत्यादि स्थान लकुलीश पाशुपतों से सम्बद्ध तीर्थस्थल के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे । पाशुपत योगावतार लकुलीश का जीवन चरित्र विस्तृत रूप से शिवपुराण में ही प्राप्त होता है ।[६५]

सन्दर्भ

१. नवोदित आगम साहित्य की रचना सातवीं-आठवीं शती में हुई । पूर्व विवेचित वा. सं. २.२४.१७१ में कामिकादि आगमों का उल्लेख है ।
शैवागमाश्च ये चान्ये कामिकाद्याचतुर्विधाः ।
शिवाभ्याम् विशेषेण सकृत्येह समर्चिताः ॥ २.२४.१७१ ।

२.२९.११७ पृथग्लक्षणमेतेषाः शिवशास्त्र समीरितम् ।
शिवागमेषु चान्येषु विशेषात् कामिकादिषु ॥
शिवपुराण की रचना ९वीं शती के उत्तरार्ध में ही पूर्ण हुई । उसकी संहिताओं में कैलाश संहिता की तिथि ८५० ई. के बाद की है । इसमें शिव सूत्रों का उल्लेख है जिसकी तिथि ८५० ई. है (तन्त्रालोक-वसुगुप्त) कैलाश संहिता अ. १०-१२५.
चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्र प्रवर्त्तितम् । १०.१२७ इत्यादि शिवसूत्राणां वार्त्तिकं कथितं मया ।

२. द्रष्टव्य —शिव पुराण, वा. सं. पूर्व एवं उत्तर भाग ।

३. द्रष्टब्य, वायुपुराण वा. स. २.१.२४ श्वेतकल्पेन प्रसंगेन वायुना कथितं पुरा । वा. सं. १.२.५२ तदेवं लक्षणमुदिष्ट शैवं शाखाविभेदतः ।
चतुःसहस्रकं यत् तु वायुना समुदीरितम् ॥

४. पूर्व द्रष्टब्य —वायुपुराण - पाशुपत धर्म ।

५. वा. सं. १.२.५२

६. वा. सं. १.२८.६
परमोयोगपर्यन्तो धर्म्मः श्रुतिशिरोगतः ।
धर्मस्त्वपरमस्तद्वधः श्रुतिमुखे स्थितः ॥

७. २८-११, १२ "शैवागमो हि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च स स्मृतः ।
श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरोमतः ॥
कामिकादि समाख्याभिः सिद्धसिद्धान्तसंज्ञितः ॥
श्रुतिसारमयो यस्तु शतकोटि प्रतिस्तरः ।
परं पाशुपतं यजव्रतं ज्ञानञ्च कथ्यते ॥

८. वा. सं. २.८.३९,
श्रीकंठेन शिवेनोक्तः शिवायै च शिवागमः ।
शिवाश्रितानां कारुण्याच्छ्रेयसमिक साधनम् ॥
२.२.२ पुरासाक्षान्महेशेन श्रीकण्ठारु येन मन्दरे ।
दैव्ये देवेन कथितं ज्ञानं पाशुपतं परम् ॥
स्व., त. ८-३५, ३६, "ममापि च पुरादीक्षा तथाचैवाभिषेचनम् ।
श्रीकण्ठेन पुरादत्तं तन्त्र सर्वार्थ साधनम् ॥"
वा. सं. २-२४-१७१ "शैवागमाश्च ये चान्ये कामिकाद्याश्चतुर्विधाः ।

८ वा. सं. "दक्षिणा ज्ञाननिष्ठाश्च दक्षिणोत्तर मार्गगाः ।
अविरोधेत वर्त्तन्तां मन्त्रेश्रयोऽर्थिनो मम् ॥ २.२४.१७९.
२.२४.१७०, "शैवाख्य शिवधर्माख्यं पुराणं श्रुति सम्मितम् ।"
२.२४.१७६ "शिष्टाः सर्वे विशिष्टाश्च शिवशासन यन्त्रिताः ॥"
२.८.२९ "अनेकजन्म सिद्धानां श्रौत-स्मार्त नुवर्तिनां ॥"

९. वा. सं. ,श्वेत से लकुलीश २.१८.४० "श्वेतादीन् लकुलीशान्तान् सशिष्यान् प्रणमेद् गुरून्। —पाशुपत योगावतार , वा. सं. ,२.१०.२.५ श्वेत से लकुलीश २.१०.२१ लकुलीश के शिष्य परवर्ती उपनिषदों की पाशुपत धारा - वा. सं. २-९-१९ २-९-२० "व्रतं पाशुपत कृत्वा ह्यथर्वशिरसि स्थितम्।" वा. सं. १-२९-२, "व्रतं पाशुपतं श्रौतमथर्त्वाशिरसि श्रुतम्" ॥२ ॥

२-१२-८१, "सैषा पाञ्चक्षरी विद्या सञ्चाश्रुतिशिरोगता" ॥ अथर्व शिर उ. ६७, जावाल्यु १-८, ११-१५, २२ भस्मजाबालोपनिषद् २-२७" — पाशुपतामतोशैवा वेदावतसं शैव पञ्चाक्षरं —।" तंत्रागम वा. सं. २-७-२६, २९.

वा. सं. २-१८-३७ " तपः कर्म जपोध्यानं ज्ञानञ्चेतिसमासतः।
कर्म्मालिङ्गार्चनाद्यञ्च तपश्चान्द्रायणादिक्म् ॥३७ ॥
जपस्त्रिधा शिवाभ्यासश्चिन्ता ध्यानं शिवस्यतु।
शिवागमोक्त यज्ज्ञानं तदत्रज्ञानमुच्यते ॥३८ ॥

२.११.११९ गुरोऽधिगतं ज्ञानंज्ञेयः पाशः पशुः पतिः।
लिङ्गार्चनाद्यनुष्ठेयं भक्तस्वधिवृतोद्विजः ॥

२.१३.६ शाम्भवी चैव शाक्ती च मान्त्री चैव शिवागमे।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना ॥

२.१३.१२ शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहर्महीति ॥

तन्त्रासार पृ. १२२ में शक्तिपात और गुरू का महत्व दिया गया है।
"शक्तिपातात् सद्गुरु विषया पिपासा भवति ॥"

२.२४.१७८ "शिवाज्ञापालकाः पूज्या ममापि शिवशासनात् ॥"
शिव शासन में श्रीकण्ठ और लकुलीश दोनों संस्थापक माने गये है।
तन्त्रालोक १२-३९-७ "ग्राह्यमवश्यं शिवशासनम् द्वावाप्तौ तत्र च श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलेश्वरौ ॥"

१०. पूर्व द्रष्टब्य— इसी अध्याय में।

११. श्वेताश्वतर उपनिषद्।

१२. वा. सं.- श्वेता वा. सं. पूर्वार्द्ध अ. ५ ६५-१४० पूर्णरूपेण श्वेताश्वतर उपनिषद् से उद्धृत है।

२.८.१२	—	.१.१, ३.१
१.२.४०	—	३.१, २
४१	—	३.१३
६५	—	३.२०, ४.१०
४८	—	६.१४
६५-७५	—	६.२१, २३
४६	—	४.८, १.१०, १.८
४७	—	४.१

५७	—	४.१
४२	—	१.२
४४	—	१.३
६४	—	३.११
५.१६	—	१.८
१४	—	.६-७
१८	—	६.७
२०	—	४-१०
४.६.५	—	६.५.६.७
७८	—	३.२
७९	—	३.२
८०	—	३.४
७६	—	३.२

८१.१४० - द्रष्टव्य —श्वेताश्वतर ३.२. ३, ८, १६, अ. ४, ५, ६
१-२८-३२, ३३, ३४ - ५-२, ४-१०

१३. वा. सं. १.१.४०, ४१, ४.६५, ७९, ७६, ८०, ८१-१४०, ५-१४.
श्वेता., ३.१, २, ३, ४, ५, ६, ७, १०, ११, १२, १३; ५.५, ५; १३, ६.७

१४. वा. सं., २.८.१.४०, २.५.३१.६३, ७३.
श्वेता. ४.४, ६, ७, १०, १४, ५.२, ३, ४, ५, ६.५, १२, १६.

१५. वा. सं., १.१.४४, ४५, ५.२०, २.८.२.
श्वेता., ४.१० मायां तु प्रकृतिं विद्या,मायिनं तु महेश्वरम् । वा. सं. १.२८.३४ श्वेता ६-८ "न तस्य कार्य कारणं न विद्यते न तत्सयश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वा भाविकी ज्ञानबल क्रिया च ॥
वा. सं. १-२-४४, ४५, वा. सं. १-२८-३२, ३३, १-२५-२६, ३२, ३३
श्वेता. ४-१, य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोद्वर्णान नेका निहितार्थो दधाति ॥
वा. सं. १-५-१८ "मायामाहेश्वरी शक्ति विदरूपो माययावृतः ।
वा. सं. १-२८-३२, ३३, ३४ "मायां तु प्रकृति —— ।

१६. वा. सं. १-४-६५, ७०, ७३
६५- पतिविश्वनिर्माता पशुपाशा विमोक्षण ।
७०- आत्मानं पृथकत्वा प्रेरितार तथा पृथक ।
७५- भोक्ता भोग्यं प्रेरियित्वा
श्वेता. १-८ अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्त भावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते । १-१२ भोक्ता योग्यं प्रेरितारं च मर्त्वा सर्व पाशेः ।
४-१६ विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वादेव मुच्यते सर्व पाशैः । ५-१३
६-५ तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।

पतिं पतीनां परमं परस्ताडिदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
६-१२ एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधयः करोति ।

१७. वा. सं. २-८-१९ ततः प्रसाद योगेन योगेन परमेण च ।
दृढ़ेन भक्ति योगेन दिव्यां गतिमवाजुवत् ॥
२-८-२७ प्रसादादेव सा भक्तिः प्रसादौ भक्ति सम्भवः ।
श्वेता., ६-२१ तपः प्रभाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ । ४-२० धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।

१८. गुरु भक्ति वा. सं. १-५-१३९, श्वेता "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । ६-२३
वा. २-२-७५ योगेन तु परा भक्तिः प्रसादस्तदन्तरम् ।
वा. २-१३-२० यो गरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरू स्मृतः ।
वा. २-१३-३५ गुरूर्देवो यतः साक्षान्न गृहं देवमन्दिरम् ।

१९. वा. सं. २-२४-१६९ अथ विद्या परा शैवी पशुपाशविमोचनी ।
पञ्चार्थ संज्ञिता दिव्या पशु-विद्या बहिष्कृता ॥
१.१३.२७ जय प्रणीत पञ्चार्थ - प्रयोग परमामत, जयपञ्चार्थ विज्ञानसुधास्त्रोतः स्वरूपिणि ॥
२० वा. सं. २.१०.२.५, ५.२१.

२०. वा.सं. २.१०.२-५, ५.२१.

२१. वा. सं. १.२८.१४ युगावर्त्तेषु शिष्येन योगाचार्य स्वरूपिणा ।
तत्र तत्रावतीर्णेन शिवेनेव प्रवर्त्तते ॥
१-२८-१७ तेषु पाशुपतयोग शिव प्रत्यक्षेय दृढ़म् ॥

२२. वा. सं. २.२४.१७० शैवाख्यं शिवधर्माख्यं पुराणं श्रुतिसम्मितम् ॥

२३. वा. सं. १.१६.१३ तनुं कृत्वात्मनः शैवीं शिवशास्त्रोक्त वर्त्मना ॥
वा. सं. २.२२.१ शिवशास्त्रोक्त मार्गेण नैमित्तिक विधिक्रमम् ॥

२४. वा. सं. २.२९.१४ यमश्च नियमश्चैव स्वस्तिकाद्यं तथासनम् ॥
२.१२.१०१ तैषामर्थं तु शास्त्रेषु मयैष नियमः वृतः ।
पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य, यमनियम प्रकरण, पृ. १५-३४.
पृ. १५ यत्र यमास्तत्र नियमाः" पृ. ३४; अत्रेदंयम प्रकरणं समाप्तम् ।

२५. वा. सं. २.१२.३७ "षडक्षरस्य सूत्रस्य तानि भाष्य समास ।
किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैःशाश्त्रैर्वा बहुविस्तरैः ॥
३८ 'तस्यो नमः शिवायैति मन्त्रोयहृदि संस्थितः ॥
पा. सू. भाष्य ५-२४ ओङ्कारमभिध्यायीत ।
५-२५ हृदि कुर्वीत धारणम् ॥
१-८ जप्योपहैरिणोपतिष्ठेत् ।

२६-२७-२८.
वा.सं. २.२९.१९ अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहो ।

यम इत्ययुक्ते साङ्गि पञ्चावयोगतः ॥

२-१९-२०; शौचं तुष्टि तपश्चैव—- पा.१ पृ. १६-१८ (१) अहिंसा तन्त्रे सिद्धाः (पृ. १९)„(२) १ पृ. १९-२१ "इत्येवं ब्रह्मचर्य तन्त्रे सिद्धम् (पृ.२१)„(३) पृ. २१ " पृ. २१ "सत्यं तन्त्रे सिद्धम्" „ (५) पृ. २३ "अस्तेयं तन्त्रे सिद्धम्" (२३-२५) "(४) २२ "असंव्यवहार तन्त्रे सिद्धम्" पा.सू. पृ. १६ "अहिंसा ब्रह्मचर्य च सत्यासंव्यवहारकौ अस्तेयामिति पञ्चैते यमा वै संप्रकीर्तिताः ।"

२९. वा.सं. २.२९.२० शौचं तुष्टि— ।
पा.सू.भाष्य पृ. १६-अक्रोधौ गुरुशुश्रुषा शौचं माहारलायवम् ।
अप्रमादश्चे पन्च्चैते नियमासंप्रकीर्तिताः ॥
पा.सू. भाष्य २९ शौच तन्त्रे सिद्धम् ।

३०. पा.सू. २.२९.२० तपश्चैव— ।
पा.सू. २.१६ "अतितप्तं तपस्तथा ।"

३१.३२.वा.सं. २.२९.१५ प्राणायाम प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च ।
समाधितिरित योगाङ्गन्यष्टो चेतति प्रकीर्तितः ॥
वा.सं. १.२.९६ शक्ति -प्रज्ञा-क्रियायोगेर्विधिरासीदनुष्ठितः ।
पा.सू. १-२० ततोऽस्य योगः प्रवर्तते ॥ पृ. ४१.
"अध्ययनध्यानादिलक्षणाः क्रियायोगश्चरतः यमनियमवत्तितसत्यर्थ प्राणायाम प्रत्याहार निमित्त प्रतिषेध संशय निर्धातन शौच नियोग फलोपायाश्च व्याख्याता........ ।"
पा.सू., १.१६, प्राणायामं कृत्वा ।

३३. वा.सं., २.२५.१ क्रियातपो जपध्यानसमुच्चयमयंपरम् – । १.२८.३ –क्रियातपो जपध्यान ज्ञानात्मभिरनुत्तरैः ।
पा.सू. भाष्य, १-१७, रौद्री गायत्रीं बहुरूपी वा जपेत् ।

३४. वा.सं., १.८.३७, २.२६.१५, सर्वं निवेद्य मन्त्रेण ततो गच्छेत् प्रदक्षिणेम्
वा. सं. ,२.२६.१५ जप्योपहार संमित्रं तंलिङ्गञ्छ निवेदयेत् ।
शिवाय शिवमंत्रेण दक्षिणामूर्ति समाश्रिताः ॥
पा.सू. भा., २.८ अपसव्यं च प्रदक्षिणम, २.७

३५. वा.सं., २.१६.१४ तनुं कृत्वात्मनः शैवीं शिवसास्त्रोक्त वर्त्मना ।
संपूज्य देवदेवेशं नकुलीश्वरमीश्वरम् ॥

३६. अथर्व शिर., ६७, जाबाल्यु-भस्म प्रकरण ।

३७. पा.सू., १.२, भस्मना त्रिषवणं स्नायीत, १.३, भस्मनि शयीत; १.४ अनुस्नानम्; ५-निर्माल्यम्; १-६ लिङ्गधारी, ८- हसितगीतनृतम् डुंडुकारनमस्कार जप्योपहारेणोपतिष्ठेत, ९-महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः ।

३८. वा.सं., १.२९.२४ ततस्तेन क्रमेणैव समुद्धृत्य च भस्मना ।
सर्वाङ्ग गोद्धलनं कुर्यात् प्रणवेन शिवेन वा ॥

वा.सं., १-२९-६७, कुर्यात् त्रिषवणं स्नानं भस्मस्नानमथापि वा ।
१-२९-९३ किमन्यदिह वक्तव्यं भस्ममहात्म्य कारणम् ।
व्रती च भस्मना स्नातः स्वयं देवो महेश्वरः ॥
९५, तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कृत्वा पाशुपतम् व्रतम् ।
धतवङ्गस्म संगृह्य भस्मस्नानरतो भवेत् ॥
२.३०.१०, अथ पाशुपता सिद्धा भस्मसन्छन्न विग्रहा ।२.१०.२४
पाशुपतयोगावतारों का वर्णन
"सर्वे पाशुपता सिद्धा भस्मोद्धूलित विग्रहा ।"

३९. वा.सं., २.१३.१०, गुरूणायोगमार्गेण क्रियते ज्ञान चक्षुषा ।
वा.सं., २.१३.१९ शिष्यस्य शिक्षणीयत्वात् गुरुर्गौरवकारणम् ॥
२-१३-२० यो गुरु स शिवः प्रोक्तो य शिव स गुरु स्मृतः ।
२-१३-७५,७६ संस्कार, स्पर्श, व संभाषण गुरु द्वारा ।
२-११-१९ पुरोधिगतं ज्ञानं ज्ञेयं पाशः पशुः पतिः ।
लिङ्गार्चनानुष्ठेयं भवस्वधिकृतो द्विजः ॥

४०. वा.सं., २-१३-२०

४१. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य, १-.१
पृ. २ "व्याख्यान (स्म्) वचन स्नान शयन उपदेशाच्च (अ. १ सू. १-३) शिष्याचार्यो प्रसिद्धिः ।
पृ. ३ "सर्वाचार्य विशिष्टोयं आचार्य इति अनुग्रहार्था—चाचार्यस्य प्रवचन वक्तृत्वे प्रवृत्तिः ।
४ सुसंस्कृत शिष्य को उपदेश देश, जाति, कुल, स्थान ज्ञान के अनुसार सुपरीक्षित को ।
२७ गुरु शुश्रूषा तन्त्रे सिद्धा ।
यस्तु विद्यां गुरोरधिकृत्य—
२८ "गुरुर्देवोगुरूः स्वामी....... ।
आचार्यमूर्तिमास्थाय शिवोज्ञानं प्रयच्छति ।
ग्रन्थार्थ विदुषेनित्यं योगमार्गानुदर्शिने ॥

४२. वा.सं., २.१३.१० शास्त्री ज्ञानवती दीक्षा शिष्येदेहं प्रविष्यतु ।
२.१३.१२ "शक्तिपातानुसारेण शिष्योनुग्रहमर्हति ॥

४३. स्व. त.,८.३५,३६.
ममापि च पुरादीक्षा तथा चैवाभिषेचनम् ।
श्रीकण्ठेन पुरादत्तं तन्त्र सर्वार्थ साधनम् ॥
अभिनवगुप्त, तन्त्रसार पृ. १२२, "शक्तिपातात् सद् गुरु विषयापिपासा भवति ।

४४. वा.सं., २.२९.१९२, न लिप्यन्ते च तापाद्ये पद्म पत्रं यथाम्भस...... ॥
१९४ सर्वदुःख प्रहाणाय शिवयोग समभ्यसेत् ।

सिद्धयोग फलोयोगी लोकानां हितकाम्यया ॥
पा.सू., ५.२०, सिद्धयोगी न लिप्यते कर्मणा पातकेन वा ॥२० ॥
२.४.५, ईशानः घोरो वामः सद्यस्तथैव च ।

४५. वा.सं., २.२३.५१, भवशर्वस्तथेशानो रुद्रः पशुपतिस्ततः ।
द्रष्टव्य –रुद्राध्यायी, उग्रो भीमो महादेव इत्याष्टौ मूर्तय क्रमात् ॥

४६. पा.सू., २.४२, भवे भवे नाति भवे; ४४-भवोद् भवः;
३.२४ शर्वसर्वेभ्यः, ५.४२ ईशानः सर्व विद्यानाम्; सू. १.१ पशुपतेः; ५.४७; शिवः; १.४१; सद्योजाताय वै नमः; ४३.३.२१; घोरेभ्यः २३; घोरघोरतरेभ्यः ; ३.४; रुद्रस्य २६.४.२३ महादेवस्य धीमहि ।
वा.सं., २.२९.१४६ शिवस्य मूर्तयः स्थूलाः शिवशास्त्रे विनिश्चिताः ।
घोरा मिश्रा प्रशान्ताश्च मूर्तयस्ता मुनीश्वरैः ॥

४७. पा.सू., ५.५४ ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा ॥४४॥ तैत्तिरीय पा. "ब्रह्मधिपतिर्ब्रह्मणोधिपतिब्रह्मा" ।
वा.सं., २.९.८ सत्कार्यकारणोपेतस्वयमातिर भूत प्रभुः
२-९-९ —देवानां प्रथमदेवं ब्रह्माणं ब्रह्मणः पतिः ।

४८. वा.सं., दीक्षाविधान २.१८.१५ स्वसूत्रोक्त विधानेन, १७; स्वसूत्रोक्तं कृत्वा ।
२.२१.१८ स्वसूत्रोक्त क्रमात् कूर्यान्मूलनमन्त्रेण मंत्रवित् ।
२-२१-२१ शिवमूर्ति समभ्यर्चं ततोदक्षिण पार्श्वतः ।

४९. वा.सं., २.९.७; कथं शिष्ये समासेन तस्यशक्योन विस्ताराः ।

५०. वा.सं. २-१८-१५,१७ में किसी स्वसूत्र का उल्लेख दीक्षा विधान के अन्तर्गत हुआ है । इसी अध्याय में इसी प्रसङ्ग में श्वेत से लकुलीश की परम्परा का भी उल्लेख है । यथा—वासं ।. २.१८.४० "श्वेतादीन् नकुलीशान्तान् सशिष्यान् प्रणमेदगुरुन् ।
पा.सू., पञ्चार्थ भाष्य, ५.४७ पृ., १४६ ।
"एवमेते पञ्चपदार्थाः कार्यकारण योगविधिदुःखान्ताः समास विस्तर विभाग विशेषोपसंहारनिगमनतश्च व्याख्याताः ।
पृ. १४७ पतिरिति कारणपदार्थस्योपदेशः समासेन ।
विस्तरस्तु-वामो देवो ज्येष्ठोरुद्रः कामी शङ्कर काल कलविकरणो बल विकरणोऽघोरोघोर घोरतरः सर्व शर्वः तत्पुरुषो महादेव ओङ्कार ....ईशान ईश्वरोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिव इत्येवमाद्यो विस्तरः ॥

५१. पूर्व विवेचित, पौराणिक परिवेश और पाशुपत ।

५२. वा.सं. उ., २.८.२९ "अनेकजन्मसिद्धानां श्रौत-स्मार्तनवर्तिनाम् ।
विश्वतानां प्रबुद्धानां प्रसीदति महेश्वरः ॥"

१.२८.६, ११,१३
२.२४.७९ "दक्षिणज्ञान निष्ठाश्च दक्षिणोत्तर मार्गगाः ।
अविरोधेन वर्तन्तां मन्त्रश्रेयोऽर्थिनो मम् ॥"

५३-५४. वा.सं. ,२.२४-७५
सांख्य वैशेषिकाश्चैव योगा नैयायिका नराः ।
शिष्टा सर्वे विशिष्टाश्च शिवशासन यन्त्रिताः ॥

५५. २.२४.१७१ "शैवागमाश्च ये चान्ये कामिकाद्याश्चतुर्विधा ।"
१.२८.१२ स्वतन्त्रोदशधापूर्व्व तथाष्टधा पुनः ।
कामिकादि समाख्याभिः सिद्ध सिद्धान्त संज्ञितः ॥

उपर्युक्त नवोदित तन्त्रागमों का विकास आलोच्य तान्त्रिक अश्रौत परिवेश में ही हुआ जिसके संस्थापक श्रीकण्ठ थे । (वा.सं. २.८.३९) एवं पूर्व उद्धृत श्रीकण्ठ धारा जो पाशुपत थे ।

पा.सूत्रों के मन्त्र-कैलाश सं. अ. ६-७१, भवे भवे नाति भवे, २ वामाय नमः श्रेष्ठाय नमः । ७३- रुद्राय नमः कालाय नमः । ७४- बलविकरणाय नमः ।

५६. २.२४.१७७ शैवाः सिद्धान्तमार्गस्थाः शैवाः पाशुपतास्तथा ।
शैवा महाव्रतधराः शैवा कापालिका परे ।
शिवाज्ञा पालकाः पूज्या ममापि शिवशासनात् ॥

(तन्त्रालोक १२-३९६-७) शिवशासन के संस्थापकों में श्रीकण्ठ और लकुलीश का नाम प्राप्त होता है ।

तन्त्रालोक १२-३९६-९७ "ग्राह्यंवश्यं शिवशासनम् ।
"द्वावाप्तौ तत्र श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलीश्वरौ ॥"

२.२४.१५७, भैरवाद्याश्च ये चान्ये समन्तात् तस्य वेष्ठिताः ।
तेऽपि मामनुगृह्यन्तु शिव शासन गौरवात् ॥

५७. वा.सं. ,२.११.५२, जपः पञ्चाक्षराभ्यासः प्रणवा एव च ।
रुद्राध्ययदिकाभ्यासो न वेदाध्ययनादिकम् ॥

पूर्व द्रष्टव्य— रुद्राध्यायी एवं श्वेताश्वतर धारा, परवर्ती उपनिषदें ।

५८. वा.सं., २.२८.१६, ते च पाशुपता ज्ञेयाः संहितानां प्रवर्त्तकाः ।
तत्समन्तीया गुरवः शतशोऽथ सहस्र शः ॥

५९. उपमन्यु ने कृष्ण को पाशुपत धर्म का उपदेश किया था (द्रष्टव्य कूर्मपुराण — एवं वायवीय संहिता -उपमन्यु) ।

वा.सं. १.१.९ उक्तं भगवता वृत्तमुपमन्योर्महात्मनः ।
१.१.१०, "धौम्याग्रजस्ततस्तेन कृतं पाशुपतं व्रतम् ।
१.१.१४ शिवध्यानरतं शान्तमुपमन्यु महाद्युतिम् ॥
कूर्मपुराण २.२४.४८ एवमुक्त्वा ददौ ज्ञानमुपमन्युर्महामुनिः ।
व्रतं पाशुपतं योगं कृष्णायाक्लिष्ट कर्मणे ॥

६०. वा.सं., २.२८.१६ संक्षिप्यास्य प्रववक्तारश्चत्वारः परमर्षयः ।
रुरु दधीचोऽगस्त्यश्च उपमन्युर्महायशाः ॥

६१. वा.सं. ,२,३०.७, ८,१०.२८,२९,७९,८७,९१. सनत्कुमार संहिता ४१.२५ वैश्वेश्वरलिङ्ग ।

६२. वा.सं., २.३०.९०

६३. शिव पु. सनत्कुमार संहिता ४२.५४.

६४. शिवपु. सनत्कुमार संहिता ४१.२६, ४१-६, १९, २.

६५. लकुलीश महात्म्य-सन्तोषकरण अध्याय शिवपुराण शूलपाणि जन्मपट्ट बन्ध महात्म्य शिवपुराण (गणकारिका से उद्धृत) ।

गणकारिका का लकुलीश पाशुपत दर्शन

गणकारिका एवं उसकी रत्नटीका

लकुलीश पाशुपत धर्म और उनके पञ्चार्थ-दर्शन को नैयायिक पाशुपतों ने सर्वाधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण आयाम दिया।[१] इस सन्दर्भ का महत्वपूर्ण साक्ष्य भासर्वज्ञ कृत गणकारिका की 'रत्नटीका' है।[२] गणकारिका नामक आठ श्लोकों के रचनाकार के रूप में आचार्य हरदत्त का उल्लेख मिलता है।[३] गणकारिका के आठ श्लोकों पर पाशुपतसूत्र के पञ्चार्थ भाष्य में उद्धृत पांच श्लोकों का गहरा प्रभाव द्रष्टव्य है।[४]

गणकारिका के रत्नटीकाकार नैयायिक भासर्वज्ञ

गणकारिका से सम्बन्धित एवं पञ्चार्थ भाष्य में उद्धृत श्लोक जो पांच लाभ, मल, उपायादि पञ्चार्थ से सम्बन्धित विषय का प्रतिपादन करता है[५] उसकी रचना पञ्चार्थ भाष्य से पूर्व अवश्य हो चुकी थी[६] जिसे गणकारिका का स्रोत कहा जा सकता है। साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपतागम के पञ्चार्थ दर्शन में एक परम्परा के रूप में कारिकायें विद्यमान थीं।[७]

भासर्वज्ञ गणकारिका रत्नटीका के लेखक हैं।[८] जिन्होंने न्यायसार नामक प्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ लिखा।[९] उनका समय दसवीं शती के पूर्वार्ध में निर्धारित किया गया है।[१०] साक्ष्यों से यह भी विदित होता है कि पूर्वनाम के रूप में 'भव' प्रथमांश नाम की परम्परा पाशुपताचार्यों में विद्यमान थी। इस भव से ही 'भा' शब्द निर्मित है।[११] कुमारपाल के समय के विक्रम संवत् १२१२ के सौराष्ट्र में मंग्रोल के सोधाली अभिलेख में पाशुपताचार्य भासर्वज्ञ नाम मिलता है।[१२] भासर्वज्ञ पाशुपत थे।[१३] उन्होंने पञ्चार्थ-दर्शन एवं पशुपति को सद्गुरुस्वरूप मानकर अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी।[१४] गणकारिका रत्नटीका में उन्होंने पाशुपतसूत्रों के भाष्यकार पाशुपताचार्य राशिकर (कौण्डिन्य) तथा उनके पञ्चार्थ-भाष्य का उल्लेख किया है।[१५]

आलोच्य गणकारिका रत्नटीका में प्रतिपादित धर्म-दर्शन का सम्बन्ध लकुलीश पाशुपतों एवं उनके पञ्चार्थ-दर्शन से है।[१६] उन्होंने लकुलीश से राशिकर पर्यन्त पाशुपताचार्यों की परम्परा का भी उल्लेख किया है।[१७]

गणकारिका की रत्नटीका में पञ्चार्थ-दर्शन के विवेचन के निमित्त दुःखान्त की प्राप्ति बताया गया है।[१८] पाशुपत-सूत्र पञ्चार्थ-भाष्य में पञ्चार्थ कारिका का उल्लेख दुःखापोह के सन्दर्भ में है।[१९]

गणकारिका में पाशुपत योग-विधि के अन्तर्गत अनुष्ठान[२०] एवम् साधक के लिये पञ्चार्थ की दीक्षा[२१] तथा गुरु के महत्व पर अत्यधिक बल दिया गया है[२२] ऐसा प्रतीत होता है कि गणकारिका पाशुपतागम के तान्त्रिक परिवेश से प्रभावित थी।[२३]

दसवीं शती में लकुलीश पाशुपत और शिवशासन

साक्ष्यों से विदित होता है कि दसवीं शती के अन्तिम काल में[२४] शिवशासन में श्रीकण्ठ के साथ ही साथ लकुलीश की परम्परा को भी मान्यता प्राप्त थी।[२५] लकुलीश एवं उनसे सम्बन्धित तीर्थस्थलों का उल्लेख तन्त्रालोक में हुआ है।[२६]

सन्दर्भ

१. षड्दर्शन समुच्चय, हरिभद्र सूरि (परिशिष्ट, गणकारिका पृ. ३०)।
अक्षपादं वात्स्यायनोद्योतकर वाचस्पति मिश्र श्री उदयन —भासर्वज्ञ प्रणीते न्यायासार।
षड्दर्शन राजशेखर - जयन्ताचार्य रचितो न्यायतर्कोऽतिदुस्तरः।
अन्यस्तुदयनाचार्यो ग्रन्थ प्रासाद सूत्रभृत ॥
भासर्वज्ञोन्यायसार तर्कसूत्र विधायकः।
न्यायधारा पूर्वोल्लिखित— अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र आदि।

२. गणकारिका रत्नटीका - सम्पादक स्व. सी. डी. दलाल (सैन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा)।

३. नकुलीश पाशुपत दर्शनम् - सर्वदर्शन संग्रह, पृ. ३००.
तदाह हरदत्ताचार्यः— ज्ञानतपोऽथ नित्यत्वं स्थिति शुद्धिश्च पञ्चमम्।
शैवग्रन्थ चतुर्वेद तात्पर्य संग्रह के लेखक हरदत्त कहीं कावेरी के तट पर रहते थे, काशिका वृत्ति पदमञ्जरी,धर्म व्याकरण के व्याख्याकार अनेक हरदत्त नामक व्यक्तियों का उल्लेख उपलब्ध होता है।
(भूमिका, पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य, पृ. ४, अनन्त कृष्ण शास्त्री।

४. पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य ४.४० पृ. १३०.
पञ्चलाआन् मलान् पञ्च पञ्चोपायान विशेषतः।
यस्तु बुध्यति पञ्चार्थे स विद्वान, नात्र संशयः ॥
प्रथमो विद्यालाभस्तपसो लाभोऽथ देवनित्यत्वम्।

योगो गुणप्रवृत्तिर्लाभाः पञ्चेह विज्ञेयाः ॥
अज्ञानधर्मश्च विषभ्यासः स्थितेर्लाभश्च ।
अनैश्वर्य च मला विज्ञेयाः पञ्च पञ्चार्थे ॥
गणकारिका लाभामला उपायाश्च देशावस्था विशुद्धयः ।
ज्ञान तपोऽथ नित्यत्वं स्थितिः सिद्धिश्च पन्चमी ॥६ ॥
प्रसादश्चैव लाभानानुपायाः पञ्च निश्चिताः ॥७ ॥

५. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य पृ. १३०

६. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य पृ. १३० उद्धृत है ।

७. गणकारिका ८, पञ्चैते तन्त्रे हेयाधिकारतः ॥८ ॥ रत्नटीका, पृ. २३.
तन्त्रे साक्षान्महेश्वर प्रणीतमथशब्दादि शिवान्तं शास्त्रं तन्त्रं तस्मिन्नेते प्रतिपादिता इत्यर्थः ॥

८. गणकारिका, रत्नटीका पृ. २३.
आचार्यभासर्वज्ञ विरचितायां गणकारिकायां रत्नटीका ।

९. न्यायसारः गवर्नमेन्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, १९६३.

१०. उदयन - किरणावली पृ. २२२ इति भासर्वज्ञमत निरासः ।
उदयन ९८४ ई. में हुये उनकी किरणावली में उपर्युक्त उल्लेख है । वाचस्पति मिश्र ने भासर्वज्ञ अथवा उनके त्रिप्रमाण सिद्धान्त का उल्लेख नहीं किया है । उनका समय ८५० ई. के लगभग है । उदयन ने (किरणावलि पृ. १९२) भासर्वज्ञ कृत न्यायसार की टीका न्यायभूषण का भी उल्लेख किया है । अनुमान है कि वे ८७५-९२५ ई. के मध्य हुये ।
—न्यायसार, भूमिका पृ. ७; भामती भूमिका - वी. शास्त्री; ब्रह्मसूत्रों की भामती टीका ।

११. भूमिका गणकारिका रत्नटीका —सी. डी. दलाल ।
वेरावल प्रशस्ति (वल्लभी संवत् ८५०) में भववृहस्पति, भवज्ञ व भवशंकर नामक पाशुपताचार्यों के नामोल्लेख हैं । अचलगढ़ अभिलेख (सं. १३४२) में पाशुपताचार्यों के नाम का प्रथमांश भव ही प्रयुक्त है ।

१२. भावनगर प्राकृत एण्ड संस्कृत अभिलेख, पृ. १८६.

१३. नकुलीश पाशुपत दर्शनम् —सर्वदर्शन संग्रह, पृ, ३००, विद्याभवन १९७८.

१४. गणकारिका - मङ्गलाचरण—
अनादि सृष्टि स्थिति संहार निर्वाणकारिणे ।
नित्यान्त्येश्वरत्वाय नमः सर्वार्थदर्शिने ॥
संसारकूपपतितं यः समुद्धरति द्विजम् ।
पञ्चार्थ ज्ञान हस्तेन तस्मै सद्गुरवै नमः ॥

१५. गणकारिका, पृ. —९ श्रीमताऽऽचार्येण भाष्यावसाने प्रकटितं पञ्चार्थ विषय समासविस्तर विभाग विशेषोपसंहार निगमन तस्तत्वज्ञानं । गणकारिका पृ. १३ तथा सूत्रऽपि भूयस्तपश्चरेत् (यह पा. सू. में मिलता है)

श्रीमद् भाष्य कृताऽपि ।

१६. गणकारिका पृ. ८ , अस्मिन् पञ्चार्थ दर्शने ।
गणकारिका पृ. ९,— इहैव पाशुपत दर्शने ।
गणकारिका पृ. ३ गुरुः आचार्य पञ्चार्थ ज्ञानोपदेष्टा ।
गणकारिका पृ, १ पञ्चार्थ शास्त्रोक्तार्थ निश्चये ।

१७. गणकारिका पृ. १९ . भगवत् लकुलीशादीन् राशिकरान्ताश्च ।

१८. गणकारिका रत्नटीका, पृ. २, पञ्चार्थोक्त समस्तनुपालनदेव दुःखान्तःप्राप्यत इति ।

१९. पञ्चार्थ भाष्य, पृ. १३०.

२०. गणकारिका पृ. ३..........तत्रेह दर्शने यः साधकः सन्नपवर्ग गन्तुमिच्छति तेन शास्त्र श्रुत्वाऽऽचार्योपदेश मात्राद्वा विध्यादि स्वरूपंज्ञात्वा विधियोगानुष्ठा-नमत्यन्तमभियोगेन कर्तव्यम् ।

२१. गणकारिका पृ. ३ —दीक्षाविशेषेण पञ्चार्थज्ञानविशेषेण, पृ. ४, दीक्षा निमित्तानि दीक्षाकारीणि द्रव्यकाल क्रियामूर्ति गुरु संज्ञकानि ।

२२. गणकारिका, पृ. २ संस्कर्ता गुरुरुच्यते, गणकारिका पृ. ५. गुरुभक्तिः प्रसादश्च , गणकारिका पृ, ५ गुरुः आचार्य पञ्चार्थ ज्ञानोपदेष्टा ।

२३. पा. सू., १.१, पृ. ३, ४, २७, सू. २८., वा. सू. २.१३.१०, २.२.२; तन्त्रसार पृ. १२२., स्वतन्त्र ८.३५, ३६.

२४. अभिनवगुप्त— के. सी. पाण्डे पृ. ८,; तन्त्रालोक के लेखक अभिनवगुप्त के आविर्भाव का समय ९५०-६० ई. है ।

२५. तन्त्रालोक, आ. १२.३९.६ ग्राह्यमवश्यं शिवशासनम् ।
द्वावाप्तो तत्र च श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलेश्वरौ ॥
द्विप्रवाहमिदं शास्त्रं सम्यङ् निःश्रेयसप्रदम् ।
३६.३८१— भैरवो भैरवी दैवी स्वच्छन्दो लाकुलोऽणुराट् ।
रुद्रयामल तन्त्र, ३६९ —नकुलीश. शिवेश्च सम्वर्तकेश एवं च ।

२६. तन्त्रालोक आ. ८.२०४ में स्व. तन्त्र व मा. वि. के उद्धरण हैं ।
भा. वि. ५.१७ लकुलीसारभूतिश्च दिव्याषाढ़ी च पुष्करः ।
नैमिषश्च प्रभाषश्च अमरेशस्तथाष्टमः ॥
स्व. तन्त्र १०.८५४, अमरेशं प्रभासं च नैमिषं पुष्करं तथा ।
आषाढ़ि दिण्डिमुण्डं भारभूतिं च लाकुलम् ॥
स्व.तन्त्र, ६.५२ मौसुले कारुके चैव मायातत्व प्रकीर्तितम् ।
श्रीलकुलीशशिष्येण मुसलेन्द्रेण कारोहणस्थानवतीर्णेन ॥
तन्त्रालोक १२.३८३ (जयरथ की टीका) ।
भैवाद्भैरवी प्राप्तं सिद्धयोगेश्वरी मतम् ।
ततः स्वच्छंददेवेन स्वच्छन्दगाल्लाकुलेन तु ।
लकुलीशादनन्तेन अनन्ताद्गहनाधिपम् ॥

१९.

लकुलीश पाशुपतों का विस्तार एवं प्रचार

बंगाल में लकुलीश पाशुपत मत

शिवपुराण में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों का वर्णन है ।[१] उनमें से कुछ स्थलों का सम्बन्ध पाशुपतमतावलम्बियों की साधना एवं उपासना से है ।[२]

चित्ताभूमि जहां वैद्यनाथ ज्योतिर्लिङ्ग है, बंगाल के सन्थाल परगना में गङ्गा के किनारे का क्षेत्र है ।[३] बङ्गाल के चौबीस परगना क्षेत्र में प्रचलित बाऊल सम्प्रदाय का लकुलीश पाशुपतों से सम्बन्ध हो सकता है । यह बाऊल सम्प्रदाय वातुलसूत्रों से प्रभावित था ।[४]

वातुल तन्त्र[५] या वातुल सूत्र दसवीं सदी से पहले के माने जाते हैं ।[६] बाऊल शब्द उसी से निःसृत प्रतीत होता है । उनमें गुरु का अत्यधिक महत्व था ।[७] साक्ष्यों से विदित होता है कि बातुलों ने लकुलीश पाशुपतों की यौगिक साधनायें और चर्यायें अपना ली थी उन पर पाशुपतसूत्रों का अत्यधिक प्रभाव है ।[८] पाशुपतों के इन अनेकानेक आगमों के प्रणयन का श्रेय श्रीकण्ठ ने श्वेत को दिया है । इस परम्परा के अन्तिम योगावतार लकुलीश थे ।[९]

भारतवर्ष में लकुलीश पाशुपत मत का विस्तार

साक्ष्यों से विदित होता है कि लकुलीश पाशुपतागम वैदिक और श्वेत की परम्परा के अन्तर्गत था ।[१०] इस समग्र पाशुपत परम्परा के विकास एवं साधना के केन्द्र-स्थलों का सम्बन्ध ज्योतिर्लिङ्गों से प्रतीत होता है ।[११]

साक्ष्यों से विदित होता है कि नवीं-दशवीं शती तक भारतवर्ष के चतुर्दिक-उत्तर में केदारनाथ, दक्षिण में श्रीशैल में मल्लिकार्जुन, पश्चिम में सौराष्ट्र अथवा प्रभास में सोमनाथ तथा पूर्व में बङ्गाल में चिताभूमि में वैद्यनाथ ज्योतिर्लिङ्ग लकुलीशमत साधना व धर्मदर्शन के केन्द्र हो गये थे ।[१२] जिनकी परम्पराएं प्राचीन थीं ।[१३]

उज्जयिनी के महाकाल, वाराणसी के विश्वेश्वर एवं अविमुक्तेश्वर तथा प्रयाग, कुरुक्षेत्र, कारोहण, इत्यादि स्थल पाशुपत परम्परा के महान केन्द्र थे ।[१४]

सन्दर्भ

१. शिवपु., कोटिरुद्र संहिता— केदारो हिमवत्पृष्ठे डाकिन्याँ भीमशङ्करः ।
वाराणस्यां च विश्वेशस्त्रयम्बको गौतमी तटे ।
सौराष्ट्रे सोमनाथश्चश्रीशैलेमल्लिकार्जुन ।
उज्जयिन्यां महाकाल ओङ्कारो चामरेश्वरः ।
वैद्यनाथश्चिताभूमो नागेशो दारुका वने ॥

२. शिव. पु., तत्रैव केदारेश्वर, विश्वेश्वर, सोमनाथ, महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग क्रमशः हिमालय (केदारनाथ), वाराणसी, प्रभास (सौराष्ट्र), उज्जयिनी पाशुपतों का परम्परागत केन्द्र था । द्रष्टब्य - पूर्व अध्याय ।

३. जीओग्राफीकल डिक्शनरी, पृ. ५० नन्दूलाल डे ।

४. जे. यन. बनर्जी वाल्यूम, पृ. ३४३, १९६० कलकत्ता ।

५. अड्यार पुस्तकालय हस्तलेख, वातुलसूत्रों की संख्या १३ है ।
वातुलागम - मैसूर ओरियन्टल रिसर्च, वातुल शुद्धाख्य तन्त्र, ७.११४, ३७.

६. वृहत्संहिता भाष्य में बातुल तन्त्र का नाम आता है ।

७. वातुलसूत्र, अड्यार पुस्तकालय हस्तलेख ।

८. तन्त्रसंग्रह - गोपीनाथ कविराज, संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, वातुल शुद्धाख्य तन्त्र, ११.४३, ४४ —दण्ड कौपीन काषाय जटा वलकल धारिणः ।
भिक्षाशी नियताहारः सुखसंसार वर्जितः ॥
जे. यन. बनर्जी वाल्यूम, पृ. ३४३.४९ बाउल्स इन बंगाल; उन पर तान्त्रिक प्रभाव था उनमें उन्मत्त व सर्वभक्ष सम्प्रदाय था ।
प्रेतवत्चरेत शून्यगार, श्मशानवास, भस्मस्नान, हसितगीत, भैक्षचर्या इत्यादि साधनायें उनमें प्रचलित थीं ।

९. ब्रह्मसूत्र भाष्य, श्रीकण्ठ, मङ्गलाचरण एवम् अप्पयदीक्षित की टीका—शिवार्कर्मणिदीपिका ।
नमः श्वेताभिधानाय नानागम विधायिने ।
कैवल्य कल्पतरवे कल्याणगुरवे नमः ॥
भाष्य पृ. ६ शिवशास्त्रे प्रचारार्थ शिवावतार रूपाणामष्टाविंशते ।
योगाचार्यणामाद्यस्य श्वेताचार्यस्यापि नमस्कारः ॥

१०. श्रीकण्ठ भाष्य, शिवकर्मणिदीपिका, २.२.३८ अप्पयदीक्षित

११. पूर्वोल्लिखित ।

१२. शिवपुराण - कोटिरुद्र संहिता - द्वादशज्योतिर्लिङ्ग ।
पूर्वोल्लिखित— **केदारनाथ** —श्वेताश्वतर धारा— द्रष्टब्य ।

श्रीशैल - कापालिक भैरव, शङ्कर दिग्विजय, भैरव कापालिक **प्रभासतीर्थ** - लकुलीश की परम्परा— सोमशर्मा ।
जीओग्राफिकल डिक्शनरी — **वैद्यनाथ** - चिताभूमि, चौबीस परगना बङ्गाल पृ. ९७
केदारनाथ - मन्दाकिनी गङ्गा के दक्षिण, गढ़वाल में रुद्रहिमालय श्रृंखला बद्रिकाश्रम के समीप ।
द्रष्टब्य— रिलीजन इन केदारनाथ, केदारेश्वर लिङ्ग; ईशानशिव ।
हिमालयाज आटकिंसन (हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स-आटकिंशन) पृ. ७७५
सनत्कुमार सं., अ. ३१.७.
केदारेदेवमीशानं रुद्रञ्चैव हिमालये ।
जीओ. डिक्शनरी, पृ. १९३.
श्री शैल - कृष्ण के दक्षिण कर्नूल जिले में (शङ्कर वि. अ. १००; मालती माधव १.९; प्रबोध चन्द्रोदय, अङ्क ३.१४ कापालिक भैरव); मल्लिकार्जुन, ज्योतिर्लिङ्ग ।
—जिओ. डिक्शनरी पृ. १५७, **सोमेश्वर** - काठियावाड़ सोमनाथ, वैद्यनाथ - द्रष्टब्य पूर्व पृष्ठ पर बङ्गाल ।

१३. पूर्वोल्लिखित ।
१४. पूर्वोल्लिखित ।

२०.

लकुलीश की प्रतिमाएं और उनकी धार्मिक-दार्शनिक मुद्राएं

महेश्वर के कायरूपी योगावतार लकुलीश के प्रति धार्मिक श्रद्धा एवं उनकी उपासना की एक अन्य पौराणिक परम्परा प्रचलित थी, जिसका सम्बन्ध मूर्तिपूजा से है। कायावतार की कथा में कहा गया है कि लकुलीश कारोहण से ब्रह्मेश्वर गये और वहां के ब्रह्मेश्वर लिङ्ग में अन्तस्थ अथवा लय हो गये।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि "लयंगतः" का अर्थ आत्मभाव हो जाने से है जो योग मुद्रा है 'इस मुद्रा का वर्णन पाशुपत योग में हुआ है।[२] पञ्चार्थ-भाष्य में विवेचित रुद्रसायुज्यता की स्थिति 'लयं गतः' की सूचक हो सकती है।परोयोग से योगीश को सांकेतित किया जा सकता है।[३] लकुलीश के बायें हाथ में दण्ड या लगुड तथा दाहिने हाथ में बीजपूरक स्थित होने का भी उल्लेख है।[४] बीजपूरक की व्याख्या मातुलिङ्ग के रूप में की गयी है[५] जिसका सम्बन्ध पाणिलिङ्ग से होना चाहिये जो सदा योगीश के दाहिने हाथ में रहता था। आगम-परम्परा में गुरुस्वरूप महेश्वर के दीक्षा काल में मन्त्रसहित पाणिलिङ्ग धारण करने का उल्लेख है।[६] इसे महाप्रसाद की भांति भी धारण किया गया होगा।[७] पञ्चाग्निसाधक पाशुपतों द्वारा हाथ में प्राणलिङ्ग धारण करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[८] वामहस्त में दण्ड तथा दायें हाथ में मातुलिङ्गधारी, योगमुद्रामय लकुलीश की लोकप्रियता के अन्य साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं।[९] किन्तु उनकी विशेषता उर्ध्वमेढ्र एवं पद्मासनस्थ होना है।[१०] पद्मासन योग की विशिष्ट मुद्रा है।[११] उर्ध्वमेढ्र की व्याख्या उर्ध्वलिङ्ग,[१२] उर्ध्वरिता[१३] उर्धशिश्न, मेढ्र मेहनसेफ[१४] अथवा शिश्नदेव[१५] से की जा सकती है। वायुपुराण में उर्ध्वमेढ्र महेश्वरावतार का उल्लेख है।[१६] मोहनजोदड़ो से प्राप्त पुरुष देवता जिसे योगीश कहा गया है लगभग इसी मुद्रा में है।[१७] लकुलीश ने पाशुपत ब्रह्मचारी के लिये केवल लज्जानिवृत्ति हेतु एकवासाः अथवा कौपीन की भांति एक ही वस्त्र धारण करने का विधान किया था।[१८] पाशुपत योगी भिक्षा के रूप में वस्त्र प्राप्त करने का अधिकारी था। ऐसे सिद्ध योगी को लकुलीश के पाशुपतसूत्र में पात्रागतम् कहा है। जो हिंसा, स्तेय

आदि से रहित भैक्ष्य के रूप में वस्त्रादि प्राप्त करने का अधिकारी था।[१९] साक्ष्यों से विदित होता है कि पाशुपतों में लकुलीश आदि गुरुओं को नमस्कारादि प्रदक्षिणा करने का विधान था।[२०] परम्परा में लकुलीश की चर्या एवं पूजा का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[२१] जगद्गुरु लकुलीश की भक्ति जन्म-बन्धन से मुक्ति प्रदान करती है।[२२]

उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि जगद्गुरु लकुलीश का ध्यान, जप, नमस्कार, प्रदक्षिणा तथा उनकी पूजा करने का विधान परम्परा में पौराणिक परिवेश में अत्यधिक प्रचलित रहा। वस्त्राच्छादन या वस्त्रदान की परम्परा जिसका उल्लेख पाशुपत सूत्र व पञ्चार्थ भाष्य में भैक्ष्यचर्या के अन्तर्गत सिद्ध पाशुपत ब्रह्मचारी के लिये किया गया है[२३] उसी परम्परा का विकास पौराणिक युग में दिखाई देता है। शिवपुराण में पट्टबन्ध का महात्म्य इसी परम्परा से सम्बद्ध हो सकता है।[२४] पट्टबन्ध का अर्थ वस्त्र से बांधना अथवा आच्छादन करता है, जगद्गुरु, ब्रह्मचारी, महेश्वर योगावतार लकुलीश, को वस्त्र से आच्छादित करना या बांधना, जन्म-मृत्यु के दुःख संकट से मुक्ति हेतु आवश्यक समझा जाता था।[२५] परम्परा में पट्टबन्ध एवं लकुलीश की पूजा की आगमिक धारा के विद्यमान होने का साक्ष्य प्राप्त होता है।[२६] सांसारिक जन्म मृत्यु बन्धन एवं आवागमन से मुक्ति अथवा दुःखान्त का रहस्य पट्टबन्ध अर्थात् लकुलीश को वस्त्राच्छादित करने के महात्म्य में सांकेतित है।[२७] पट्टबन्ध करने से महेश्वर का प्रसाद प्राप्त होता है।[२८]

लकुलीश की प्रतिमाओं के प्राप्ति-स्थल और उनकी भाव-भंगिमाएं

उपर्युक्त साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पद्मासनस्थ, उर्ध्वमेढ्र, वाम हस्त में दण्ड तथा दाहिने हाथ में मातुलिङ्गधारी, योगमुद्रामय लकुलीश की पट्बन्ध आदि संस्कृत मन्त्र-विधाओं द्वारा (ऊँकार, नमस्कार, प्रदक्षिणा, जप, ध्यान, योग, क्रिया, चर्या) पूजा की परम्परा प्रचलित थी।[२९] ध्यातब्य हो, कि लकुलीश ने पाशुपतयोगी को लिङ्गधारी कहा है, पाशुपत ब्रह्मचारी के चिह्न—दण्ड, चीर, यज्ञोपवीत आदि हैं।[३०] लकुलीश की इसी योगमुद्रा में मुथरा में प्रतिमाएं निर्मित होने का साक्ष्य प्राप्त होता है।[३१] इस योगमुद्रा में मथुरा में यमुना के किनारे स्वामीघाट के डूम्मारा, लेन केव एलोरा[३२] एलीफेन्टा से दण्ड व पट्टबन्धधारी[३३] कारवन के लिङ्गस्थली से उर्ध्वलिङ्ग पद्मासनस्थ खण्डित मूर्ति,[३४] नकुलीश्वर मन्दिर में पट्टबन्धमूर्ति,[३५] भड़ौच से उर्ध्वमेढ्र व पद्मासनस्थ,[३६] माउण्ट आबू के अचलेश्वर से मातुलिङ्ग व लकुटधारी पद्मासनस्थ,[३७] बड़ौदा में विश्वामित्री नदी के तट से स्नातक मुद्रा में, इन्दौर से चतुर्भुजी, पद्मासनस्थ, यज्ञोपवीतधारी लकुलीश की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं।[३८] इस प्रकार गुजरात, सौराष्ट्र, अजमेर, बड़ौदा, इन्दौर, मैसूर,[३९], प्रभासपट्टन और उड़ीसा के अनेक मन्दिरों से प्राप्त मूर्तियों में लकुलीश की पूर्व विवेचित भक्ति- परम्परा के साक्ष्य मिलते हैं जिनमें उनके व्यक्तित्व के प्रति भक्ति व उपासना के तत्व निहित दिखाई देते हैं।[४०]

बिहार से प्राप्त लकुलीश की प्रतिमाएं भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। रोहतक में मुण्डेश्वरी से प्राप्त लकुलीश की मूर्ति दण्डधारी, पद्मासनस्थ और व्याख्यान मुद्रा में है जो उत्तर गुप्त कालीन प्रतीत होती है।[४१] सिंहभूमि बेनीसागर से प्राप्त लकुलीश मूर्ति की आंखें व सिंर बुद्ध की भांति हैं जिनका समय दसवीं शती होना चाहिये।[४२]

सन्दर्भ

१. शिवपुराण - शूलपाणिजन्म पट्टबन्धादि माहात्म्य

वृश्च बचनं श्रुत्वा लकुलीश वराननै ।
ब्रह्मेश्वरं समासाद्य तस्मिन्नेव लयं गतः ॥
स्थितः स भगवान् तत्र कायरूपी महेश्वरः ।
येन कायावतारोऽसौ तेनेदं कायरोहणम् ॥
ब्रह्मतीर्थेषु तिष्ठस्व ब्रह्मेश्वर सन्निधौ ।
भृगुक्षेत्र पवित्रवृत्तं भक्तानां मोक्षकाम्यया ॥

ब्रह्मतीर्थ कारोहण के समीप ही भृगुक्षेत्र में था। पूर्व द्रष्टव्य भृगुक्षेत्र। भृगुकच्छ ब्रह्मतीर्थ - कूर्मपुराण, १.३२.९.१२ में सोमतीर्थ के साथ ब्रह्मेश्वरतीर्थ का उल्लेख है जहाँ विष्णु ने ब्रह्मलङ्ग की स्थापना की थी जो रुद्र के प्रति ब्रह्मा से अधिक विष्णु की दृढ़ भक्ति का प्रतीक था। २.९.५ में ब्रह्मतीर्थ नर्मदा के दक्षिण तट पर स्थित था। यह भृगुक्षेत्र में ही था।

२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य, ५३३ —लभते रुद्रसायुज्यम् - भावग्रहणात्मेश्वराभ्याम् साक्षात् रुद्रेण सह संयोगः; ५.१ असङ्ग—महेश्वर भावस्थिति ब्रह्मेश्वर रुद्रलिङ्गया (कूर्मपु. १.३.९.१२ उस रुद्र लिङ्ग में आत्मभाव हो गये अर्थात् ५.३३ साक्षात् रुद्रेण सह संयोगः।

३. ५.४५ शिवों में अस्तु (पा. सू.)।

पञ्चार्थ भाष्य - भगवानस्य शिवो भवति। शिवमय, तत् तद्रूप हो जाने से है। योग के सम्पूर्ण गुणों से युक्त, दुःखान्त की स्थिति का परिचायक ५.४७; उपसंहार - इत्येभिर्गुणैर्युक्तः।

शिवो में अस्तु - शिवमय, लिङ्गमय - लीयते लीयनाच्य लिङ्ग जैसे राजराज वत्।

पा. सू. २.१८ तस्मात् (एकान्तिकात्यान्तिक), रुद्र समीप प्राप्ति।

यह पूर्णयोग, सायुज्य योगस्य सम्यकत्वं सायुज्यमिति योग पर्यायोऽवगम्यते।

५.३३ में परोयोग कहा गया है - आकृतिमयि परिहृत्य ध्यानं नित्यं परेरुद्रे।

येन प्राप्त योगे मूहूर्तमपि परोयोगः।

पा. सू. ५.१ महेश्वर भाव हो जाने की स्थिति सांकेतित है।

४. शिवपुराण - शूलपाणि जन्म पट्टबन्धादि महात्म्यः।

स्थितः स भगवान् तत्र कायरूपी महेश्वरः ।
येन कायावतारोऽसौ तेनेदं कायरोहणम् ॥
असिदण्डधरो वामे दक्षिणे बीजपूरकम् ।
ब्रह्मलिङ्ग महादेवि ! अहमपि लयं गतः ॥

५. विश्वकर्मा वास्तुशास्त्रम, दक्षिणे मातुलिङ्गः ।

६. लिङ्गपुराण वेदेषु शास्त्र सङ्घेषु पुराणेषु आगमेषु च ।
ब्राह्मस्य समाख्यातं लिङ्ग धारणमुत्तमम् ॥१ ॥
पाणौलिङ्गं विनिक्षिप्त दीक्षाकाले गुरुश्शिवम् ।
येन स्तुवन्ति तन्मन्त्रं पाणिमन्त्रं वदन्ति हि ॥३ ॥
पवित्रत्वान्महेशस्य शिवस्य प्रतिपादनात् ।
पवित्रीकरणात्पुंसां पवित्रमिति कथ्यते ॥४ ॥
अतस्सर्वेषु कालेषु धारयेलिङ्गमुत्तमम् ॥५ ॥

७. मातुलिङ्ग या बीजपूरक भक्ति का प्रतीक है । पा. सू. पञ्चार्थ में पाशुपतचर्या के अन्तर्गत (१.५) लिंङ्गधारी प्रकरणम् में कहा गया है ।
भक्ति विवृद्धर्थ लिङ्गभिव्यवक्त्यर्थः च तद् धार्यमित्यर्थः ॥५ ॥
गणकारिका रत्नटीका, (पृ. १२) में निर्माल्य इत्यादि चिन्ह महाप्रसाद भी कहे गये हैं ।पाणिलिङ्ग धारण करना गुरु शिव के महाप्रसाद का भी द्योतक हो सकता है—
निर्माल्य... ध्यात्वामहाप्रसाद इत्यभिसन्धाय भक्तयैव शिरसि धारयेत् ।

८. षड्दर्शनसमुच्चय - पञ्चाग्नि साधनपराः प्राणलिङ्गधराः करे ॥

९. विश्वकर्मावतार वास्तुशास्त्रम्— नकुलीश उर्ध्वमेढ्र पद्मासनमुपसंस्थितम् ।
दक्षिणे मातुलिङ्ग च वामे दण्ड प्रकीर्तितः ॥

१०. विश्वकर्मावतार वास्तुशास्त्रम् ।

११. पातञ्जल योगदर्शनम्, व्यास भाष्य, (२.४६) स्थिरसुख आसन, पद्मासनम् (२.४६.१) गणकारिका रत्नटीका पृ. १२.
पद्मक स्वस्तिकादीनामन्यतमं यथासुखमासनं बद्धा कृत्युन्नतं च कृत्वा शनैः संयतान्तःकरणेन रेचकादीन् कुर्यात् ।

१२ पा. सू. १.९ पञ्चार्थ भाष्य, पृ. १५, महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः ।
मूर्तिर्नाम यदेतद् देवस्य दक्षिणे पार्श्वे स्थितेनोदङमुखेनोपान्ते यद् रूपमुपलभ्यते वृषध्वजशूलपाणिनान्दिमहाकालोर्ध्व लिङ्गादिलक्षण ।
लकुलीश की लिङ्गमूर्ति का भी उल्लेख मिलता है -
लिङ्गमूर्तीद्वयोर्मध्ये स्वयं साक्षाद्युगेश्वरः ।

१३. ब्रह्माण्ड पुराण अ. ९.१ प्रथम पद ऊर्ध्वरेताः स्थितः स्वायुर्यावदाभूत संप्लवम् ।

१४. महाभा. में मेहशेफ या ऊर्ध्वकेश नाम मिलता है ।
अमरकोष भगं— योनिद्वयो शिश्नः मेढ मेहनशेफ ।
मुष्कोऽऽकोषो वृषणः पृष्ठ वंशाधरे त्रिकम् ॥

—अभिधान रत्नमाला, २-३५९.
शिश्न शेफो ऽथमेढ्रश्चतुल्ये मेहनशेफसी ।

१५. ऋग्वेद , ८.२१.५, १०.९९.३ शिश्न देव, शिश्नपूता देवाः ।

१६. वायुपुराण २४.५६.

१७. मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, वा.१ पृ. ५२ प्लेट १२ न. १७.

१८. पा. सू. १.१० एकवासाः ।
पञ्चार्थ भाष्य वास इत्याच्छादने भवति —निष्परिग्रहं कौपीन प्रच्छादनमात्रं लज्जाप्रतीकार्थ चैकं वासो ग्राह्यम्—एकवासोमात्र परिग्रह संस्कर्तव्य शिष्य—अत्र यदा प्राप्त ज्ञानःक्षीणकलुषश्च भवति तदातस्य लज्जानिवृतिः । १०.

१९. पा. सू., ५-१५.
पञ्चार्थ, भाष्य— अत्र भैक्ष्यवत् प्रसिद्धं पात्रम् । अलावुदारु वस्त्रादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते, तत् खलु हिंसास्तेयादिरहितेन क्रमेणाहारेयत्पर्याप्तं ग्राह्यम् ।

२०. गणकारिका रत्नटीका, पृ. १९, ततोऽवभृथस्नानं कृत्वा भगवँल्लकुलीशादीन् राशिकारान्ताश्च तीर्थकराननुक्रमेण यथावद्भक्त्या नमस्कुर्यात्तदनु प्रदक्षिणामेकमिति—जपन्नेव कुर्यात् पञ्चमन्त्रजपस्तु केवलोऽपि धर्महेतुरिति ।

२१. शिवपुराण शूलपाणिजन्म पट्टबन्ध महात्म्य—
शिवोक्तेन च मन्त्रेण पूजयित्वा जगद्गुरुम् ।
प्रदक्षिणां ततः कृत्वा पूजयित्वा महेश्वरम् ॥

२२. शिवपुराण, शूलपाणिजन्म —पट्टबन्ध महात्म्य,
घोरे कलियुगे प्राप्ते देव देवोजगद्गुरुः ।
लकुलीश इति ख्यातः त्रिषुष् लोकेषु विश्रुतः ।
मुच्यते मानवः पापात् सप्तजन्म समुद्भवात् ॥

२३. पा. सू., पञ्चार्थ भाष्य, १.१० एकवासाः, ५.१५ पात्रतागतम् ।

२४. शिव. पु., पट्टबन्ध महात्म्य ।

२५. शिव पु., पट्टबन्ध महात्म्य— पट्टबन्धं लकुलीशं स्वयं देवैश्च यत्कृतम् ।
न तेषां जायते जन्म संसारे दुःखसंकटे ॥

२६. शिवपु. ,पट्टबन्ध महात्म्य —विलेप्यचन्दनैर्दिव्यै कर्पूररागरुधूपवैः ।
पुष्पैर्मनोहरैर्दिव्यै श्वेतमालाभिरर्चितः ॥
पट्टसूत्रमयैर्वस्त्रैः सूत्रजैर्वा महेश्वरम् ।
परिधाप्य महादेवं यथाशक्त्या च पूजयेत् ॥

२७. शिव पु. , पट्टबन्ध महात्म्य —पट्टबन्धं तु ये कुर्युरिवं देवस्य मूर्धनि ।
न तेषां पुनरावृत्तिः संसारे जायते प्रिये ।
दुर्लभः पट्टबन्धश्च लकुलीशस्य च प्रिये ॥

२८. शिवपु. ,पट्टबन्ध महात्म्य —स प्रसादमासाद्य महेश्वरस्य ।

२९. पूर्व द्रष्टब्य इसी प्रकरण में ।

३०. पा. सू., पञ्चार्थ, भाष्य १-६ लिङ्गधारी।
ब्रह्मचारिणोऽपि दण्ड कमण्डलु मौन्जीमेखला यज्ञोपवीत कृष्णाजिननादिलिङ्गम्।

३१. डोम्मारा नन्दयाल प्लेट आफ कुमार, एपी.इ.,फा. २८ पृ. २७४ अढकमण्ड एच. के. नरसिंहस्वामी— लकुलीश—-गगनमिव सुप्रसन्नं प्रचुर प्रतिमं लकुटपाणेः।

३२ आक्यों. सर्वे आफ इंडिया, वा. ५, प्लेट ३७ एवं, वा. १० (५वीं शती)।

३३. गाइड टू एलीफेन्टा - हीरानन्द शास्त्री, मथुरा म्यूजियम, ३२।

३४. आर्कोलाजिकल रिपोर्ट आफ डिपार्टमेन्ट, १९०५-०६; भंडारकर, लकुलीश इमेजेज आफ वेस्टर्न इण्डिया ; एम. आर. मजूमदार- पी. के. गोड वाल्यूम १९६०.

३५. आर्कोलाजिकल रिपोर्ट आफ डिपार्टमेन्ट १९०५-०६, भंडारकर— लकुलीश इमेजेज आफ वेस्टर्न इण्डिया - एम. आर. मजूमदार- पी. के. गोड वालूम, १९६०.

३६. आर्कोलाजिकल रिपोर्ट आफ डिपार्टमेन्ट १९०५-०६, भंडारकर—जम्बूसार तालुका - कनिका-तीर्थ मन्दिर, भड़ौच।

३७. पी. के. गौड कोमेमोरेशन वा., १९६०, लकुलीश इमेजेज।

३८. पी. के. गोड कोमेमोरेशन वा., १९६० लकुलीश इमेजेज चित्र ७, ९, १०, ११. बड़ौदासिद्धनाथ एवं कामनाथ मन्दिर तथा इन्दौर म्यूजियम-सोमनाथ मन्दिर अजमेर म्यूजियम।

३९. बाम्बे गजेटियर, वा. १, पृ. १३३.
तञ्जोर के नेगापट्टन का कारोहणस्वामी मन्दिर।

४०. पूर्व द्रष्टब्य इसी प्रकरण में।

४१. अर्ली स्कल्पचर आफ बिहार—चितरंजन प्रसाद सिन्हा, भारती नं. १२-१४ पृ. २४९-५०.

४२. अर्ली स्कल्पचर आफ बिहार - चितरंजन प्रसाद सिन्हा, जे. बी. आर. एस., एक्स. एल. द्वितीय पी. वी. ७-८ चित्र ४.

२१.

अभिलेखों में लकुलीश पाशुपत मत

मैसूर के एक लेख में मुनिनाथ चिल्लुक नामक लकुलीश के अवतार का उल्लेख मिलता है जिन्होंने लकुलीश पाशुपत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इससे प्रकट होता है कि लकुलीश पाशुपत परम्परा मैसूर में प्रचलित थी।[१]

साक्ष्यों से विदित होता है कि लकुलीश के पाशुपत सिद्धान्तों का विकास उनके शिष्यों द्वारा हुआ। पाशुपतों की इस शिष्य परम्परा में गोत्र परम्परा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जिनमें प्रमुख रूप से कुशिक, गार्ग्य, कौरुष, मैत्रेय की परम्परा है जिनका उल्लेख किया जा चुका है।[२] गार्ग्य की परम्परा में गोत्र परम्परा मिलती है। चिन्त्रा प्रशस्ति में गार्ग्य गोत्र के पाशुपत संन्यासियों का वर्णन है।[३] कारूष की परम्परा में अनन्त गोत्रीय लाकुलों का उल्लेख हुआ है जिसकी कुल परम्परा में उत्पन्न विश्वरूप का सम्बन्ध पञ्चार्थिक लाकुलों आम्नाय से था। विग्रहपाल चाहमान के हर्ष प्रस्तरलेख में गुरु विश्वरूप का उल्लेख है जो लाकुलों के पञ्चार्थ सिद्धांत से सम्बन्धित थे और अनन्त गोत्र के थे।[४] गयकर्णदेव के तेवर अभिलेख (११५ ई०) से ज्ञात होता है कि अनन्त गोत्र में ही पन्चार्थिक भवतेज और उनके शिष्य भवव्रहम् उत्पन्न हुए थे।[५] हमें ज्ञात है कि लकुलीश के पाशुपत सूत्रों का ऊपर नाम पञ्चार्थ विद्या[६], पञ्चार्थ, पञ्चाध्यायी या पञ्चार्थिक है।[७] पाशुपतों की इस गोत्र परम्परा से सम्बद्ध उनकी राशिपरम्परा भी प्राप्त होती है। त्रिपुरान्तकेश्वर प्रशस्ति में गार्ग्यगोत्र के कार्तिकराशि, वाल्मिकराशि एवम् वेदगर्भराशि का उल्लेख हुआ है जो त्रिपुरान्तक की परम्परा के थे और इन्होंने प्रभास, सोमनाथ व देवपट्टन के मन्दिरों के निर्माण व जीर्णोद्धार कराये।[८] इस प्रशस्ति में लाटभूषण कारोहण एवम् लकुलीश योगावतार का भी उल्लेख है।[९]

सं० १३५८ (१३०२ ई०) के कारवणश रणछोड़जी मन्दिर प्रस्तर-लेख से ज्ञात होता है कि पुष्यराशि लकुलीश पाशुपतों से ही सम्बद्ध थे। जो महापुजारी पद पर प्रतिष्ठित थे।[१०] भीम द्वितीय के वेरावल प्रशस्ति में पाशुपताचार्य विश्वेवरराशि का उल्लेख है जिन्हें राजा अजयपाल ने गणतीर्थेश्वर उपाधि से सम्मानित किया था जो पाशुपताचार्य भव वृहस्पति के उत्तराधिकारी थे।[११] देवपट्टनप्रशस्ति में विद्याराशि व ओंकारराशि के नाम मिलते हैं।[१२] अवन्ति के नूतनमठ के चपल गोत्रीय केदार राशि का उल्लेख भीम द्वितीय के माऊन्ट आबू लेख (वि०सं० २६५) में मिलता है।[१३] चपलगोत्र के ही पण्डित गंगाध्वज का नाम अमरेश्वर मन्दिर लेख में प्राप्त होता है जो विवेकराशि के शिष्य थे और पुनः सुपूजितराशि के शिष्य हुए।[१४] इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि लकुलीश पाशुपतों में शिष्य परम्परा में गोत्रपरम्परा तथा राशिनामान्त परम्परा प्रचलित थी। अभिलेखों में उपलब्ध उपाधिनामों का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि वे उपाधिनाम लकुलीश पाशुपतों की परम्परा में प्रचलित थे।[१५] इन उपाधि नामों के साथ आचार्य परम्परा का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[१६] भासर्वज्ञ परमपाशुपताचार्य भासर्वज्ञ, भव वृहपति इत्यादि नाम लकुलीश पाशुपतों में उपलब्ध होते हैं। भासर्वज्ञ गणकारिका रत्नटीका के रचनाकार थे।[१७] भासर्वज्ञ सोधाली लेख की प्रशस्ति के रचनाकार थे।[१८] वि०सं० ८५० के वेरावल प्रशस्ति व वि०सं० ३४२ के अचलगढ अभिलेख में भव उपाधिनाम प्राप्त होता है। आचार्य सर्वेश्वर गण्ड और पाशुपताचार्य उपाधियां भी इन उपाधिनामों के साथ ही प्राप्त होती हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि वे परम्पराएं लकुलीश पाशुपतों में प्रसिद्ध थीं।[१९] प्रभासपट्टन के भद्रकाली मन्दिर लेख में पाशुपताचार्य गण्ड श्री भववृहपति का उल्लेख है जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, उनका जन्म वाराणसी में हुआ था।[२०] वेरावल प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि काशी, मालवा और गुजरात के राजाओं ने उनका आचार्यत्व स्वीकार किया था तथा उन्होंने कुमारपाल के उत्तराधिकारी सिद्धराज को सोमनाथ मंदिर के जीर्णोद्धार का स्वप्न में निर्देश किया था।[२१] यह भी प्रमाण उपलब्ध होता है कि राजा अजयपाल ने भववृहपति उपाधि से सम्मानित किया था।[२२] आचार्यपाद गण्डसर्वेश्वर व अनेक तीर्थ कारोपम उपाधियाँ भव-वृहपति को प्राप्त हुई थीं[२३] उन्हें शङ्कर व लकुलीश से सम्बन्धित किया गया है।[२४]

पाशुपताचार्यों की अनुवांशिक परम्परा का उल्लेख अनिल्हवाड़ के चालुक्य अभिलेखों में मिलती है।[२५] आचार्य परम्परा में तपोनिधि वच्छकाचार्य दीर्घाचार्य व दुर्लभाचार्य का नाम प्राप्त होता है जो कान्यकुब्ज से आये थे तथा उन्होंने चालुक्य शासक मूलराजदेव से चन्द्रग्रहण के अवसर पर (वि०सं० १०५१) दान प्राप्त किया था।[२६] गुजरात के सोलंकी शासकों के लेखों में लकुलीश आचार्यों की परम्परा का उल्लेख प्राप्त होता है।[२७] हरिसिद्धमत मंदिर लेख (वि०सं० १३१० व वि०सं० १३२८) के नानक प्रशस्ति में गण्ड श्री उपाधि के साथ परमपाशुपताचार्य महापण्डित वीरभद्र का उल्लेख प्राप्त होता है।[२८]

लकुलीश पाशुपतों में शिव नामान्त आचार्यों की परम्परा के उपलब्ध होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। देवपट्टन प्रशस्ति में विमलशिव मुनि नामक पाशुपताचार्य का उल्लेख है जिनकी उपाधि "भूपाल कुल-सद्गुरु" थी जिनकी उपासना चन्द्रमा की भांति होती थी।[२९] धर्मशिव अथवा वर्मशिव नामक पाशुपताचार्य का उल्लेख लखनपाल के बादोन प्रस्तर लेख में है जो अन्हिलपटक के निवासी थे, उन्होंने मन्त्रबल से बौद्ध दक्षिणापथ बौद्धों द्वारा निर्मित मूर्ति को नष्ट कर दिया था और काश्मीर में अपनी दिव्य शक्ति का प्रदर्शन किया था। उनके उत्तराधिकारी ईशान शिव हुए।[३०] वे एक मठ के प्रधान भी नियुक्त हुए थे।[३१] इस प्रकार गुजरात, मालवा, उड़ीसा, मैसूर व बंगाल[३२] में लकुलीश की उपासना परम्पराएं विकसित हुईं।

विहार के मुण्डेश्वरी[३३] व बेनीसागर से[३४] प्राप्त लकुलीश की मूर्तियों से विदित होता है लकुलीश पाशुपतोपासना व उनकी धार्मिक परम्परा बिहार तथा उड़ीसा व बंगाल की सीमाओं के क्षेत्र में विकसित हुई।[३५] उक्त स्थानों से प्राप्त मूर्तियां पद्मासनस्थ, व्याख्यानमुद्रा में हैं, दण्डधारी है। बुद्ध की भांति सिर व आंखें हैं।[३६] पाशुपताचार्यों द्वारा शिवमंदिरों के निर्माण[३७] तथा उनके पुजारी पद पर प्रतिष्ठित होने के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ

१. हेमावती लेख (९४३ ई.) मैसूर-सीर तालुका से प्राप्त बाम्बे गजेटियर, वा. प्रथम पृ. १३३.

२. पूर्वोल्लिखित लकुलीश की शिष्य-परम्परा.

३. एपी. इ. पृ. २८२ पंक्ति १९.

४. एपी. ई. वा. द्वितीय पृ. १२२ बिग्रहपाल चाहमान का हर्ष प्रस्तरलेख वि. सं. १०३०.
महाराजवली चासौ शंभुभक्तिगुणोदया ।
श्रीहर्षः कुलदेवोऽस्यास्तस्माद्दिव्य कुल क्रमः ॥२७ ॥
अनन्त गोचरस्त रे श्रीमान् पण्डित औन्तरेशवरः ।
पञ्चार्थलाकुम्नाये विश्वरूपो भवद्गुरु ॥२८॥

५. इण्डियन एन्टीक्वेरी, १८ पृ. २१० गोत्रेऽनन्त समाह्वये भवदिन प्रख्यस्तपस्तेजसा ।
दृष्टादुष्ट विशुद्धे कर्मनिरतः श्री भावतेजागुरुः ।
आचार्योद्भूत केवलार्थ पंचसा पान्चार्धिकोयंसुधी ॥

६. वा. सं. भाग २, अ. २४.१६९.

७. पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य, ; ब्रह्मसूत्रभाष्य शंकर भामती, २.२२.३७.३८; षड्दर्शन समुच्चय।

८. एपी. इ. वा. प्रथम पृ. २८१-८२ शाङ्र देव की चिंत्रा प्रशस्ति ।

९. एपी. इ. वा. प्रथम पृ.२८१-८२ शाङ्कदेव की चित्र प्रशस्ति ।
भट्टारक श्री लकुलीशमूर्त्या तपः क्रियाकाण्ड फल प्रदाता ।
अवतार द्विश्वमनुग्रहीतुं देवः स्वयं बालमृगाङ्क मौलिः ॥१४ ॥
अनुग्रहीतं च चिरं विपुत्रकालूकभूतानभिशापतः पितुः ।
ललाटमूर्त्या इवलाट भूषणं समेत्य कारोहणमध्युवास यः ॥१५ ॥

१०. बाम्बे यूनिवर्सिटी जर्नल, १९५० एन्टीक्वीटीज इन कारवन,
श्रीपुष्यराशिः स्वबधं चकार । करक्षतौ श्री लकुलीश कार्ये ।
श्रीलाटदेशाधिपमाणसूरदेशोद्भवं...... ।

११. भावनगर संस्कृत प्राकृत अभिलेख पृ. २०८, ९, १०.

१२. एपी. इ. वा. द्वितीय पृ. ४३७.

१३. इण्डि. एन्टीक्वेरी ॥पृ. २२० एतस्यां पुरि नूतनाभिधमठात् संपन्न विधातया ।
धीरात्मा चपलीय गो विश्वे नित्वणिमार्गानुगः ॥
अमलचपलगोत्र प्रोद्यतानां मुनीनाजनि तिलकरूपस्तस्य केदारराशिः ॥

१४. एपी. इ. वा. २५ पृ. १८५ द्वितीय ६५-६६.

१५. प्रा., भा. भव, द्रष्टब्य अधोलिखित.

१६. पाशुपताचार्यो की परम्परा, आचार्य नाम पाशुपतों के लिये ।

१७. गणकारिका रत्नटीका पृ. २३ आचार्य भासर्वज्ञ विरचितायां गणकारिकाया रत्नटीका परिसमाप्ता।

१८. भावनगर संस्कृत प्राकृत अभिलेख, पृ. १५८.
कुमारपाल (वि. सं. १२०२) का मंग्रोल का सोधाली अभिलेख ।

१९. भावनगर प्राकृत-संस्कृत अभिलेख, पृ. १८६, २०८, ९, १०.

२०. भावनगर, प्राकृत-संस्कृत अभिलेख, पृ, १८६ वि. सं. ८५० का भद्रकाली मन्दिरलेख ।

२१. भावनगर प्राकृत-संस्कृत अभिलेख भीम द्वितीय की वैरावल प्रशस्ति पृ. २०८, ९, १०.
२२. इण्डि. एन्टीक्वेरी वा. १८ पृ. ११०-११ डा. जे. एच. फ्लीट।
२३. भावनगर संस्कृत प्राकृत अभिलेख, पृ. १८६, २०८, ०९, १०.
२४. भावनगर संस्कृत प्राकृत अभिलेख, पृ. १८६, २०८, ९, १०.
२५. इपी. इ. वा. द्वितीय पृ. ४३७ बुहलर एण्ड विजयशंकर ओझा, देवपट्टन प्रशस्ति सं. १२७३.
२६. इपी. इ. वा. १० पृ. ७६ प्रो. स्टेन कोनोव.
२७. गुजरात ना पाशुपताचार्यो - शास्त्री हरिशंङ्कर प्रभाशङ्कर, गुजराती सभा महोत्सव ग्रन्थ १९४०.
२८. इण्डियन एन्टीक्वेरी वा. ११ पृ. ९८-१०८.
२९. भावनगर संस्कृत प्राकृत अभिलेख, पृ० १८६, २०८, ०९, १०
एपी. इ. वा. द्वितीय पृ. ४३७ डा. जी. बुहलर एण्ड विजयशंकर ओझा.
३०. एपी. वा. प्रथम पृ. ६१-६६ डा. कीलहार्न।
अणहिलपाटक वसतिः प्रागासीत् तापसमहाकुलजः।
धर्म शिवः शिवमूर्तिः कीर्ति-मति क्षान्ति-धृति धाम ॥
३१. तत्रैव, इपी. इ. वा. प्रथम।
३२. इण्डियन एन्टीक्वेरी १५ पृ. ३०६ भागलपुर लेख।
बंगाल के राजा नारायणमाल के शिवमन्दिर के पाशुपत साधुओं के (पाशुपताचार्य) निमित्त औषधिदान का उल्लेख हुआ है। - पाशुपताचार्य परिषदश्च शयना नवलान प्रत्यय भैषजं परिष्कारार्थं.
३३. भारती, पृ. २४९-५० नं. १२-१.
अर्ली स्कल्पचर आफ बिहार —चितरंजन प्रसाद सिन्हा (उत्तरगुप्त कालीन पद्मासनस्थ, व्याख्यानमुद्रा में दण्डदारी हैं; भारती पृ. १४४ मुण्डेश्वरी-रोहतक में भषुआ से द. प.. के मन्दिर में शिवलिंङ्ग मिला है। मन्दिर की प्रधानदेवी मुण्डेश्वरी हैं जो सातवीं
शदी के लगभग स्थापित हुआ। यह स्थान शाक्तों से प्रभावित है।.
३४. जे. बी. आर. एस. XLII पृ. ७-८, १०.
चित्र लकुलीश की मूर्ति का सिर व आंखे बुद्ध की भाँति हैं। काल छठीं शदी
बेनीसागर-बिहार का द. पू. भाग सिंह भूमि जिला उड़ीसा व बंगाल की सीमा पर है।
३५. जे. बी. आर. एस. XLII पृ. ७-८, १० चित्र ४.
३६. एपी. इ. पृ. १९ पृ. ७७.
कल्चुरीलेख - अहणदेवी की भेड़ाघाट प्रशस्ति में शिवमन्दिर की स्थापना लाटदेश के पाशुपताचार्यो द्वारा करने का उल्लेख है -
लाटान्वय पाशुपततपस्वी-स्थानस्य रक्षा विधियस्य तावद्यावन्मिभीते भवनानि शम्भुः।

श्री भोजनगरे श्रीसोमेश्वरदेव निवासी
परम पाशुपताचार्य भट्टारक श्री भावा वाल्मिकः ।

३७. ए. इ. २ पृ. १३३ श्लोक ३५ हर्ष शिलालेख
(चाहमान नरेश विग्रहराज (११वीं शदी) के अभिलेख के अनु. शैव साधु
अलात का शिष्य पाशुपत शिव का परमपुजारी था ।
"आसीन्नेष्टि रूपो यो दीप्त पाशुपतव्रतः ।
तीव्र वेग तपो जात पुण्या पुण्यभलक्षयः ॥"

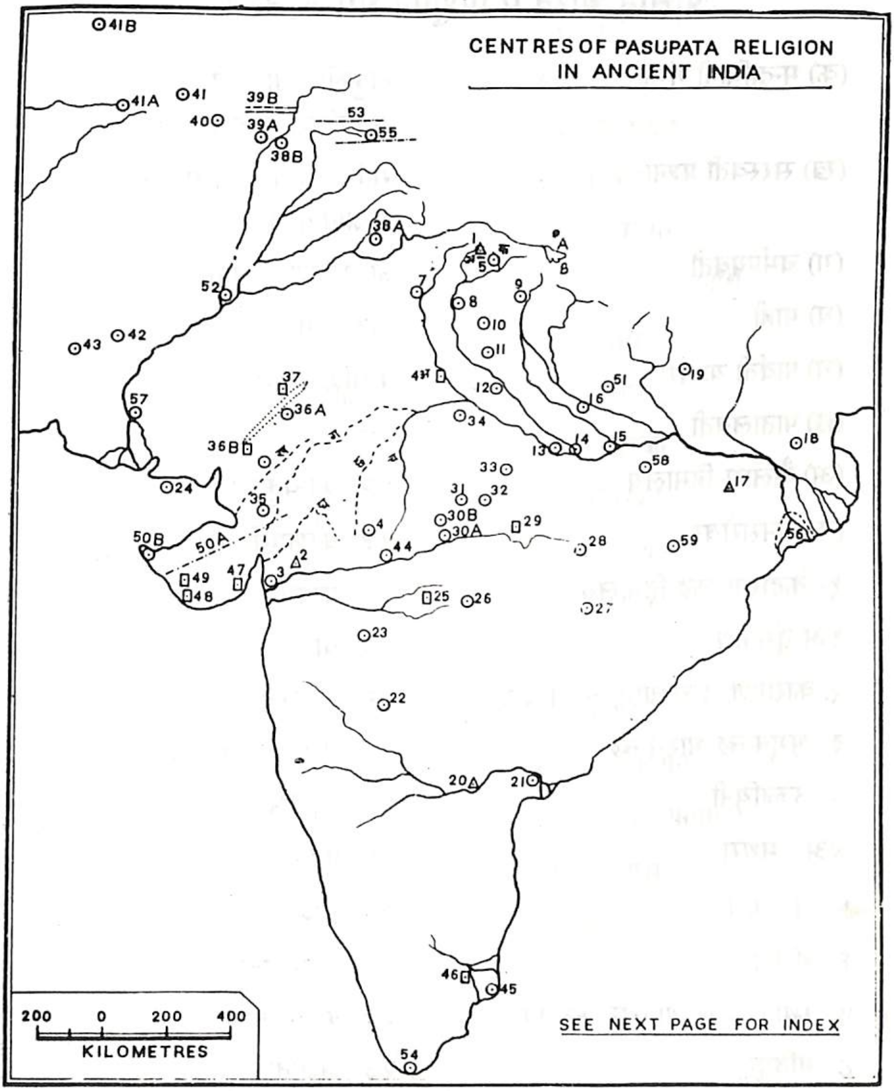
CENTRES OF PASUPATA RELIGION
IN ANCIENT INDIA
SEE NEXT PAGE FOR INDEX
200 0 200 400
KILOMETRES

प्राचीन भारत में पाशुपत धर्म के केन्द्र

(क) मन्दाकिनी गंगा	लकुलीश पाशुपतों के सर्वप्रसिद्ध केन्द्र
(ख) सरस्वती प्रश्ना	साहित्य एवं अन्य साधनों से ज्ञात केन्द्र
(ग) चर्मण्यवती	अभिलेखों से ज्ञात केन्द्र
(घ) माही	नदियां नदियां
(च) पार्वती या परा	पौराणिक नदियां
(छ) पातालवती	
(अ) कैलास-हिमालय	१२- कान्यकुब्ज
(ब) मानसरोवर	१३- कौशाम्बी
१- केदारनाथरुद्र हिमालय	१४- प्रयाग
१अ-तुंगनाथ	१५- वाराणसी
२. कारोहण, उल्काग्राम, अवक्खल, बड़ौदा	१६- अयोध्या
३- भृगुकच्छ-भारुकच्छ	१७- वैद्यनाथ-चिताभूमि
४- उज्जयिनी	१८- कोटीश्वर
४अ - मथुरा	१९- पट्टन
५- बद्रीनाथ	२०- श्रीशैल
६- गंगाद्वार	२१- अमरावती
७- स्थाणुवीश्वर, थानेश्वर, कुरुक्षेत्र	२२- कल्याणपुरी
८- मतिपुर	२३- अजन्ता
९- गोविषाण	२४- कोटेसर (कच्छ)
१०-कपित्थ	२५- अचलपुर
११-अहिक्षत्र	२६- विदर्भ

२७- अमरकण्टक
२८- भृगुतीर्थ
२९- ओंकारेश्वर (त्रिपुरी)
३०अ-अमरेश्वर
३०ब- माहिष्मती
३१ - विदिशा
३२-खजुराहो
३३-कालन्जर महेश्वरपुर
३४-महेश्वपुर
३५- अनन्तरपुरस वल्लभी, अनिनल्हवाड़
३६-अ- पुष्कर
३६-ब- उदयपुर
३७- आबू-पर्वत
३८अ- जालन्धर
३८ ब- तक्षशिला
३९अ - पेशावर
३९ ब - गान्धार
४०- नग्रहार
४१-कपिशा
४१- अ- बभियान
४१ ब- बल्ख
४२- अबन्द
४३- पीतशिला
४४- इन्दौर
४५- नेगापट्टन
४६-तन्जौर
४७- भावनगर
४८- प्रभास सोमनाथ
४९- वेरावल
५०स- सौराष्ट्र
५०ब- द्वारका
५१- गोरखपुर
५२- मूलस्थानपुर
५३- कश्मीर
५४- कन्याकुमारी
५५- श्रीनगर
५६- २४ परगना
५७ - पाटल (पाताल)
५८- रोहतास
५९- श्रीपुर

द्वितीय खण्ड

पाशुपत दर्शन का विकास एवं उनकी साधनाएँ

१.

शतरुद्रीय में रुद्र-शिव

परम-सत्ता

शतरुद्रीय का रुद्र शिव शुद्ध स्वरूप और ऐश्वर्य सम्पन्न परमसत्ता है।[१] सम्पूर्ण चराचर जगत में वह व्याप्त है।[२] इस प्रकार ब्रह्म के रूप में वह सर्वव्यापक है।[३] वह जाति, विद्या, ऐश्वर्य से सबमें उत्कृष्ट है।[४] वह ब्रह्म अथवा परमेश्वर सम्पूर्ण भूतों का अधिपति[५] (भगवान्) पशुपति है।[६] उसे महद् रूप कहा गया है।[७] उसे नित्य, शाश्वत, अजन्मा तथा सबमें उत्कृष्ट कहा गया है।[८] किन्तु परमसत्ता के रूप में वह संसार सुखदाता, मुक्तिरूप, कल्याण रूप, परम पवित्र निष्पाप और मोक्षदाता है।[९]

इस प्रकार उसका निर्गुण और निराकार स्वरूप भी प्राप्त होता है। निराकार, निरतिशय और सर्वबीज होते हुये भी वह कल्याण और शिवरूप है, भक्तों को निष्पाप करने वाला है।[१०] उस ब्रह्म (पशुपति रुद्र) को जीवनन्मुक्त रूप, उत्कृष्ट तत्वज्ञान से भवसागर पार कराने वाला,[११] समस्त शरीरों में अन्तर्यामी[१२] और परमशुद्ध कहा गया है।[१३]

वह परमसत्ता अपने उच्चतम अंश में परमपवित्र और शुद्ध है।[१४] सम्पूर्ण जगत के आभ्यन्तर स्थित अन्तश्चेतना हैं।

विश्वात्म स्वरूप

शतरुद्रीय में ही परमसत्ता अथवा परम ऐश्वर्य सम्पन्न रुद्र शिव परम पुरुष के रूप में वर्णित है और इस प्रकार उसका विश्वात्म स्वरूप उभरता दीख पड़ता है। उसे विरूप, विश्वरूप[१५] और सर्वात्मा कहा गया है।[१६] जो सहस्रनेत्र है[१७], समस्त भूमण्डल का विस्तारक है।[१८] समस्त हृदयों में उसे जीव रूप से स्थित कहा गया है।[१९] कहा गया है कि सहस्रों रुद्र रूप महान रुद्रों में एक ही रुद्र व्याप्त है।[२०] संसार रूपी समुद्र के जीवों के हृदय में स्थित है।[२१] वह द्युलोक में है[२२] पाताल में शर्व नामक रुद्र है।[२३] सागर, नदियों, पर्वतों, द्वीपों, वनों और पृथ्वी के सम्पूर्ण भू-क्षेत्र पर उसके सर्वातिशायी

प्रभुत्व को स्वीकारा गया है।[२४] सम्पूर्ण विश्व तथा उसके प्रत्येक तत्व को उस पशुपति रुद्र का ही स्वरूप कहा गया है।[२५] वह देवताओं के हृदय में भी स्थित है।[२६] वायु, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, समुद्र, द्युलोक, पाताल आदि में वे अपने विभिन्न रूपों में अवस्थित हैं।[२७] वह शब्द रूप ब्रह्म भी है।[२८] वह प्रकृति की प्रत्येक घटनाओं में स्थित है।[२९]

वह एक ही सम्पूर्ण जगत में प्रतिभासिक कहा गया। संसार के प्रत्येक घटना और रूपों में उसकी छवि वर्तमान देखी गयी। उसके प्रत्येक स्वरूप के प्रति पूर्ण समर्पण के भाव शतरुद्रीय में व्यक्त किये गये हैं।[३०]

साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि शतरुद्रीय का विश्वरूप रुद्र जो परमसत्ता है, उसके स्वरूप की ऐसी पृष्ठभूमि पुरुषसूक्त के ब्रह्माण्डमय विराट पुरुष में प्राप्त होती है।[३१] यहां जगत शिवरूप है, सबमें रुद्र वर्तमान है।[३२] तैत्तिरीय आरण्यक में ब्रह्म की विश्वरूप धारणा का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[३३] श्रीमद्भगवद्गीता में विश्वरूप की धारणा को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि उस विराट पुरुष में समस्त चराचर जगत स्थित है।[३४]

सगुण स्वरूप

शतरुद्रीय में रुद्रशिव को परमपुरुष के रूप में देखा गया है। वह नित्य, शाश्वत, अजन्मा, सबमें उत्कृष्ट, सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम, सबका पूर्वज, वृद्ध युवा, वामन और उग्ररूप है तथा विश्व के सृजन, पालन और संहार का निमित्त है।[३५] वह समग्र प्राणिमात्र का पालक[३६] सबका पूज्य[३७] और कल्याण रूप है। सम्पूर्ण दुःखों को दूर करने वाला और पापनाशक है।[३८] वे पशुपति रुद्र संसार के तारणकर्ता और मृत्यु का अभाव करने वाले हैं।[३९] संसार सुखदाता, मुक्तिरूप, कल्याणरूप, परमपवित्र, निष्पाप और मोक्षदाता हैं।[४०] वे हृदय में जीवरूप से स्थित हैं।[४१] परम तपस्वी, शुद्ध[४२] और भक्तों को निष्पाप करने वाले हैं।[४३]

इस प्रकार यहाँ दार्शनिक चिन्तन में भक्ति का आगमिक स्वरूप स्थिर होता दीख पड़ता है। यहाँ रुद्र को समस्त भूमण्डल का विस्तारक कहा गया है।[४४] वह हिरण्यगर्भ रूप सम्पूर्ण पशु-पक्षी आदि समग्र प्राणिमात्र की उत्पत्ति का निमित्त है।[४५] जगत का पति है।[४६] वह सबमें मुख्य, सर्वश्रेष्ठ[४७] और संसार का अधिपति है।[४८] उसे सम्पूर्ण विश्व का आधार कहा गया है।[४९]

वह सगुण ब्रह्म परमेश्वर, सम्पूर्ण भूतों का अधिपति[५०], भगवान् पशुपति हैं।[५१] इस प्रकार वह जगत का निमित्त और उपादान दोनों प्रतीत होता है क्योंकि वह विश्वरूप है, त्रिविध कार्यकारी है, एक ही रुद्र अनेक महान रुद्रों में व्याप्त है।[५२] उसे संहार रूप भी कहा गया है।[५३] उनकी संहारक एवं क्रोधपूर्ण, उग्ररूप की मुद्रा जो विनाश और

प्रलय की निमित्त हो जाती है, भक्त उस रूप के शान्ति की प्रार्थना करता है और शत्रुओं के लिये विनाशकारी समझता है।[५४] इसीलिये उसके उग्र और भीम रूप की उपासना और नमन के भाव व्यक्त किये गये हैं।[५५]

शिव व घोर रूप

इस प्रकार उस सगुण रुद्र-शिव-पशुपति-शङ्कर परमेश्वर के दो स्वरूप प्राप्त होते हैं - शिव और घोर। इन्हें रुद्र की दो तनुएं कहा गया है।[५६] शिव-शान्त-सौम्य और मगंलमय मुद्रा हैं जिसकी उपासना से उसकी कृपा प्राप्त होने की आकांक्षा व्यक्त की गयी है।[५७]

शिव और शक्ति

उस परम ऐश्वर्य सम्पन्न रुद्र-शिव को भगवान तथा ईशान कहा गया है अर्थात् अपनी शक्तियों से वह सबका ईशन करता है।[५८] वह समस्त भूमण्डल का विस्तार करता है।[५९]

आगमिक स्वरूप

वस्तुतः शतरुद्रीय का दर्शन शिवोपासना के दार्शनिक चिन्तन का प्रथम सोपान एवं भक्ति के आगमिक स्वरूप की आधार शिला था। और अनेकानेक शैव पूजक परम्पराओं का महान संगम भी था जो तद्रूपों में अभिव्यक्त है। सबने उसे अपनी विचारसीमा तक परमलक्ष्य के रूप में देखा था जो परमसत्ता होते हुए भी विश्व के पृथक केवल मात्र पारलौकिक ही नहीं था वरन् विश्वरूप था। उस सर्वशक्तिमान परम पुरुष और अन्तश्चेतना के एकत्व, बहुत्व, उत्कृष्टता और कारणता की अनूभूति शतरुद्रीय में की गयी है। उसके प्रति श्रद्धा, समर्पण, भक्ति, सम्पूर्ण क्रिया-कलापों में प्रेरयिता की अनुभूति, प्रत्येक कर्मों और विश्व में उसकी उपस्थिति मोक्ष तक परम लक्ष्य के रूप में उसकी कृपा एक नवीन आगमिक धारा का उन्मेष करती है जिसका स्वरूप तैत्तिरीय आरण्यक में स्थिर होता है।

क्रमशः रुद्र-शिव के प्रति भक्तिपरक इस विचार-संग्रह के प्रति श्रद्धा इतनी बढ़ गयी कि इसकी पवित्रता और महत्ता का यशोगान परम्परा में पूजित होने लगा।[६०] मोक्ष, अमृतत्व, कल्याण, असीम सुख और सम्पूर्ण पापों के क्षय हेतु इसका स्तवन किया जाने लगा।[६१] शतरुद्रीय का 'नमः शिवाय शिवतराय' मन्त्र पञ्चाक्षरी महामन्त्र के नाम से परम्परा में अर्चना और अभ्यर्थना का विषय बन गया।[६२] निःसन्देह शतरुद्रीय शैवागम का प्रथम पवित्र ग्रन्थ और स्रोत के रूप में महत्वपूर्ण है।अब रुद्र के नाम विशिष्ट हो गये जो आगे तैत्तिरीय आरण्यक में महत्वपूर्ण हुए और आगमों में प्रमुख हुए।

सन्दर्भ

१. शतरुद्रीय, ५.२
२. शतरुद्रीय, ३ १
३. शतरुद्रीय, १६-२.५
४. शतरुद्रीय, २६
५. शतरुद्रीय, ५९.
६. शतरुद्रीय, ४०
७. शतरुद्रीय, २६
८. शतरुद्रीय, ३०,३२,६५,६६.
९. शतरुद्रीय, ४१.
१०. शतरुद्रीय ४१.
११. शतरुद्रीय, ४२.
१२. शतरुद्रीय, ४३.
१३. शतरुद्रीय, ४९,५१,५९.
१४. शतरुद्रीय, ४१, ४२,५२.
१५. शतरुद्रीय, २५ विरुभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च नमो नमः।
१६. शतरुद्रीय, २०.
१७. शतरुद्रीय, १३ पुरुष सूक्त १०.९०.१ में यही धारणा विवेचित है।
१८. शतरुद्रीय, १९.
१९. शतरुद्रीय, ४४.
२० शतरुद्रीय, ५४.
२१. शतरुद्रीय, ५५.
२२. शतरुद्रीय, ५६.
२३. शतरुद्रीय, ५७.
२४. शतरुद्रीय, २,३,४,१०,२२,३१,३७,४२,४५,६१,६६.
२५. शतरुद्रीय, २०, २३, २५,३१,४३,४४,४५,५५.
२६. शतरुद्रीय, ४६
२७. शतरुद्रीय, ३९,४५,४६,४२,५६,५७.
२८. शतरुद्रीय, ३९.
२९. शतरुद्रीय, ३४ द्रष्टब्य न्याय कुसुमान्जलि ५/१६.
३०. शतरुद्रीय, ४१, ३१,३९
३१. द्रष्टव्य पुरुष सूक्त (ऋग्वेद) १०/९०.
३२. शत. २५.

३३. तै.आ. १०/१२ "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ।
उर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः ॥"
३४. श्रीमद्भागवद्गीता अ. ११/६७.
३५. शत. ३२,३०,६५,६६.
३६. शत. १७,१८.
३७. शत. २६.
३८. शत. २८.
३९. शत. ४०.
४०. शत. ४१.
४१. शत. ४४.
४२. शत. ४९, ५१, ५.९.
४३. शत. ४१.
४४. शत. १९.
४५. शत. ३२.
४६. शत. ५३.
४७. शत. ३,३१
४८. शत. १८.
४९. शत. १९
५०. शत. ५९.
५१. शत. ४०.
५२. शत. पूर्व विवेचित ।
५३. शत. ५३,६५,३२,३०,६६.
५४. शत. १,४६,५२,५३,६५.
५५. शत. ४०.
५६. शत. २,४०,४९.
५७. शत. २,१३,१५,१६,२५.
५८. शत. ५३.
५९. शत. १९.
६०. अधोद्रष्टव्य ।
६१. जाबाल्युपनिषद् -"अथ हैनं ब्रह्मचारिण उचुः किंजप्यैनैवामृतत्वमश्नुत इति ब्रूहिति । स होवाच याज्ञवल्क्यः शतरुद्रियेण इति ।" कैवल्य उपनिषद् २५,२६; याज्ञग्यवल्क्य स्मृति ३/५/३०३-०४, महाभारत अनु. पर्व १३/१४५/४; वृहज्जाबालोपनिषद् ६.
६२. यजुर्वेद (पञ्चाक्षरी मन्त्र) ; शिवपुराण (वा.सं.) २/११/५३.

२.

अथर्ववेद का रुद्र-शिव विषयक दर्शन

अथर्ववेद के सूक्तों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रुद्र के भव, शर्व, उग्र, पशुपति आदि नाम परमेश्वर वाचक हैं। उन्हें ऐश्वर्ययुक्त परमसत्ता के रूप में देखा गया है जो समस्त जगत में प्रतिभासित हो रहा है।[१] यहाँ रुद्र एक सर्वातिशायी सत्ता के रूप में मुखर होता है। एक स्थल पर कहा गया है कि वह यष्टब्य रूप से अग्नि में वरुण रूप से जल में, सोमरूप से लताओं में प्रविष्ट है।[२] उसे विराट पुरुष की भांति चित्रित करते हुये कहा गया है कि हे रुद्र ! तुम उग्र हो, ये चारों दिशायें तुम्हारी हैं यह सम्पूर्ण पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सब दिशायें तुम्हारा शरीर रूप हैं।[३] यह तुम्हारा विशाल सम्पन्न कोश ही है जिसमें सब लोक स्थित है।[४] यहां विश्वरूप की अवधारणा भी स्पष्ट होती है जिसका उल्लेख हम शतरुद्रीय के अन्तर्गत कर आये हैं। रुद्र को सविता (अर्यमा) वरुण और महादेव (देवाधिदेव) कहा गया है।[५] उनके उत्पादक अर्थात् सृजनात्मक और संहारक स्वरूप का उल्लेख भव और शर्व रूप में प्राप्त होता है।[६] पुनः जीवों के स्वामी के रूप में भूतपति और पशुपति नाम से उनका नमन किया गया है।[७] उनसे सुख, सुरक्षा प्राप्त होने की कामना की गयी है।[८]

भव, शर्व, पशुपति, रुद्र आदि नामों से सम्बोधित करते हुये तद् तद् रूपों में उस परमसत्ता के प्रति स्वकल्याण हेतु प्रार्थनाएं उपलब्ध होती हैं।[९] ईशान के रूप में उनकी अन्तर्निहित शक्ति का भी संकेत एक स्थल पर प्राप्त होता है जहाँ यह कहा गया है कि चन्द्रमा सहित सभी नक्षत्र उन्हीं के वंशीभूत हैं।[१०] वह स्वर्ग और पृथ्वी के अधिपति हैं, अन्तरिक्ष को वही अपने तेज से युक्त करते हैं।[११] अन्यत्र उन्हें सर्वचेतन, मेधावी, सहस्त्रक्ष और अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी कहा गया है।[१२] इससे पूर्व ऋग्वेद में भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त है जहाँ उसे उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त अभीष्ट वर्षी, शक्तिशाली,[१३] सार्वभौमिक साम्राज्य तथा शक्ति के द्वारा मनुष्यों और देवों के कार्यों को जानने वाला कहा गया है।[१४] इन्हें ऐश्वर्य में सर्वश्रेष्ठ,[१५] ईशान और दिव्य शक्ति से युत्त[१६] भी कहा गया है।

सन्दर्भ

१. अथर्ववेद ११/२/२७.

२. अथर्ववेद ७/८७/१.

३ .अथर्ववेद ११/२/१०.

४. अथर्ववेद ११/२/११.

५. अथर्ववेद १३/४/४.

६. अथर्ववेद १०/१/२३.

७. अथर्ववेद ११/२/१.

८. अथर्ववेद ११/२/१, २, ऐ.ब्रा. ३/३४ रुद्र का भूतपति. पशुपति नाम; ६/५९/९ रुद्र को भूतनाथ कहा गया है ।

९. अथर्ववेद ११/६/९.

१०. अथर्ववेद १३/४/२८.

११. अथर्ववेद ११/२/२७

१२. अथर्ववेद ११/१०/५, ११/२/१६, १७.

१३. ऋग्वेद १/४३/१, १/११/११४/४.

१४. ऋग्वेद २/४६/२.

१५. ऋग्वेद २/३३/३.

१६. ऋग्वेद २/३३/९

३.

व्रात्य सूक्त का दर्शन

अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड के व्रात्यसूक्त में रुद्र का परमसत्ता के रूप में उल्लेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । शतरुद्रीय में 'नमों व्रातेभ्यों व्रातपतिभ्यश्च' कहकर रुद्र को सम्बोधित किया गया है । यद्यपि कि सायण ने अपने भाष्य में इस काण्ड को छोड़ दिया है तथापि उन्होंने केवल इतना ही विचार व्यक्त किया है कि उपनयनादि से हीन मनुष्य को व्रात्य कहते हैं किन्तु यदि कोई ब्रात्य ऐसा हो जो विद्वान और तपस्वी हो तो वह सर्वपूज्य और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा ।

शतरुद्रीय के उल्लेख से विदित होता है कि व्रात्यों के उपास्य रुद्र तथा व्रात्य रुद्र का ही एक अपर नाम था ।

अस्तु व्रात्य काण्ड में कहा गया है कि व्रात्य-गतिमान ही था, उसने प्रजापति को प्रेरित किया;[१] इसका आशय स्पष्ट है, पैप्लाद शाखा की संहिता में कहा गया है कि व्रात्य इस जगत के पहले था । नासदीय सूक्त में 'आनीदवात' कहा गया अर्थात् बिना हवा के सांस लेता था । इससे क्रियाशीलता का बोध होता है । यहाँ यह परमसत्ता व्रात्य रुद्र के लिये प्रयुक्त है, यह आगे स्पष्ट हो जायेगा । उसने प्रजापति को प्रेरित किया अर्थात् अपने आप को प्रजापति रूप में प्रकट किया । नासदीय सूक्त में कहा गया है कि उसके दीर्घ तप से एक हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ । अथर्ववेद के पिछले मन्त्रों और शतरुद्रीय में उसे संसार का रचयिता और विराट पुरुष कहा गया है ।

उस प्रजापति ने अपने में सोना देखा, उसको जन्म दिया[२] अर्थात् वह हिरण्यगर्भ रूप हुआ । अथर्ववेद में ही एक स्थल पर कहा गया है तू सुवर्णमय धातु का धनुष्य धारण करता है ।[३] ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा गया है प्रजापति ने सोचा - 'मैं एक हूँ - अनेक होऊं ।'[४] ऐसा सोचकर वह मन में ध्यान करने लगे । जो मन में था वह बृहत् हुआ । ऋग्वेद में उल्लेख है हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम हुआ, उत्पन्न होते ही वह प्राणियों का अद्धितीय स्वामी हो गया, उसने पृथ्वी और द्युलोक को धारण किया ।[५]

वह एक हुआ, वह ललामं हुआ, वह ज्येष्ठ हुआ, वह ब्रह्मा हुआ, वह तप हुआ, वह सत्य हुआ, उससे जन्म लिया ।[६] श्रुति में 'महतो महीयान्' एवं अन्यत्र उसे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।[७] आशय यह है कि हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा अर्थात् सगुण रूप में प्रकट हुआ । आगे स्पष्ट किया गया है कि वह बढ़ा अर्थात् विराट रूप हुआ ।[८] जैसा कि पुरुष सूक्त एवं शतरुद्रीय में विराट पुरुष की अवधारणा स्पष्ट है ।[९] वह सबसे बड़ा महत् रूप और देवाधिदेव महादेव हुआ ।[१०] यहाँ महादेव रुद्र के लिये ही प्रत्युक्त है ।

वह देवों का ईश हुआ, वह ईशान हुआ ।[११] ऋग्वेद में उसे ऐश्वर्य में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।[१२] ईशान अर्थात् अपनी असीम शक्ति से सबको नियन्त्रित एवं सब पर शासन करने वाला हुआ । शतरुद्रीय व अथर्ववेद में रुद्र को ईशान कहा गया है । कहा भी है 'ईशान सर्वाविद्यनां ईश्वरः सर्वभूतानाम्' ।

वह एक व्रात्य हुआ, उसने धन्वा उठायी, वही इन्द्रधनुष है ।[१३] शतरुद्रीय में जिस प्रकार एक रुद्र अनेक रूपों में विश्वरूप है उसी प्रकार व्रात्यों में एकव्रात्य रुद्र एकमात्र सर्वोपरि परमसत्ता है ऐसा बोध होता है । उसने धन्वा उठायी, यह ऋग्वेद के वागम्भृणी सूक्त से स्पष्ट होता है । वहां उल्लेख है कि ब्रह्मद्वेषी हिंसक को मारने के निमित्त मैं रुद्र के लिये धनुष तान देती हूं ।[१४] सायण यहाँ रुद्राय में षष्ठी अर्थ में चतुर्थ मानते हैं, इसलिये यहाँ रुद्र अर्थात् परमेश्वर की शक्ति की ओर संकेत है । इन्द्रधनुष उसकी रौद्री शक्ति है । भाव यह निर्गत हुआ कि सम्पूर्ण देवशक्तियाँ उसी के अंशस्वरूप हैं । शतरुद्रीय में धनुषधारी रुद्र की चर्चा है ।[१५]

उसका उदर नील और पीठ लाल है ।[१६] इस कथन से शक्ति का बोध होता है । श्रुति में उल्लेख है 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम् ।' नील और लाल शब्दों से इच्छा और क्रिया तथा तमोगुण और रजोगुण का बोध होता है । आगे कहा भी गया है कि वह नील से अप्रिय शत्रु को ढंक लेता है और लाल से द्वेष करने वाले को बेध डालता है ।[१७]

इस प्रकार प्रथम सूक्त में एक ब्रात्य रुद्र से, हिरण्यगर्भादि क्रम से जगत् के आविर्भाव का वर्णन हुआ है । ईशत्व, मोहन और शत्रुबोध के उल्लेख से उसमें अन्तर्निहित शक्ति का बोध होता है ।

वह उठा, वह प्राची दिशा की ओर चला ।[१८] वस्तुतः एक व्रात्य परमात्मा के लिये चलना, उठना आदि यहाँ लाक्षणिक है । सामवेदीय षड्विंश ब्राह्मण में उल्लेख है कि जो यज्ञ प्राची दिशा में किये जाते हैं वे देवलोक के लिये होते हैं[१९] यहाँ पूर्व की ओर चलने से तात्पर्य यह निकलता है कि उसको देवलोक व देववृन्द के सृष्टि की कामना हुई ।

उसके पीछे वृहत् रथन्तर और सब आदित्य और सब देवगण चले ।[२०] छन्दों में वृहती, श्री और यश रूपा है ।[२१] रथन्तर देवों का रथ है ।[२२] अर्थात् देवसृष्टि के उपरान्त

वृहद् और रथन्तर मन्त्र पीछे-पीछे चले अथवा देव सम्बन्धी मन्त्र उपस्थित हुये (वेद का वह भाग जिसका सम्बन्ध देवों और देवयज्ञों से है) आदित्यादि भी अपने कार्य में प्रवृत्त हुये । इस दार्शनिक अवधारणा की धार्मिक एवं आगमिक अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत करते हुये कहा गया है कि इस प्रकार व्रात्य की निन्दा करने वाला श्रुति और देवों के प्रति अपराधी है ।[२३] व्रात्यपूजक इन सबका प्रिय धाम होता है ।[२४] उस प्राची दिशा में श्रद्धा पुंश्चली[२५] अर्थात् पत्नी, मित्र अर्थात् सूर्य, मागध अर्थात् स्तुतिगान,[२६] सूर्य-चन्द्र अर्थात् हरित, प्रर्वत अर्थात् कुण्डल, कल्मलि अर्थात् तारावलि, परिष्कन्द अर्थात् पीछे चलने वाले भृत्य, पुरःसर अर्थात् आगे चलने वाले, मातरिश्वा अर्थात् प्राण, सोम रेष्मा अर्थात् आँधी कीर्ति और यश को, जो ऐसा जानता है उसे प्राप्त होता है । यहाँ व्रात्य की महिमा और पूज्य-नीयता दिखाई गयी है ।

वह उठा, वह दक्षिण दिशा की ओर चला ।[२७] दक्षिण दिशा का सम्बन्ध पशुओं से है, यम उसके अधिष्ठाता हैं । साक्ष्यों से विदित होता है कि देवों ने पहले पुरुष का पशु रूप से आलम्भन किया ।[२८] इस प्रकार दक्षिण दिशा में चलने का अर्थ है कि उसको पशुओं की और यज्ञों की सृष्टि की इच्छा हुई । आगे स्पष्ट किया गया है कि उसके पीछे यज्ञायज्ञिय, वामदेव, यज्ञ, यज्ञमान और पशु चले ।[२९]

वह उठा और प्रतीची दिशा की ओर चला ।[३०] प्रतीची दिशा वरुणाधिष्ठित है और उसका सम्बन्ध मनुष्यों से है । अर्थात् उसकी इच्छा हुई कि मैं आर्य-अनार्य रूपी मानव समाज और तत्सम्बन्धी श्रौत-स्मार्त धर्मों की सृष्टि करूँ । आगे स्पष्ट है कि उसके पीछे वैरूप और वैराज, अप और राजा वरुण चले ।[३१] यहाँ विरूप का अर्थ विश्वरूप है । विराट मन्त्र अन्न स्वरूप है । इसलिये मानव-सृष्टि के साथ अन्नसृष्टि स्वाभाविक था ।[३२]

सन्दर्भ

१. अथर्ववेद १५/१/१/१.
२. अथर्ववेद १५/१/१/२.
३. अथर्ववेद ११/२/१२.
४. ता.ब्रा. ६-६-१,२.
५. ऋ १०/१२१/१.
६. अथर्ववेद १५/१/१/३.
७. ऋग्वेद २/३३/३.
८. अथर्ववेद. १५/१/१/४.
९. पूर्वद्रष्टव्य-शतरुद्रीय का दर्शन ।
१०. अथर्व. १५/१/१/५.

११. अथर्व. १५/१/१/५.
१२. ऋ २/३३/३
१३. अथर्व. १५/१/१/६.
१४. ऋ १/१२५/६.
१५. शुक्ल यजु. १६/३; शतरुद्रीय।
१६. अथर्व. १५/१/१/७.
१७. अथर्व. १५/१/१/८.
१८. अथर्व. १५/१/२/१.
१९. षड्विशं ब्रा. २/२.
२०. अथर्व. १५/१/२/२.
२१. ऐ.ब्रा. १-५ .
२२. ताण्ड्य ब्रा. ७-७-१३.
२३. अथर्व. १५/१/२/३.
२४. अथर्व. १५/१/२/४.
२५. अथर्व. १५/१/२/५.
२६. अथर्व. १५/१/२/६, ७,८.
२७. अथर्व. १५/१/२/९
२८. शतपथ ब्रा. १/२/३.
२९. अथर्व. १५/१/२/१०.
३०. अथर्व. १५/१/२/१५.
३१. अथर्व. १५/१/२/१६..
३२. ऐ.ब्रा. १-.६.

४.

शतरुद्रीय एवं अथर्ववेद के व्रात्य और उनका इतिहास

शतरुद्रीय में पशुपति रुद्र को व्रात्य और व्रात्यपति कहा गया है ।[१] पुनः अथर्ववेद में एकव्रात्य परमात्मा के रूप में शतरुद्रीय में उल्लिखित समस्त नामों एवं उपाधियों के साथ रुद्र का स्मरण किया गया है ।[२] प्रश्न यह उठता है कि व्रात्य कौन थे ? व्रात्यपति और एक व्रात्य परमात्मा कौन हैं ?

ऋग्वेद में "व्र" शब्द का प्रयोग समूह अथवा झुंड के अर्थ में है ।[३] "व्रा" का आशय ग्राम या सम्बन्धियों के आंशिक समूह से है ।[४] व्रात शब्द भी समूहवाची ही है ।[५] यह मरुतगणों का विशेष नाम भी है ।[६] व्रातपति, समूह पति के अर्थ में है ।[७] इसी से व्रात्य बना है ।[८] इसका आशय अनार्य अथवा संस्कारच्युत आर्य (गिरगर) से लगाया गया है ।[९] सूत्रों में उनके अर्हन्तों व बौधों को ब्राह्मणों व क्षत्रियों के समान कहा गया है ।[१०] पुनः व्रात्य को यायावर साधु, परिव्राजक, ब्रह्मचारी या दैवी कहा गया है ।[११]

व्रत शब्द दूध का बोध करता है ।[१२] यह प्रतिज्ञा या धार्मिक कृत्य करने वाले के लिये भी प्रयुक्त है ।[१३] गीता में नियम अथवा व्यवस्था में श्रब्ध या एक देवता की सेवा अर्थ में व्रत का प्रयोग है ।[१४] व्रतिन् को भक्त, पुण्यात्मा या ब्रह्मचारी कहा गया है ।[१५] इस प्रकार व्रत या व्रात का अर्थ समुदाय,[१६] सामुदायिक कार्यों अथवा पवित्र धार्मिक अनुष्ठानों में बंधे हुये लोगों के समूह से होता है । पुनश्च व्रात या व्रतिन्, का अर्थ पवित्र संघ का सदस्य होता है ।[१७] व्रत के समानार्थक उर्वत शब्द अवेस्ता में प्राप्त होता है ।

पुनः ऋग्वेद में विशेषरूप से सामाजिक इकाई के सन्दर्भ में व्रात शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ बंधुत्व होता है ।[१८] ऐसा प्रतीत होता है कि व्रात समूह अर्थ में वंशजों से सम्बन्धित था । यह शब्द गण से भिन्न है ।[१९] वस्तुतः व्रात गणों के प्राथमिक समूह थे जो यायावर थे । ये व्रात्य प्रोटो वैदिक जन-जाति थे क्योंकि इस तथ्य के प्रमाण हैं कि वशिष्ठ ने विश्वामित्र को जिन जातियों से पराजित किया वे स्मृतियों में व्रात्य कहे गये

हैं।[२०] इनकी लोक संस्कृति का अभ्युत्थान अथर्ववेद के पञ्चदश काण्ड में हुआ है। वैदिक परम्परा के ब्राह्मण-संस्कृति के पोषकों ने इन्हें पहले स्वीकार नहीं किया। यह भी स्पष्ट होता है कि व्रात्यों में राजन्य सैनिक वर्ग का भी उदय हुआ जो आगे साक्ष्यों से स्पष्ट हो जायेगा। महाभारत में ब्राह्मण मूल के क्षत्रिय गणमुख्यों का भी उल्लेख है।[२१] जैसे सुदास और दीर्घतमा के पुत्र। इस प्रकार हमारा ध्यान उन जातियों की ओर जाता है जो उन असुरों के सम्पर्क में आये जो ऋचाओं में वर्णित ऋग्वैदिक ब्राह्मण संस्कृति के वाहक थे। इस प्रकार उनकी प्रारम्भिक संस्कृति के समवर्ती व्रात्यों की लोक-संस्कृति के भी साक्ष्य मिलते हैं। इस सन्दर्भ में कुछ भी स्पष्ट करने के पूर्व उन स्थानों पर दृष्टिपात करना होगा जो व्रात्यों के सम्बन्ध में प्राप्त हुये हैं।

परवर्ती साक्ष्यों में विदित होता है कि जिन्होंने द्विजाति कर्म त्यागकर हीन कर्मों का आश्रय लिया वे व्रात्य कहलाये।[२२] एक स्थान पर चार प्रकार के व्रात्यस्तोत्रों का उल्लेख हुआ है।[२३] जो व्रात्यों के शुद्धिकरण हेतु थे। वे निम्न हैं-

१. प्रथम याज्ञिक व्रात्य जो नृत्य, गीत, वाद्य, शस्त्र धारण करने वाले, अपनी इस विद्या का सम्पादन, शिक्षण व पठन करने वाले थे।[२४]

२. दूसरे निन्दित व नृशंस।[२५]

३. तीसरे कनिष्ठ जो जाति-बहिष्कृत थे इन्होंने आत्मशुद्धि हेतु यज्ञ किया।[२६]

४. चौथे ज्येष्ठ, जो प्रजनन इत्यादि कार्य से निवृत्त हो चुके थे।[२७]

इनके अतिरिक्त जो धनी, संस्कृत व दीक्षित थे गृहपति कहलाते थे। गृहपति ही उनका मुख्य था। जो एक विशेष प्रकार का तीरविहीन धनुष, पगड़ी उष्णीश, आभूषण, काला और कद्रवर्ण वस्त्र, चाबुक, अश्वतर या घोड़ों से युक्त रथ, कण्ठ में निष्क और बालों के रंग का शिरस्त्राण धारण करता था। इनकी गणना व्रात्यधन में की गयी है।[२८]

इन्हें मगध देशवासी, ब्रह्मबन्धु, व्रात्यस्तोम यज्ञ कर्ता, और व्रात्य जीवन का अनुसरण करने वाला कहा गया है। वे सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे, वेदाध्ययन, कृषि अथवा व्यापार नहीं करते थे।[२९] अदीक्षित वाक्य बोलते थे।[३०] मनु ने इन्हें सावित्रीपतित, परिभ्रष्ट कहा है तथा इनका उल्लेख झल्ल, मल्लों द्रविड़ों और लिच्छवियों के साथ किया है।[३१] कौटिल्य ने अचरित व्रत के कारण उन्हें व्रात्य और क्षत्रिय कहा है।[३२] व्रात्यों के इतिहास का ज्ञान कौशाम्बी के उत्खनन से भी हुआ है। जहां एक लेख में व्रात्यगण का उल्लेख है।[३३]

पौराणिक साक्ष्यों से विदित होता है कि व्रात्य संस्कृति का केन्द्र मगध था। वे सौराष्ट्र, अर्वुद, मरुभूमि, चन्द्रभागा और काश्मीर में फैले हुए थे। यह भी कहा गया है

कि अर्बुद के द्रिज पुरञ्जय के काल के बाद व्रात्य हो गये । इसी तरह आभीरव तथा काश्मीर मंडल के व्रात्यों का उल्लेख पतित व संस्कारच्युत के रूप में हुआ है ।[३४]

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि अथर्ववेद के पश्चात् कालीन व्रात्य पूर्ववर्ती व्रात्यों में अन्तर था । अपने व्यवसाय व विशेषताओं के कारण प्रारम्भिक मूल व्रात्य आंगिरसों से सादृश्य रखते थे ।[३५] जिन्होंने अग्नि व इन्द्र सम्प्रदाय तथा यज्ञों से स्वर्ग-पथ का अन्वेषण किया था ।[३६] जिसके परिणामस्वरूप व्रात्य यज्ञों के द्वारा वैदिक ब्राह्मण संस्कृति ग्रहण कर सकते थे जैसा कि व्रात्यस्तोमों से स्पष्ट है कि शुद्धिकरण द्वारा देवत्व प्राप्ति, अग्निपूजा और यज्ञ आंगिरसों से ही प्राप्त हुए ।[३७] यह भी स्पष्ट है कि व्रात्यों का एक साम्प्रदायिक सुसंगठित, सैन्यबल से परिपूर्ण समुदाय था, शुद्धिकरण की प्रक्रिया, सम्पूर्ण सामाजिक इकाई की प्रक्रिया थी । शतपथ ब्राह्मण से स्पष्ट है कि व्रात्य अपने वंशजों के साथ छोटे-छोटे वर्गों में यायावर जीवन व्यतीत करते थे ।[३८] यह भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण सम्प्रदाय का यज्ञ उनके मुख्य गृहपति की देखरेख में होता था । ताण्ड्य ब्राह्मण से स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था से उनके अलग होने का कारण कुछ दूसरा है ।

वे जनजाति की भांति थे और उनकी लोकसंस्कृति थी । यह भी स्पष्ट होता है कि वे कृषि-कर्म नहीं करते थे । वस्तुतः भारत के पूर्वी भागों में वे कृषि के विकास के बाद आये । इससे पहले वे सरस्वती तट की ओर थे ।[३९]

शतपथ ब्राह्मण से ही ज्ञात होता है कि व्रात्यों को जंगली अन्न गवेधुक का ज्ञान था । यह गवेधुक खाद्यान्न था । वस्तुतः रुद्र देवता को जब शतरुद्रीय के बाद प्रधानता प्राप्त हुई तो उसके लिये देवगणों ने उसे अन्न एकत्रित कर समर्पित किया ।[४०] व्रीहि (धान्य) का उत्पादन पूर्वोत्तर भारत में ही सर्वप्रथम हुआ जिसे आंगिरसों (वृहस्पति) ने प्राप्त किया ।[४१] वस्तुतः प्रोटो वैदिक जनजातियों ने जंगली व्रीहि से व्रीहि का उत्पादन सीखा था जो व्रात्यों व आंगिरसों के आपसी समवर्ती परम्परा का व आपसी सम्बन्ध का सूचक है । और भी स्पष्ट रूप से कहा जाय तो कहना होगा कि आंगिरसों के इस नवोन्वेषण के बाद अग्निरूप रुद्र को जब प्रधानता प्राप्त हुई तो लगभग उसी समय रुद्रोपासक व्रात्यों का भी अभ्युत्थान और पूर्वी भारत में सांस्कृतिक अन्तर्लयन हुआ । शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि पशुपति के अतिरिक्त सभी देवता यज्ञ के द्वारा स्वर्ग चले गये ।[४२] तब कुमार का जन्म तथा पशुपति, भव, शर्व, ईशान आदि नाम लोकप्रसिद्ध हुये ।[४३] यहां रुद्र पशुपति को गवेधुक अन्न समर्पित करने के उल्लेख हैं ।[४४] इन्द्र-पूजक ऋग्वैदिक लोगों ने इस पशुपति को स्वीकार किया जो सम्पूर्ण जगत का ही नहीं अपितु पशुओं का भी देवता था । उसकी पहचान प्रजापति के समक्ष हुई ।[४५] व्रात्य भी पशुपालक व अश्वपालक थे जो पूर्व और पश्चिम में रहते थे जहां पशुपति रुद्र भव और शर्व नाम से विख्यात थे ।[४६] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण व अथर्ववेद के काल में पश्चिमी पंजाब और

मगध में ब्राह्मण संस्कृति तथा व्रात्यों की लोकसंस्कृति का समागम हो चुका था।[४७] यह भी ज्ञात होता है कि देव पुरोहित आंगिरस बृहस्पति ने जिस जंगली ब्रिहि को ग्रहण किया[४८] वह पूर्वोत्तर भारत में होता था और उसे भृगु-आंगिरसों ने एकत्र किया था। पूर्वोत्तर भारत के ये पशुपालक जन खेती या वैदिक यज्ञ नहीं करते थे।[४९] वे गान्धार (कन्दहार) के[५०] व्रात्यों की भांति थे जो गंगाघाटी में अथर्ववैदिक काल में आये। उनका विशिष्ट धनुष जो तीर विहीन था जिसे "धनुष्क" या ज्याहरोद कहा गया है, उस धनुष की भांति था जो रुई साफ करने के काम आज भी आता है और उसमें टंकार होती है।[५१]

व्रात्य इन अथर्ववेदीय जनों से एक चरण पहले की स्थिति में थे जो यायावर व पशुपालक थे।[५२] चूंकि ब्राह्मण संस्कृति के अनुरूप इनका जीवन न था इसलिये इन्हें हेय दृष्टि से प्रारम्भ में देखा गया किन्तु बाद में अथर्ववैदिक काल में वे वैदिक संस्कृति व दर्शन के चरमोत्कर्ष पर पहुंचे इसका कारण रुद्रोपासना की प्रधानता थी जिसकी महान परम्परा शतरुद्रीय में स्थापित हो चुकी थी।[५३]

कतिपय विद्वानों के मतानुसार व्रात्य जाति-व्यवस्था से अलग कुछ लोगों के समूह थे, वे भारतीय समाज के असामाजिक तत्व थे अथवा वे विन्ध्य के अरण्यवासी, या प्राक् आर्य थे। वे शैवोपासक थे और बाद में ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत आये।[५४] इसी सन्दर्भ में अन्य मतानुसार एक व्रात्य अनार्य सम्प्रदाय का देवता है वह मौलिक शिव देवता है जिसके उपासक व्रात्यों ने आर्य संस्कृति में प्रवेश किया। कृष्ण जिस तरह गोपियों में थे उसी प्रकार व्रात्यों में एक व्रात्य था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के पुरा-ऐतिहासिक शिव से व्रात्यों का सम्बन्ध है। एक व्रात्य को विष्णुपुराण में उल्लिखित मागधों के पुरोहित से भी समीकृत किया गया है जो शकद्वीप से भारत आये। जिसका वर्णन ऋग्वेद में कीकट प्रदेश के रूप में है।[५५] इस सम्प्रदाय को द्रविड राष्ट्र का सामूहिक धन भी कहा गया है।[५६] किन्तु यह मत तो उचित प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के व्रात्य परिवर्तित व्रात्य हैं जो वैदिक ब्राह्मण धारा व्रात्यस्तोमों के द्वारा प्रविष्ट हुये यह दैवी व्रात्य रुद्र महादेव है[५७] जिसे नदियों, पर्वतों, जंगलों, आदि में सर्वत्र पूजित बताया गया है।[५८] यह भी तर्क सबल है कि व्रात्य आदिम आर्यों का सांस्कृतिक या धार्मिक नाम था जो साम्प्रदायिक संघ में बंधे थे।[५९]

सन्दर्भ

१. शतरुद्रीय वा.सं. १६/२५.
२. अथर्व. काण्ड १५.
३. ऋ. १/१२४/८, १/१२६/५, ४/१/१६, ८/२/६, १०/१२३/२.
४. वैदिक कोश। त्सिमर, पृ. ४९९.

५. ऋ, १/१६३/८, ३/२६/२, ५/५३/११, ९/१४/२, १०/३४/८, १२, १०/५७/५; अथर्व. २/९/२; तै.सं. १/८/१०/२; पञ्चविशं ब्रा. ६/९/२४, १७/१/५,१२

६. ऋ ५/५३/११

७. तै.सं. ४/५/४/१; का.सं. १७/१३; मै.सं. २/९/४.

८. वा.सं. ,३०/८; तै.ब्रा. ३/४/५/१; पं.व्रा. १७/१/४; का.श्रौ. १२/१; ला. श्रौ. ८/६; आप.श्रौ. ४-१४, २२/५.

९. राजाराम कृष्ण भागवत —ज. आफ दी बाम्बे व्रा. आफ दी रा.ए.सो. १९, ३५९-६०

१०. वैदिक कोष, पृ. ५००.

११. पं. ब्रा. १७/१.

१२. अथर्व. ६/१३२/२; तै.सं. ६/२/५/३.

१३. द्रष्टव्य छान्दोग्य उपनिषद; रघु, १३/६७, २/४ ; संस्कृत हिन्दी कोश-वामन आप्टे पृ. ९९३

१४. भगवद्गीता ९/२५, "यान्ति देवव्रता देवान्" । अवेस्ता में उर्वत शब्द में व्यवस्था अर्थ में है ।

१५. वामन आप्टे -संस्कृत हिन्दी कोष, पृ. ९९३

१६. वा.सं. १६/२५ उवट महीधर भाष्य ।

१७. यहीं से ।

१८. ऋ १/१६३/८, ०/१४/२; स्लोव (रूसी) भाषा में VRAT भातृत्व अर्थ में युक्त होता है किन्तु यहां विशेष महत्व नहीं रखता है ।

१९. ऋ १०/२७/१९.

२०. मनु. ९/२१-२३.

२१. शान्तिपर्व अ. ८४.

२२. कात्यायन श्रौतसूत्र, (कर्क भाष्य १२/४; लाट्या. ८/६.

२३. कात्यायन श्रौतसूत्र, कर्क भाष्य, १२/४/१.

२४. कात्यायन श्रौतसूत्र, कर्क भाष्य १२/४/३.

२५. कात्यायन श्रौतसूत्र, कर्क भाष्य १२/४/४.

२६. कात्यायन श्रौतसूत्र, कर्क भाष्य १२/४/५.

२७. कात्यायन श्रौतसूत्रम्, कर्क भाष्य १२/४/६,७, एवं ताण्ड्य ब्रा., १७/३/२.

२८. कर्क भाष्य सहितम् कात्यायन श्रौ.सू. १२/४/७-२७,२४, कर्काचार्य १/१/१४.

२९. का.श्रौ. सूत्रम् (कर्क भाष्य) १२/४/२४,२५.

३०. पं. ब्रा. , ताण्ड्य महा ब्रा. अ. १७/२ पृ. ४५५.

३१. मनु. १०/२०, २१,२२,२३,२३९.

३२. अचरित व्रतेभ्यो जाता व्रात्या इति अनलोमा । वी.डी.एस. १/८/१६/१६, कौ. वीके १/२/१२., १२/२, व्रात्या क्षत्रसुताशं शत्रुकोश मंत्रादिवेदिनः ।

३३. गोवर्द्धधन राय शर्मा, एक्सकेवेशन्स आफ कौशाम्बी १९६०, पृ. १३७-३८; कात्यायन १२/४ चत्वारो व्रात्यस्तोमा गुण यज्ञा........ ।, एल.एस.एस. ८/५/१ "व्रातीनानां यौधानां पूत्रानचूनानां त्रृत्विज्ञो वृणीतरुष्येनस्य'।

३४. विष्णु पु. ४/२४/१८, ९/२४/६९; भाग.पु. १२/१/३८, २/४/१८; ब्राह्माण्ड २/१६/६२, ४/४४/९४.

३५. दी एन्शिएण्ट इण्डियन कान्टेक्ट्स एण्ड माइग्रेशन्स पृ. २५ के.पी. चट्टोपा.

३६. शत.ब्रा., १/३१/१७, १/७१/२, ४/५०/५, १/२०/१, १/८३/४.

३७. शत. ब्रा. १/४/१० में सरस्वती तट पर प्रथम अग्नि प्रज्ज्वलित होने का उल्लेख है जहां व्रात्यों के निवास थे । श.ब्रा. १७/१/१७.

३८. शतब्रा. १७/१/८/१७.

३९. शतब्रा. १/४/१/१४,१५.

४०. शत. ब्रा. ९/१/१.

४१. शत.ब्रा. ५/३/३/५.

४२. शत. ब्रा. १/७/३/१ से ४.

४३. शत. ब्रा. १/७/२/१-१९.

४४. शत.ब्रा. ५/३/३/७.

४५. शतब्रा. २/६/२/३.

४६. पूर्व कथित एवं उपरोक्त, शत. १/७/३/१.

४७. अथर्व. काण्ड १५; शत. ब्रा. १/४/१/१४, १५.

४८. ऋ ७/१०/४, ४/२/१६.

४९. पूर्वोल्लिखित ।

५०. ऋ १/१२६/७.

५१. दी-एन्शिएन्ट इण्डियन कल्चर कान्टेक्ट्स एण्ड माइग्रेशन्स पृ. ८१, के.पी. चट्टोपाध्याय । पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि राना घुण्डई प्रथम (प्रारम्भिक) से सैन्धव संस्कृत के प्रसार के पूर्व जिन पशुपालक जनों का विस्तार भारत में हुआ उनका सम्बन्ध तीनहजार (३०००) ई. पू. के आसपास एशिया माइनर और अनौ की संस्कृति से था । यह भी ध्यातव्य है कि प्रारम्भिक पशुपालक व्रात्यों की पंचविंश ब्राह्मण में वर्णित विशेषताएं उनसे मिलती हैं जो निम्न हैं-

(१) पशु व अश्वपालन; (२) कृषि कर्म न करना, (३) रथ से विपथ गमन, (४) विशिष्ट धनुष, (५) ब्राह्मणों का अन्न भक्षण, (६) अदीक्षित वाक्य जो सम्भवतः प्राकृत था । इनके भारत आगमन का समय २५०० ई. पू. संभावित है । रेडियो कार्बन के आधार पर प्रस्तुत विन्ध्य-गांगेय क्षेत्रों से कृष्णलोहित संस्कृति और ब्रीहि का प्रयोग तथा अथर्वांगिरस और व्रात्यों का मगध से सम्बन्ध यह स्वीकारने के लिये बाध्य करते हैं कि तीसरी-दूसरी सहस्त्राब्दी ईसापूर्व में इस क्षेत्र में अथर्वांगिरस आर्यों का वर्चस्व स्थापित हो चुका था ।

५२. भारतीय संस्कृति पुरातात्विक आधार, पृ. ८०,८२,९६ प्रो. गोबर्द्धन राय शर्मा
५३. द्रष्टव्य शतरुद्रीय वा.सं. १६.
५४. कारपेन्टर ,(डब्ल्यू जे.के.एम.वा. २३,१५१, एवं ज.आफ. रा.ए.सो. १९१३)
५५. ऋ. ३.५३.१४ यहां कदाचित् अनार्य निवास था।
५६. व्रात्य सिस्टम आफ रिलीजन्स-ए.पी. कर्मरकर; सम आस्पेक्ट्स आफ एन्सिएण्ट इण्डियन कल्चर-भंडारकर स्टडीज इन ब्राह्मणाज - डा. ए.सी. बनर्जी।
५७. दी वोगाज्कोई इन्सक्रिप्सन्स एण्ड देअर वैल्यू फार वैदिक क्रोनोलाजी, के.चट्टोपा.
५८. ऋ. १०/६४/८.
५९. डेर व्रात्य १८६, ३०६, हावर

५.

एकव्रात्य सूक्त और व्रात्यों का धर्म-दर्शन

एक व्रात्य उच्चतम देवता या परमसत्ता था। जैमिनीय ब्राह्मण इस व्रात्य-परम्परा का मूल एवं मूल्यवान लेख है। दैवीय सत्ताओं का यह मौलिक सिद्धान्त है जो एक व्रात्य महादेव के रूप में प्रस्तुत है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि "तू व्रात्य होकर भी ऋषि हैं और इस विश्व का स्वामी है।" उसे जीवों का पति और मातरिश्वा का पिता कहा गया है।[१]

यद्यपि कि व्रात्यों की आचारहीनता की ओर संकेत किया गया है तथापि उन्हें देवप्रजा का उपासक, देवताओं का प्रिय तथा देव व्रात्यों को देवताओं का यज्ञ करते हुए बताया गया है।[२] अन्य व्रात्यधर्म व ब्राह्मण धर्म की तुलना की गई है[३] जो इन दो सांस्कृतिक धाराओं के अन्तर्लयन की सूचक है। व्रात्य को विश्वपुरुष भी कहा गया है।[४] यदि अनार्य भी माने तो इस तथ्य के साक्ष्य प्राप्त हैं कि अनार्य देवताओं की उत्पत्ति शिव से हुई है।[५] व्रात्यों के गुणधर्म जैसे विषपान[६] दण्डधारण, अदीक्षित वाक्य बोलना, वेदाध्ययन, खेती तथा व्यापार न करना,[७] व्रतिन् व योगी रहना,[८] शतरुद्रीय के रुद्र-शिव परम्परा की ओर संकेत करता है। यह मत भी ग्राह्य है कि पाशुपतों व कापालिकों में व्रात्य संस्कृति विस्तरित मिलती है।[९]

एकव्रात्य और पशुपति रुद्र

अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त का एक व्रात्य ऋग्वेद के[१०] "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" को चरितार्थ करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में व्रत, या व्रतिनों का उल्लेख है जो नियमबद्ध विशिष्ट साधनामार्ग की ओर संकेत करता है। जहां व्रात्यों में योग सम्प्रदाय के लक्षण भी मिलते हैं, वहीं एक व्रात्य वाद में शिव के रूप में विकसित दिखाई देता है।[११] ऋग्वेद में यद्यपि कि शिव को असुरों का देवता कहा गया[१२] तथापि निःसंदेह रुद्र शिव आर्यों का प्रमुख देवता हुआ।[१३] ऐसा लगता है कि शतरुद्रीय के रुद्र-शिव तत्कालीन समस्त उपासनाओं व मानव समाज में अन्तर्भूत प्रेरणाओं का मूलस्रोत था इसीलिये वह एक

होकर भी विश्व रूप था इसी धारणा का परमसत्ता के रूप में विकास एक व्रात्य सूक्त में हुआ है ।

व्रात्य रुद्र-शिव के उपासक थे । एक व्रात्य का व्यक्तित्व विश्वरूप पशुपति रुद्र से निर्मित है ।[१४] इसे शतरुद्रीय की विशाल रुद्र-शिव परम्परा का एक व्रात्य परमात्मा के रूप में नयी विश्वात्म व अध्यात्मिक दार्शनिक व्याख्या मानना होगा । क्योंकि अथर्ववेद के इस युग में ऋग्वैदिक ब्राह्मण संस्कृति में समस्त सांस्कृतिक धाराओं का अन्तर्लयन हो रहा था । इसीलिये नवीन दार्शनिक व्याख्या का प्रयास भी हुआ । जिसका विवेचन आगे किया जायेगा । संसार के पति पशुपति रुद्र व्रात्यों को अपने से विलग नहीं कर सकता था वे व्रात्यों के भी आराध्य बन चुके थे ।

एकव्रात्यसूक्त का एकव्रात्य और उसका दार्शनिक स्वरूप

अथर्ववेद के पञ्चदश काण्ड के एक व्रात्यसूक्त में एक व्रात्य का परमसत्ता के रूप में उल्लेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण है (सायण ने इस संदर्भ में लिखा है कि यदि कोई व्रात्य विद्वान और तपस्वी हो तो वह देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा) । अस्तु व्रात्यकाण्ड में कहा गया है कि 'व्रात्य गतिमान ही था, उसने प्रजापति को प्रेरित किया ।'[१५] दर्शन की भाषा में कहा जाय तो कहना होगा कि एकव्रात्य परमसत्ता की भांति इस जगत के पहले था । प्रजापति को प्रेरित करने से आशय है कि उसने अपने आप को सृष्टि के रचनाकार के रूप में प्रकट किया । पूर्व के प्रकरण में साक्ष्यों से स्पष्ट हो गया है कि एक-व्रात्य परमात्मा पशुपति रुद्र ही हैं जिसका स्मरण उसके विविध नामों व रूपों के साथ किया गया है ।[१६] सम्पूर्ण भुवनों, लोकों के अधिपति व सृष्टि के रचनाकार के रूप में अथर्ववेद व ऋग्वेद में उनका स्मरण किया गया है ।[१७] आगे कहा गया है कि उस प्रजापति ने अपने में हिरण्य देखा और उसको जन्म दिया ।[१८] 'एकोऽहं बहुष्यामि' का विचार यहां प्रकट है ।[१९] ऐसा प्रतीत होता है कि उनके हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट होने की कल्पना है । ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ से प्राणियों व पृथ्वी द्युलोक की उत्पत्ति का उल्लेख है ।[२०] एक अन्य स्थल पर भुवनपति रुद्र को हिरण्यमय अलंकार से शोभित व हिरण्यमय कहा गया है ।[२१] पुनः कहा गया है कि वह एक हुआ, वह ललाम हुआ, वह ज्येष्ठ हुआ, वह ब्रह्मा हुआ, वह तप हुआ, वह सत्य हुआ उससे जन्म लिया ।[२२] अर्थात् सर्वप्रथम उसकी अभिव्यक्ति हुई । उससे उत्पत्ति हुई । वह देवों में ईश हुआ, वह ईशान हुआ ।[२३] ईशान रुद्र का ही अपर नाम है ।[२४] ईशान अर्थात् वह रुद्र ऐश्वर्य में सर्वश्रेष्ठ है ।[२५] यह एक व्रात्य अर्थात् परमसत्ता हुआ उसने धन्वा उठायी वही इन्द्र धनुष है ।[२६] सायण यहां रुद्राय में षष्ठी अर्थ में चतुर्थी मानते हैं । अर्थात् उस परमात्मा पक्ष व्रात्य रुद्र की शक्ति की ओर संकेत है इन्द्रधनुष शक्ति है । इससे पूर्व वागम्भृणि सूक्त में रुद्र की शक्ति का विचार सांकेतित है ।[२७] शतरुद्रीय में भी धनुषधारी रुद्र की चर्चा है ।[२८]

आगे उसकी शक्ति व स्वरूप का वैशिष्ट्य प्रकट किया गया है कि "उसका उदर नील और पीठ लाल है ।[२९] वह नील से अप्रिय शत्रु को ढंक लेता है और लाल से द्वेष करने वाले को बेध डालता है ।[३०]

तत्पश्चात् एक व्रात्य परमेश्वर रुद्र द्वारा सृष्टि का आविर्भाव अथवा रचना का क्रम लाक्षणिक रूप से प्रकट किया गया है यथा—वह उठा, वह प्राची दिशा की ओर चला ।[३१] परवर्ती साक्ष्यों में प्राची दिशा का तात्पर्य देवलोक से लगाया गया है अर्थात् उसको देवलोक व देववृन्द के सृष्टि की कामना हुई ।[३२] उसके पीछे रथन्तर और सब आदित्य तथा देवगण चले ।[३३] छन्दों में वृहती को श्री और यशरूपा कहा गया है ।[३४] रथन्तर को देवों का रथ कहा गया है ।[३५] अर्थात् देवसृष्टि के उपरान्त देवसम्बन्धी मन्त्र उपस्थित हुए और आदित्यादि अपने कार्यों में प्रवृत्त हुए । यहां यह इस कारण से आगे यह स्पष्ट किया गया है कि व्रात्यनिन्दक श्रुति और देवों के प्रति अपराधी है ।[३६], व्रात्यपूजक इन सबका प्रियधाम होता है ।[३७] इससे प्रमाणित होता है कि एकव्रात्य की प्रतिष्ठा वैदिक परम्परा में पूर्णत: हो गयी ।

उस प्राची दिशा में श्रद्धा पुंश्चली अर्थात् पत्नी, मित्र अर्थात् सूर्य, मागध अर्थात् स्तुतिगान, सूर्यचन्द्र अर्थात् हरित, प्रवर्त्त अर्थात् कुण्डल, कल्मलि अर्थात् तारावलि, परिष्कन्द अर्थात् पीछे चलने वाले भृत्य, पुर:सर अर्थात् आगे चलने वाले, मातरिश्वा (प्राण), सोम, रेष्मा (आंधी) कीर्ति और यश को जो जानता है उस एक व्रात्य (की महिमा और पूज्यनीयता) को प्राप्त होता है ।[३८]

वह उठा, वह दक्षिण दिशा की ओर चला,[३९] उसके पीछे यज्ञयज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशु चले ।[४०] इससे स्पष्ट होता है कि उसने पशुओं व यज्ञों की सृष्टि की । वह उठा और प्रतीची दिशा की ओर चला ।[४१] उसके पीछे वैरूप (विश्वरूप, वैराज, आप और राज वरुण चले[४२] वरुणाधिष्ठित बतायी गयी अर्थात् मानव समाज व धर्मों की सृष्टि हुई । एक परवर्ती साक्ष्य से विदित होता है कि विराटमन्त्र अर्थात् उसने अन्नसृष्टि की ।[४३]

वह उठा वह उदीची दिशा की ओर चला ।[४४] श्येत, नौधस, सप्तर्षि और राजा लोग उसके पीछे चले ।[४५] उत्तर दिशा का सम्बन्ध पितृलोक[४६] से बताया जाता है अतएव सोम (ब्राह्मणों का राजा) पितृयज्ञों और पितृ सम्बन्धी मन्त्रों—श्वेत[४७] व नौधस[४८] के उदय की ओर संकेत है ऐसा प्रतीत होता है ।

एक व्रात्य की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन[४९] करते हुए कहा गया है कि वह संवत्सर भर या उसके ऊपर खड़ा रहा, देवगण उसके लिये आसन्दी जाये[५०] ग्रीष्म, वसन्त और शरद तथा वर्षा उसके दो-दो पाये थे । ऋग्वेद, यजुर्वेद उसके ताने-बाने बने । वेद बिछोना और ब्रह्म उपब्रह्मण हुआ ।[५१] साम, बैठने की जगह, ऊँकार या प्रणव टेकने के हत्थे

हुए।[५२] जिसके ऊपर व्रात्य बैठा अर्थात् उनकी सबने श्रेष्ठता स्वीकार की और वैदिक परम्परा में वह स्वीकृत हुआ, उसने वेदों के लिये कुछ व्यवस्थायें की। पूर्व दिशा में वसन्त के दोनों मासों को उसने गोप्ता और वृह् तथा रथन्तर को अनुष्ठाता बनाया। दक्षिण दिशा में ग्रीष्म के दोनों मासों को गोप्ता, यज्ञायज्ञीय तथा वामदेव्य को अनुष्ठाता बनाया।[५३] इसी प्रकार उसने दक्षिण पश्चिम ध्रुव व ऊर्ध्व दिशा में भी व्यवस्थायें की।[५४]

यहां स्पष्ट होता है कि रुद्र-परम्परा अनेकविध शर्व, ईशान, भव आदि परम्पराओं से एकव्रात्य में निमज्जित हुई। इस सूक्त के अग्रलिखित साक्ष्यों से विदित होता है कि पशुपति-रुद्र ही एकव्रात्य के रूप में व्रात्यों में प्रतिष्ठित हुआ। कहा गया है कि प्राची दिशा के अन्तर्देश से (देवों ने) इष्वास,[५५] भव को अनुष्ठाता बनाया।[५६] दक्षिण में इष्वास शर्व, पश्चिम पशुपति, उत्तर में उग्रदेव, ध्रुव (नीचे) में रुद्र, ऊर्ध्व में महादेव, सभी अन्तर्देशी में ईशान अनुष्ठाता[५७] हुये। ये सभी रूप पशुपति रुद्र के हैं और इन रूपों में वह आर्य जनों में पूजित था।[५८] प्रकृति की भी उत्पत्ति उसी से बतायी गयी है यथा वह ध्रुवा दिशा की ओर चला उसके पीछे भूमि, अग्नि, वनस्पतियां तथा लतायें चली।[५९] ऊर्ध्व दिशा की ओर ऋत, सत्य, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, उत्तमा दिशा की ओर तीनों वेद और ब्रह्म चले। उसके पीछे वृही (वाक्)[६०] इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी चले। परमा दिशा में आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और यज्ञमान चले अर्थात् श्रौत-स्मार्त कर्मों का विस्तार उसने किया। अनादिष्ट दिशा में उसके पीछे ऋतु, मास, लोक, अर्धमास, और दिन-रात चले।[६१] आगे के समस्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि उसने सर्वत्र अतिक्रमण किया। सभी देवियां, देवता, राज्य राजा उसके पीछे चले।[६२] वह शतरुद्रीय के रुद्र की भांति विराट पुरुष या एक होंकर भी विश्वरूप था। इसी विश्वरूप की धारणा का विकास हमें एकव्रात्य में दिखाई देता है जिसका स्थापना शतरुद्रीय में हुई है।

सन्दर्भ

१. प्रश्नोपनिषद् ३/११.
२. पञ्चविंश ब्रा. १७/१/१ सायण भाष्य.
३. जैमिनीय ब्रा. २/२२२.
४. अथर्व. १५/१८/१-५.
५. तै.सं. ४/५/४/१.
६. ऋ. १०/१३६/१ में रुद्र के विषपान का उल्लेख है।
७. बौधायन., १८/१/९.
८. पं. ब्रा. १७/४/१.
९. व्रात्याज इन एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ. ५५ राधाकृष्ण चौधरी।

१०. ऋ १/१६४/४६.
११. डी.आर भंडारकर कमोरेशन वा.,पृ. ३०१-०३.
१२. ऋ ५/४२/११.
१३. द्रष्टव्य-शतरुद्रीय।
१४. अथर्व. ११/२/१,३,७,१३,१४,१८,२१-२३, ११/६/९, १९/१८/.३
रुद्र, भव, शर्व, भूतपति, पशुपति, सहस्त्रादक्ष, भीम, के शिव व सर्वदिशाओं तथा अन्तरिक्ष में व्याप्त रुद्र भी चर्चा एक व्रात्य सूक्त (अथर्व. का. १५) में है।
१५. अथर्व. १५/१/१/१.
१६. वही।
१७. ऋ २/३३/९; अथर्व ७/८७/१, ११/२/१०.
१८. अथर्व. १५/१/१/२.
१९. ताण्ड्य ब्रा. ६/६/१,२.
२०. ऋ १०/१२१/१.
२१. ऋ २/३३/९; शत. ब्रा.सं. १६/६, १६/१७.
२२. अथर्व. १५/१/१/३, ४; ऋ २/३३/३ में उसे ऐश्वर्य में श्रेष्ठ कहा गया है।
२३. अथर्व. १५/१/१/१५.
२४. शत.ब्रा.सं. १६/५३; अथर्व. ११/२/२७.
२५. ऋ २/३३/३.
२६. अथर्व. १५/१/१/६.
२७. ऋ १/१२५/६.
२८. शुक्ल यजु. वा.सं. ;१६/३.
२९. अथर्व. १५/१/१/७.
३०. अथर्व. १५/१/१/८.
३१. अथर्व. १५/१/२/१.
३२. षड्विशं ब्रा. २/२.
३३. अथर्व. १५/१/२/२.
३४. ऐ.ब्रा. १/५ .
३५. ता.ब्रा. ७/७/१३.
३६. अथर्व. १५/१/२/३.
३७. अथर्व. १५/१/२/४.
३८. अथर्व. १५/१/२/५,६,७,८.
३९. अथर्व. १५/१/२/९.
४०. अथर्व. १५/१/२/१०; शत.ब्रा. १/२/३ में कहा गया है कि देवों ने पहले पुरुष का पशु रूप से आलभन किया था।
४१. अथर्व. १५/१/२/१५.

४२. अथर्व. १५/१/२/१६.

४३. ऐ.ब्रा. १/६.

४४. अथर्व. १५/१/२/२१.

४५. अथर्व. १५/१/२/२२.

४६. सप्तर्षि ब्रह्म का मानसपुत्र पितरों के पितर थे जिन्होंने कुबेराधिष्ठित उत्तर दिशा में पितृलोक बसाया था।

४७. ताण्ड्य ब्रा. ७/१०/१५ के अनु. श्येत सामगान से सन्तान वृद्धि होती है।

४८. नैधस सामगान से मनुष्य ब्रह्मवर्चस्वी होता है।

४९. अथर्व. १५/१/३.

५०. अथर्व. १५/१/४/५.

५१. अथर्व. १२/१/४/६,७.

५२. अथर्व. १५/१/४/८.

५३. अथर्व १५/१/४/१.

५४. अथर्व. १५/१/४/२.

५५. अथर्व. १५/१/४/३ से १८.

५६. धनुर्धर अर्थात् तीर फेंकने वाला। शक्तियुक्त भव-द्रष्टव्य शत.

५७. अथर्व. १५/१/५/१.

५८. अथर्व. १५/१/५/१ से १६ रुद्र के इन नामों की परम्परा शतरुद्रीय में प्राप्त है।

५९. अथर्व. १५/१/६/१, २,३.

६०. बृहदारण्यक उपनिषद् उत्तमा दिशा योगियों का मार्ग है। जहां परावाक् का उदय होता है।

६१. अथर्व १५/१/६/७ से ९, १०, ११, १२ से १८ तक

६२. अथर्व. १५/२,३,४,५,११.

६.

ब्राह्मणों और आरण्यकों की पशुपति-रुद्र-परम्परा

शतपथ ब्राह्मण में अग्नि, कुमार, पशुपति रुद्र

शतपथ ब्राह्मण में अग्नि कुमार के जन्म की कथा[१] जिसमें पशुपति-रुद्र को ही कुमार कहा गया है एक विशिष्ट परम्परा की ओर संकेत करती है जिसका मूल स्रोत हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर अग्नि को रुद्र कहा गया है।[२] सम्भवत: यह साम्य उन दोनों देवताओं के उग्र-रूप की एकता के कारण स्थापित किया गया[३] जैसा कि एक अन्य स्थल पर अग्नि को उग्र कहा गया जो रुद्र का एक अपर नाम है।[४] अन्यत्र अग्नि को रुद्र के साथ संगत होने की प्रार्थना भी की गयी है।[५] केशी अर्थात् रुद्र अग्नि को धारण करते हैं ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है।[६] रूद्र को भयंकर अग्नि द्योतक भी कहा गया है।[७] अथर्ववेद में रूद्र को यष्टव्य रूप से अग्नि में प्रविष्ट कहा गया है।[८] अन्यत्र उग्र नाम जो अग्नि के लिये प्रयुक्त हुआ है वह रूद्र के लिये प्रयुक्त और लोकप्रसिद्ध दिखाई देता है।[९] इस प्रकार अथर्ववेद में रुद्र व अग्नि को समीकृत करने का प्रयास दिखाई दृष्टिगत होता है।[१०] वस्तुत: यह प्रवृत्ति ऋग्वेद में ही प्रारम्भ हो गई थी।[११] और शतरुद्रीय की रचना के पूर्व इन दोनों देवताओं का सम्मिश्रण हो चुका था।[१२] शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि "चैत्य का उपधान समाप्त हो जाने पर उसमें संस्थापित अग्नि दीप्तिमान हो उठती है वहां उस भयङ्कर ज्वाला को रुद्र रूप में धारण किया गया है" जिस देवता (रुद्र) की शान्ति हेतु अन्न एकत्र कर शान्त किया गया।[१३] इस कारण ही उसका नाम शान्तरुद्रिय या शतरुद्रीय पड़ा।[१४] अग्नि भी रुद्र का शान्त तम नाम कहा गया है।[१५] यहां पशुपति रुद्र अपने अनेक रूपों के साथ प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं जिसे प्रजापति ने स्वीकार किया जो शतरुद्रीय व अथर्ववेद के समय तक उन-उन रुपों में विख्यात हो चुके थे।[१६] भाष्यकार ने इस ओर इंगित किया है कि रुद्र जो अन्न की इच्छा से भयङ्कर हो उठे थे उस अग्नि को प्रसन्न करने के लिये यह हवि दी गयी है जिसने रुद्र रूप धारण कर लिया है।[१७] इस कथा के विस्तार से ऐसा प्रतीत होता है कि

रुद्र के अनेक रूप अशनि, कुमार, भव, शर्व उग्र, पशुपति-रुद्र, महादेव, ईशान आदि परम्परा में प्रसिद्ध थे ।[१८] कहा गया है कि प्राच्यलोग उन्हें शर्व और वाल्हीक (पश्चिमी जातियां) भव नाम से जानती थी जो पशुपति रुद्र थे ।[१९] इस कथा का विस्तार अन्यत्र ब्राह्मणों[२०] व पुराणों[२१] में प्राप्त होता है यद्यपि कि इसमें कोई गहन दार्शनिक पुट नहीं है ।

तैत्तिरीय आरण्यक व पशुपतिरुद्र की आगमिक धारा का दार्शनिक चिन्तन

शतरुद्रीय की विशाल धारा से निःसृत रुद्रोपासना की परम्परा जिस प्रकार अथर्ववेद, एक व्रात्य सूक्त एवं शतपथ ब्राह्मण में पल्लवित हुई उसी प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक में समवेत तत्वों को लिये अभिव्यक्त हुई । दर्शन की भाषा में इन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । इनमें आगमिक पुट के बीज स्वतन्त्र रूपेण मिलते हैं । प्रथम महादेव अथवा रुद्र के पञ्चमुख प्रतिपादक मन्त्र जिन्हें रुद्राध्यायी के अन्तर्गत रखा गया है ।[२२] उस परमेश्वर पशुपति रुद्र को यहां सद्योजात, भवोद्‌भव, वामदेव, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, रुद्र, सभी भूतों के दमनकर्ता, अघोर, घोर, घोरतर, सर्व और शर्व रूप, तत्पुरुष (ब्रह्म रूप विश्वात्म, विराट, परमेश्वर) महादेव, ईशान, सभी भूतों के ईश्वर, (हिरण्यगर्भादि का अधिपति ब्रह्मा कहा गया है ।[२३] शतरुद्रीय में उपर्युक्त स्वरूपों का वर्णन उपलब्ध होता है ।[२४]

पाशुपतागम की परम्परा में महेश्वर को अट्ठाइसवें काया-योगावतार भगवान लकुलीश ने पाशुपत सूत्रों के रूप में जिन मन्त्रों का उपदेश किया उनमें तैत्तिरीय आरण्यक के उपर्युक्त मन्त्र अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और उनका उल्लेख उनके दार्शनिक चिन्तन में हुआ है ।[२५] इनकी दार्शनिक व्याख्या पञ्चार्थ भाष्य में प्राप्त होती है ।[२६] जिससे विदित होता है कि लकुलीश पाशुपतों के आगमिक स्वरूप के बीच स्वतन्त्र रूपेण तैत्तिरीय आरण्यक में पड़ चुके थे । तैत्तिरीय आरण्यक के एक मन्त्र से इस कथन की पुष्टि होती है, जिसमें कहा गया है कि उस तत्पुरुषदेव की अर्थात् उसके कारणत्व, नानात्व और असंख्य रूपों को जानता हूं, उस महादेव की ज्ञान-क्रिया-शक्ति से संयुक्त हो, इसलिये हम उनका ध्यान करते हैं । वह रुद्र हमको ज्ञान-ध्यान के लिये प्रेरणा करे तथा अपने स्व में हमें लीन कर लें ।[२७]

आलोच्य मन्त्र में उस परमेश्वर को सद्योजात् अर्थात् निरतिशय, नित्य तथा जन्म-मृत्यु रहित कहा गया है ।[२८] यहां प्रतिज्ञा है कि सद्योजात की शरण में जाता हूं । पुनः उपासनार्थ नमन किया गया है ।[२९] इसे भवन-भावन करने वाला, महासृष्टि के त्रिविध कार्यकारी तथा उससे अनुग्रह की प्रार्थना है । जो जन्म-मृत्यु से उद्धार करने वाला है ।[३०] वह रुद्र सबमें श्रेष्ठ है, परतम और त्रिविध कार्यकारी है, समस्त दुःखों को दूर करने वाला है ।[३१] कल विकरण अर्थात् कार्य-करण नामक कलाओं (पांचभूतों और इन्द्रियों) का

संयोजन करने वाला है ।[३२] धर्मादि बलों (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य एवं अधर्म, अवैराग्य, अनैश्वर्य (का मन्थनकर्ता) अर्थात् बल प्रमथन करने वाला है ।[३३] वह समस्त प्राणियों के स्थान शरीर इन्द्रियादि विषय-वासनाओं का उपशम करने वाला, सकल और निष्कल अर्थात् मनोन्मन है ।[३४]

वह अतिशान्त, अनुग्रहकारी अघोर है । उसका अशिव अशान्त अथवा घोर रूप भी है जो अनुग्रह कारी है[३५] ये दोनों विशेषण पशुपति रुद्र के ही हैं ।[३६] वह सर्वत्र है अर्थात् सर्व (शर्व) है ।[३७] वह समष्टि का ईशन्कर्ता अर्थात् ईशान है, वह विद्या अर्थात् धर्मार्थ काम, कैवल्य आदि का भी नियामक है ।[३८] वह रुद्र समस्त चेतन प्राणियों और संसार के ईश्वर पशुपति हैं उसका ऐश्वर्य निरतिशय है ।[३९] वह हिरण्यगर्भादिकों का भी अधिपति ब्रह्मरूप है ।[४०] उस कल्याणमय अर्थात् शिव में हम परिपूर्ण अर्थात् परितृप्त हों । वह शिव मुझ पर अनुग्रह करें और हम सदाशिव रूप होंवें, यह प्रार्थना की गयी है ।[४१] पाशुपतों में इस स्थिति को दु:खान्त कहा गया है जो लक्ष्य है ।[४२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि पशुपति रुद्र की धारा अब अपने आगमिक स्वरूप में स्पष्ट हो रही थी जिनके मन्त्र आगे चलकर लकुलीश पाशुपतों में महत्वपूर्ण हुए । इसी आधार पर इस मन्त्रों के अर्थ स्पष्ट किये गये हैं ।[४३]

उस परमेश्वर पशुपति रुद्र को, जिनका उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में समग्र जगत के ईश्वर के रूप में तथा विश्वरूप में हुआ है उन्हें वेद के आदि स्वर में प्रणव रूप[४४] और वेदान्त में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित बताया गया है । यहां सर्वथा नव्य रूप में दार्शनिक व्याख्या को स्पष्ट करते हुए परमसत्ता महेश्वर जो कारण रूप हैं तथा जिनसे जगत का आविर्भाव हुआ है उनसे जगत के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो प्रकृति में लीन होते हुए भी उससे परे है वह महेश्वर विज्ञेय है ।[४५] अर्थात् वह परममहेश्वर ईश्वर होते हुए भी समस्त जगत् में अन्तर्भूत है । उस रुद्र को सम्पूर्ण प्राणिमात्र और विविध लोकों की रचना करने वाला कहा गया है ।[४६] हिरण्यरूप, हिरण्यपति, अम्बिका एवं उमापति रुद्र के प्रति नमन किया गया है ।[४७] यहां उमा अथवा अम्बिका, प्रकृति या महेश्वर की शक्तिरूपा है - ब्रह्मविद्यारूपा है । चिन्तन की यह दूसरी धारा आगमिक स्वरूप के साथ सर्वथा नूतन दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करती है ।

सन्दर्भ

१. शत.ब्रा. काण्ड, ९, ६/१/३/७-१९.
२. ऋ.,१/२७/१०; निरुक्त १०/७/८.
३. ऋ. ४/३/१, ६/१६/३९, २/१/६.

४. ६/१६/३, ४/३/१.
५. ऋ ७/१०/४.
६. ऋ १०/१३६/१.
७. ऋ १/२७/१०.
८. अथर्व. ७/८/१.
९. अथर्व. ११/२/१०.
१०. ऋ ७/८७/१.
११. ऋ २/१/६; अथर्व.; ७/८७/१, १३/४/४; शां.ब्रा. ६/१/१/५.
१२. मूल संस्कृत उद्धरण पृ. ३६३.
१३. शा.ब्रा. ९/१/१/१,२.
१४. शा.ब्रा. काण्ड ९/१/१/१,२.
१५. शा.ब्रा. काण्ड १/७/३/१-८.
१६. द्रष्टव्य-शतरुद्रीय अथर्ववेद, एवं एक व्रात्यसूक्त (पूर्व)।
१७. भाष्य-श.ब्रा. ९/१/१/१,२.
१८. श.ब्रा. १/७/३/१-१९.
१९. श.ब्रा. ६/१/७/३/८.
२०. शां.ब्रा. ६/१ से ९. भाष्यकार—'शर्वादिनाम—भेदेऽपि देवताल्का एवं।
२१. मार्क. पु. ५२/२.
२२. द्रष्टव्य रुद्राध्यायी अ. १०/५ से १०.
२३. द्रष्टव्य रुद्राध्यायी अ. १०/५ से १०; तै.आ. १०/४३, ४४, ४५, ४६, ४७, सायण भाष्य भाग २ आनन्दाश्रम मुद्रालय।
२४. शतरुद्रीय २,२६,२८,३०,३२,५९,५३; वा.सं. अ. १६ भाष्य.
२५. पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य अ. १ पृ. ३.
२६. पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य २/१-४-४४, २/२१-२६, ३/२१-२६, ४/२२, २३, ५/४२-४४.
२७. पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य ४/२२,२३.
२८. पाशुपत सूत्र, पन्चार्थ भाष्य १/४१,४२ एवं रुद्राध्यायी १०/५ सद्योऽजातं प्रपद्यामि।
२९. रुद्राध्यायी १०/५; तै.आ. १०/४३ जन्म-जन्मान्तर के बन्धन से मुक्तिकर्ता तत्वज्ञान एवं संसार के उद्धारकर्ता को प्रणाम है। "भवे भवे नाति भवे भजस्वमाम्। भवोद् भवाय नमः।"
३०. तै.आ. १०/४३ सद्योऽजातं प्रपद्यामि सद्योऽजाताय वै नमः।
३१. तै.आ. १०/४४; पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य २/१,२,३,४, २/२२.
३२. तै.आ. १०/४५; पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२५.
३३. तै.आ. १०/४५; पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२५.
३४. तै.आ. १०/४५; पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२६,२७.

३५. तै.आ. १०/४५; पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/२१, २२, २.३
३६. पा.सू. ३/२३.
३७. तै.आ. तत्रैव, रुद्राध्यायी सर्वेभ्य सर्व सर्वेभ्यो । पा.सू. ३/२४, २५.
३८. तै.आ. तत्रैव, ईशानः सर्व विद्यानम्; पा.सू. पं. भाष्य ५/४२.
३९. तै.आ. तत्रैव, १०/४५ ; ईश्वरः सर्वभूतानाम् । पा.सू. पं. भाष्य ५/४३.
४०. तै.आ. १०/४६ ब्रह्माधिपति ब्रह्मणोर्धिपतिब्रह्मा पा.सू. पं. भाष्य ५/४४.
४१. तै.आ. १०/४६; शिवों में अस्तु सदाशिवोम् ।पा.सू. पं. भाष्य ५/४५,४६
४२. पा.सू., पञ्चार्थ भाष्य ५/४७.
४३. द्रष्टव्य उपर्युक्त ।
४४. ऊँकार
४५. तै. आ. १०/१० यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
तस्य प्रकृति लीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥
४६. तै. आ. १०/१६ विश्वं भूतं भुवनं चित्र बहुधा जात जायमानं च मतः ।
सर्वोह्वेष रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥
४७. तै.आ. १०/१८ नमो हिरण्यबाहवे हिरण्यपतयेऽम्बिकापतये उमापतये नमो नमः ।

७.

श्वेताश्वतर उपनिषद् का दार्शनिक स्वरूप

विश्व की कारण रूप सत्ता ब्रह्म

साक्ष्यों से विदित होता है कि पाशुपतागम एवं शैवागम के संस्थापक तथा शिव के प्रथम योगावतार श्वेताश्वतर ऋषि थे।[१], उनके दार्शनिक विचार हमें उनकी कृति श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होते हैं, जैसा कि इस उपनिषद् से स्पष्ट होता है।[२]

वैदिक चिन्तन धारा का ज्वलन्त प्रश्न चिन्ह ही इस उपनिषद् के प्रारम्भ का आलोच्य बिन्दु है कि इस जगत का कारण क्या है। कहाँ से यह कार्य-कारणभाव उत्पन्न हुआ? किस शक्ति से हम जीवित हैं? कहाँ सब कुछ संप्रतिष्ठित है? किसके अधिकार में स्थित हुये हम सुख-दुःखों में प्रवृत्त रहते हैं?[३] ब्रह्मवादियों ने श्वेताश्वर ऋषि के समक्ष समकालीन दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप इस प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रकट किया, यथा—काल, स्वभाव, नियति, अकस्मात पञ्चभूत, प्रकृति, जीव अथवा इन सबके संयोग को कारण माना जाय अथवा आत्मा को। किन्तु सुख-दुःख का हेतु होने से वह भी कारण नहीं प्रतीत होता है।[४] पुनः कारण रूप परमसत्ता को ब्रह्म कहा गया है।[५] अधिक स्पष्ट रूप में कहा गया है कि उन्होंने ध्यान योग के द्वारा अपने विशेषणों में छिपी परमात्म शक्ति को देखा जो एक ही, काल से लेकर आत्मा तक के सभी कारणों को अपने में अधिष्ठित किये हैं।[६] उसकी व्याख्या करते हैं कि,[७] ब्रह्मवादियों ने उस प्रसिद्ध एकनेमि,[८] त्रिवृत्त[९] 'सोलह पीठ वाले,[१०] पचास ताड़ियों वाले,[११] बीस सहायक ताड़ियों वाले,[१२] छह अष्टकों वाले,[१३] विश्व के अनेकरूपपाश, त्रिमार्ग भेद वाले,[१४] दो कारणों वाले और एकमोहरूप नाभिवाले को देखा।[१५] उन्होंने उस ब्रह्म को स्मरण किया[१६] जो पांचस्त्रोतों वाले जल[१७] पांच कारणों से उत्पन्न भयङ्कर मुखवाला,[१८], पाँच प्राणरूपी लहरवाला,[१९] पाँचबुद्धि इत्यादि कारणों वाला,[२०] पाँच भँवर वाला,[२१] पाँच दुःखों का तीव्र प्रवाहमय,[२२] पचास भेदवाला,[२३] पाँच पर्व वाला था।[२४] वह ब्रह्म कार्य-कारण से निर्मुक्त बताया गया,[२५] वह उसमें ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय स्थित है,[२६] सम्पूर्ण विश्व उस ब्रह्मचक्र में ही भ्रमण करता है[२७] वह अक्षर है,[२८] विश्व का भरण-पोषण कर्ता है,[२९] वह विश्वरूप, अनन्त,

अकर्ता भी है उससे परे कुछ भी नहीं है[३०] वह सर्वव्यापी आत्मा है ।[३१] वह चेतन-अचेतन पदार्थों में प्रत्यगात्मा है ।[३२] वह स्थूल व सूक्ष्म रूप है,[३३] वह अनादि और हिरण्यगर्भ में भी है[३४] उसने जल, औषधियों और वनस्पतियों तथा सारे भुवन में प्रवेश कर लिया है ।[३५] परमसत्ता का यह सर्वव्यापी स्वरूप शतरुद्रीय एकव्रात्यसूक्त, अथर्ववेद तैत्तिरीय आरण्यक की पशुपति रुद्र शिव धारा में प्राप्त होता है ।[३६]

परमसत्ता रुद्र-शिव-महेश्वर-ईशान

श्वेताश्वतर ने स्पष्ट किया कि जगत की कारणरूप सत्ता अथवा ब्रह्म रुद्र-शिव है और कोई नहीं जैसा कि कहा गया है जो इन प्रत्यय लोकों को स्वशक्तियों के द्वारा शासित करता है, प्रत्यगात्मा रूप से प्रतीत होता रहता है, सारे भुवनों की रचना करके रक्षक होकर अन्तसमय में उपसंहृत कर लेता है । निश्चित रूप से वह एक अकेला रुद्र किसी दूसरे की अपेक्षा के लिये नहीं रुका ।[३७] रुद्र के ईशान रूप के सन्दर्भ में कहा गया है कि जो एक महाइन्द्रजाल वाला अपनी ईशानी (शक्तियों) के द्वारा ईशन् करता है जो अकेला ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय में अपनी ईशनी शक्तियों (व्यक्त शक्तियों) से सभी लोकों का शासन करता है, जानने योग्य है ।[३८] उसका परमेश्वरत्व इसलिये है कि वह महर्षि-रुद्र सबसे परे रहता हुआ देवों की उत्पत्ति और महत रूप है, उसने ही सबसे पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया ।[३९] रुद्र का जो गिरिशन्त, शिवायुक्त, अघोर स्वरूप शतरुद्रीय में उभरा है उसके दर्शन की कामना भी दिखाई देती है ।[४०] उसकी संहारमुद्रा को भी नमन किया गया है ।[४१] जो इस तथ्य का साक्षी है कि श्वेताश्वतर में इस रुद्र-शिव की विशाल धारा और धार्मिक अन्तर्दृष्टि का ही दार्शनिक स्वरूप मुखर हुआ है । वह ब्रह्म को शिव से अभिन्न कहा गया है । वह रुद्र अजात, अघोर और पूज्यनीय है ।[४२] वह ईश्वरों का भी ईश्वर, परम महेश्वर, देवताओं का परमदेवता और पतियों का परमपति है, सबसे परे, भुवनों का अधिपति और स्तुति योग्य तथा अनुभवगम्य है ।[४३] उसका कोई पति अथवा ईशानकर्ता नही है स्वयं ईशान है ।[४४]

परमपुरुष, विश्वरूप (सर्वरूप) शिव-रुद्र पशुपति-ईशान

विराट स्वरूप अथवा विश्वरूप शिव की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वह एक देव सर्वत्र आंखों वाला, सर्वत्र मुखवाला, सर्वत्र हाथ वाला, पैरों वाला, द्युलोक और भूलोक को उत्पन्न करते हुए भली प्रकार पंखों के द्वारा तथा भुजाओं के द्वारा अच्छी प्रकार धमन (फूंकता) करता रहता है अर्थात् प्राणरूप है ।[४५] उससे उत्कृष्ट कुछ दूसरा नहीं है, उससे सूक्ष्म और वृहत्तर अन्य नहीं है, स्तब्धवृक्ष की तरह वह अकेला द्युलोक में खड़ा है । उस पुरुष से यह विश्व भरा हुआ है ।[४६] वह हिरण्यगर्भ से भी श्रेष्ठतर है ।[४७] सारे प्राणिमात्र की गुहा में स्थित, सर्वव्यापी और सर्वगत है, इसलिये शिव है ।[४८] जगत रूप होने पर भी रुद्र अपने स्वरूप में अछूता रहता है, वह अनन्त सिर वाला, इन्द्रियों वाला,

अनन्तपादों वाला, ब्रह्माण्ड को चारों तरफ से लपेट कर भी दस अंगुल ऊपर बना रहा[४९] अर्थात् वह विश्वरूप होकर भी इससे परे भी है । वह भूत है भव्य है, अमरत्व का ईश है, जड़-चेतन का प्रभु ईशान सबका शरण और मित्र है ।[६०] उसे सर्वप्रथम महापुरुष कहा गया है ।[५१] वह विभु, जरा, उत्पत्ति, जन्म-मरण रहित और सर्वव्यापी है ।[५२] वही अग्नि, आदित्य, वायु एवं चन्द्रमा है । वह शुक्र, जल एवं प्रजापति है ।[५३] वह स्त्रीपुरुष, कुंवारा, कुंवारी, वृद्ध, पैदा होने वाला, अनन्तमुखवाला है ।[५४] वह सर्वरूप है यथा - नील, पतङ्ग़ा, हरा, लाल आंखों वाला, बिजली के गर्भवाला, मौसम, समुद्ररूप है । वह कारण रहित, व्यापक और उससे सारे भुवन उत्पन्न हैं ।[५५] यह एक महेश्वर कारण-कारण में (योनि-योनि) में अधिष्ठित रहता है, उसमें यह सब कुछ संहृत होता है तथा विविध भाव को प्राप्त होता है ।[५६] जो महेश्वर देवताओं का अधिपति है, जिसमें सब लोक अध्यस्त हैं जो इन द्विपद-चतुष्पदों का ईशनकर्ता अर्थात् पशुपति है[५७] वह संसार का अधिपति व प्राणिमात्र में अन्तर्निहित और स्थिति काल में जगत का पालक है ।[५८] वह विश्वमय है, मकड़ी की तरह उसने अपने आपको आवृत्त कर लिया है ।[५९] वह सर्वभूतों का अन्तरात्मा कर्मफल प्रदाता, साक्षी व चेता है ।[६०] वह एक ही सभी निष्क्रियों को वश में रखने वाला, एक बीज को बहुत प्रकार से बनाने वाला[६१] नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन, एवं कामनाओं को देने वाला है ।[६२] वह ब्रह्मा को बनाता है सबसे पहले वेदों को देता है[६३] विश्वरूप, अमर, शासक, ज्ञानरूप, सर्वव्यापक, परिदृष्यमान भुवन का रक्षक और ईश है ।[६४]

उस परम माहेश्वर का निर्गुण स्वरूप भी है वह सभी प्राणियों में अन्तस्थ और गूढ है ।[६५] वह रूपरहित और अविद्या रहित है ।[६६] वह अन्तःकरण की शुद्धि और मोक्षदाता है । वह सत्त्व का प्रेरक, महान समर्थ, अविनाशी, प्रकाशरूप और अत्यन्त निर्मल है ।[६७] वह इन्द्रियरहित है,[६८] परमाणु से सूक्ष्मतर महत् से महत्तर,[६९] उसका यशरूप नाम है, उसकी कोई मूर्ति नहीं है ।[७०] जब अविद्यान्धकार नहीं होता, न दिन न रात, न भाव न अभाव है परन्तु अकेला शिव ही है ।[७१] वह सूक्ष्म और अनेकरूप है,[७२] स्थान व नामरहित, भाव, अभाव को बनाने वाला, कलाओं की सृष्टि करने वाला देव शिव ही है,[७३] वह सर्ववेत्ता गुणी, काल का काल और ज्ञानस्वरूप है ।[७४] वह सबका कारण संयोगों के निमित्त का भी कारण, तीनों कालों से परे होते हुए कालरहित देखा गया है वह सर्व रूप और भवरूप है ।[७५] वह निष्कल-निष्क्रिय, शान्त, दोषरहित, निरंजन और मोक्ष का श्रेष्ठपुल है ।[७६]

शिव और शक्ति

श्वेताश्वतर ने परमशिव या महेश्वर को शक्ति समन्वित बताया है - उनके अनुसार महेश्वर की उत्कृष्ट, स्वभाव सिद्ध तथा ज्ञान, इच्छा, क्रिया रूप शक्ति अनेक प्रकार से वेदों

में कही गयी है ।[७७] जिसके द्वारा वह विश्व का निर्माण करता है उसको धारण करता है ।[७८] उसे कला सर्गकर कहा गया है ।[७९] इस शक्ति से ही वह सभी कारणों एवं स्वभावों को नियन्त्रित करता है ।[८०] सारे विश्व को अधिष्ठित करता है और सारे गुणों को विनियुक्त करता है ।[८१] परमेश्वर की इस शक्ति को माया कहा गया है यथा - माया को ही प्रकृति और मायावी को ही महेश्वर जानो इसके ही अवयवों से सारा जगत व्याप्त है ।[८२] पूर्व ही परम्परा में उसे प्रकृति लीन कहा गया है, जिस शक्ति के द्वारा वह रुद्र, विश्व के विविध चित्र निर्मित करते हैं ।[८३] माया के कारण ही यह अनेक रूप विश्व है और अविद्या अथवा आचरण युक्त है ।[८४] कहा गया है कि परमेश्वर को वेद मायावान बताते हैं जिसके द्वारा वह विश्व को प्रकट करता है ।[८५] इसे पाश भी कहा गया है जिसमें जीव आबद्ध है ।[८६] एक स्थान पर शक्ति को स्पष्ट किया गया है कि बहुत प्रकार की शक्तियों के संयोग से जो एक वर्णरहित अनेक वर्णों को बिना प्रयोजन के धारण करता है एवं प्रलय में लीन कर लेता है तथा वह विश्वमय होता है ।[८७] इस शक्ति के द्वारा ही वह विश्व का ईशन करता है । शासित करता है और सारे भुवनों की रचना करके पालक होकर और अन्त में उपसंहृत कर लेता है ।[८८]

जगत और जीव-प्रकृति अथवा प्रधान

प्रकृति को क्षर व अविद्या विशिष्ट अविनाशी बताया गया है, ईश्वर, प्रकृति और जीवात्मा दोनों का शासक है, इसे विश्वमाया भी कहा गया है ।[८९] जगत रूप होने पर भी वह रुद्र अपने स्वरूप में अछूता रहता है ।[९०] उसे अज कहा गया है यथा - एक ही अज बहुत सी अपनी जैसी सन्तति को उत्पन्न करने वाली लाल सफेद और काली (सत्व, रज, तम त्रिगुणात्मिका) है, जो अजा को जो उससे प्रसन्न हुआ उसके साथ सोता है, दूसरा अज जिसका भोग कर लिया है उस बकरी को छोड़ देता है ।[९१] यहां प्रकृति भोग्या है । अविद्या ही क्षर (प्रकृति) का कारण है[९२] जो महेश्वर-प्रणीत है यथा - जो एक योनि स्थान को सभी रूपों एवं योनियों को अपना रूप मानकर स्थित रहता है, वह परमात्मा कर्मानुकूल पदार्थ देता है ।[९३] वह देव प्रत्येक जाल को बहुत प्रकार से विकृत हुए प्रजापतियों की सृष्टि करके इस क्षेत्र में उपसंहृत कर लेता है फिर ईश्वर सबका आधिपत्य करता है ।[९४] जिस स्वभाव को जगत का कारण पकाता है तथा जो सारे पकाने योग्य सामग्रियों को परिणत कर देता है तथा सारे विश्व को अधिष्ठित करता है एवं सारे गुणों को विनियुक्त कर देता है उसे ब्रह्मा, विष्णु, आदि जानते हैं ।[९५] वह महेश्वर ही विश्वरूप त्रिगुणमार्ग वाला है अपने कर्मों के द्वारा संचार करता है ।[९६] माया रूपी आवरण से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकृति के रूप में आवेष्ठित है जो उसका पाश है ।[९७] इस प्रकार वह महेश्वर प्रकृति और जीव का पति है वह कालकर्ता, गणेश, सर्ववेत्ता इस संसार के बन्ध, स्थिति और मोक्ष

का कारण है ।[९८] वह हंस इस भुवन के मध्य में है, वही अग्नि व जल में उसके सिवा दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं है ।[९९]

प्रकृति ईश्वर और जीव

प्रकृति और जीव कार्य रूप कहे गये हैं जीव अपने आपको और प्रेरक परमात्मा को अलग मानकर भ्रमणशील है ।[१००] ईश्वर विमुख आत्मा भोक्ता है, पाशबद्ध है ।[१०१] जीव अज्ञानी है, भोक्ता है, प्रकृति क्षर व अविनाशी है ।[१०२] महेश्वर प्रकृति और जीवात्मा दोनों के शासक हैं, द्वैत भाव विश्वमाया और प्रारब्ध के कारण हैं ।[१०३] वह शिव ही शरीरधारी रूप में जीव है । कहा गया है कि सारे जड़ और चेतन लोकों का नियन्ता हंस शरीरधारी होकर नौ द्वार वाले[१०४] शहर में रहता हुआ बाहर लपलपाता है ।[१०५] जीव, ईश्वर और जगत के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दो साथ रहने वाले सखा, सुन्दरपंख वाले, समान वृक्ष पर अच्छी तरह से आलिंगन करते हुये रहते हैं उसमें से जीव पीपल रूपी फल को स्वाद से खाता है, नहीं खाते हुए भी दूसरा (मुक्त ईश्वर) केवल साक्षी रूप से देखता रहता है ।[१०६] एक ही वृक्ष पर सामर्थ्य रहितता से निमग्न जीव मोह में पड़ा हुआ शोक करता है जब ईश्वर की महिमा को देखता है तो शोकरहित हो जाता है ।[१०७] वह सारे प्राणियों में छिपा हुआ स्थिति काल में जगत का पालक है ।[१०८]

विद्या और अविद्या

विद्या और अविद्या अविनाशी अन्त ब्रह्म में गुप्तरूपेण स्थित है । अविद्या ही क्षर (सृष्टि) का कारण है, विद्या मोक्ष और अमृतत्व का कारण है ।[१०९] देहधारी जीव कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में भ्रमण करता है ।[११०]

पाश

इस उपनिषद् में अनेकशः पाश शब्द का उल्लेख है । पूर्व प्रकरणों से स्पष्ट होता है कि वह माया, अविद्या, अज्ञान, ऐश्वर्यहीनता, जन्म-मरण बन्धन इत्यादि अर्थों में है जिसमें जीव आबद्ध है और वह महेश्वर की माया प्रणीत है जिसमें जीव कर्मानुसार बंधा है ।[१११] भोक्ता जीव, भोग्य संसार और प्रेरक ईश्वर है ।[११२] कहा गया है कि ईश्वर को जानकर सारे पाश नष्ट हो जाते हैं ।[११३] अर्थात् द्वैत भाव की समाप्ति से पाश नष्ट होते हैं, किन्तु अधिक स्पष्ट रूप में पाश शब्द को आगे स्पष्ट किया गया है कि क्लेशों के नष्ट हो जाने पर जन्म-मृत्यु बन्धन नष्ट हो जाता है, देह भेद की समाप्ति के बाद जीव समग्र ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है ।[११४] अर्थात् अज्ञान, अविद्या, त्रिविध दुःखों और अनैश्वर्य पाश के कारण हैं जो माया और अविद्या जनित है, नित्य है । यह किस प्रकार नष्ट हो जाता है ? जीव कैसे पाशमुक्त होकर समग्र ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है ? उस साधनामार्ग को योगपथ के रूप में श्वेताश्वतर ऋषि ने उन्मीलित किया ।

साधना मार्ग-भक्ति पथ

परमेश्वर के उक्त स्वरूप का ज्ञान और साध्य, महेश्वर में पराभक्ति से ही सम्भव है जिसका ज्ञान गुरू से प्राप्त होता है। इसीलिये गुरू में भी वैसी ही भक्ति होनी चाहिये जैसी महेश्वर में होती है।[११५] पूर्णतः समर्पण और एकात्म होकर ज्ञाननिष्ठ होने की अवस्था को पराभक्ति कह सकते हैं।[११६] कहा गया है कि तप के प्रभाव और महादेव के अनुग्रह से यह ज्ञान श्वेताश्वतर ऋषि को प्राप्त हुआ था।[११७] इसलिये यहां उपासना, तप और सर्वभावेन समर्पित अतिशय भक्ति का विशिष्ट महत्त्व है।

साध्य अथवा लक्ष्य तक पहुंचने के लिये जिस मार्ग का आश्रय लेने का विधान साधक के लिये किया गया है वह योग-पथ है जो गोपनीय कहा गया है।[११८] साधक की योग्यता के सन्दर्भ में श्वेताश्वतर ने नियम निश्चित किया है कि उसे उक्त रीति से गुरू द्वारा शिष्यत्व ग्रहण कर उसके निर्देशन में साधना करनी चाहिये। साधना अथवा योग और वेदान्त में गुह्य इस गोपनीय ज्ञान का अधिकारी पुत्र और शिष्य ही हैं अन्य कोई नहीं है।[११९]

योग-पथ और उसकी विधि तथा फल

वैदिक परम्परा में प्रथमतः योग पथ और उसकी विधि की चर्चा इसी उपनिषद् में प्राप्त होती है। यथा-परमात्म साक्षात्कार हेतु प्रारम्भिक अवस्था में ध्यान योग अथवा चित्त की एकाग्रता को महत्वपूर्ण माना गया है।[१२०] कहा गया है कि ध्यान रूपी अभ्यास से प्रणवोपासना करें यथा-स्वदेह को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर अभ्यास से गूढ़ परमात्म देव को देखें।[१२१] यहां योग मन को लक्ष्य बिन्दु में युक्त करने के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है।[१२२] योगपथ को ब्रह्मवेत्ताओं का मार्ग कहा गया है यथा-ब्रह्मवेत्ता मन और बुद्धि को योग में लगाते हैं। इस मार्ग के द्वारा परमात्मा के सारे पुत्र द्रिव्यलोकों को अधिष्ठित कर गये हैं।[१२३]

तत्पश्चात् योग की विधि का उल्लेख है जो साधक के ज्ञान के लिये आवश्यक है। आगे प्राणयोग और सोमयोग की चर्चा करते हुये कहा है कि "जहां" अग्नि को भली प्रकार से मथा जाता है, वायु को उचित रीति से रोका जाता है, जहां सोम ज्यादा बहता है वहां मन आत्मज्ञान के योग्य उत्पन्न होता है।"[१२४] आसनयोग के अन्तर्गत कहा गया है कि विद्वान शरीर को तीन स्थानों से उठाकर सीध में स्थित करके, इन्द्रियों को मन सहित हृदय में सन्निविष्ट करके ब्रह्मरूपी नाव से सभी भयप्रद स्रोतों को पार कर जाय।[१२५] पुनः प्राणायाम और प्रत्याहार का वर्णन है यथा-साधक सीमित चेष्टा करते हुये इस शरीर में प्राणों को निरुद्ध करके, प्राणाति के अत्यन्त मन्द हो जाने पर नासापुटों में श्वास करे, प्रमादरहित ब्रह्मज्ञानी, दुष्ट घोड़ों से जुड़े हुये की तरह इस रथ रूपी मन को बुद्धि में धारण करावे।[१२६]

योगानुष्ठान के योग्य देश के सन्दर्भ में बताया गया है कि ऊंचाई, नीचाई से रहित, शुद्ध, कंकण, बालू आग से रहित, ध्वनि, पानी, रहने की जगह आदि से मनोनुकूल परन्तु आखों की पीड़ा न देने वाला हो ऐसे तीव्र वायु रहित गुफा के आश्रय में योग करें ।[१२७] यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा जिन पदार्थों से योग सिद्धि का पता चलता है । उन्हें बताते हैं "ब्रह्मयोग में पहले अग्रगामी योग को प्रकट करने वाले तुषार, धुआं, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू-बिजली, स्फटिक और चन्द्रमा के रूप हैं ।[१२८]

योग के गुणों के प्रवृत्त हो जाने पर नये योगाग्नि का शरीर प्राप्त हो जाता है । और उस योगी को रोग, बुढ़ापा और मृत्यु नहीं आती[१२९] तथा लघुत्व, स्वास्थ्य, विषयों की ओर आसक्ति का अभाव, देह के रंग में निखार, मीठा गम्भीर स्वर, सुन्दर सुगन्धि, थोड़ा मल-मूत्र आदि होता है ।[१३०] जैसे मिट्टी से लिया हुआ विम्ब उस मिट्टी से चूना मिलाकर धो लेने के बाद तेजस्वी हो जाता है, वैहे ही कोई जीव आत्मतत्व का साक्षात्कार करके कृतार्थ और शोकरहित हो जाता है ।[१३१] वह योगी आत्मतत्व और ब्रह्मत्व को एक हुआ जान लेता है और सभी तत्वों से रहित होकर शुद्ध हुआ अज और ईश्वर को अनुभव करके पाशमुक्त हो जाता है ।[१३२]

साध्य (मोक्ष-पाशमुक्ति)

इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में ही कार्य-कारण ब्रह्म के ज्ञान और जगत के बन्धन तथा दुःखनिवृत्ति के सन्दर्भ में प्रश्न ब्रह्मवादियों द्वारा उठाया गया है ।[१३३] उपनिषद् के प्रत्येक श्लोकों में पाशमुक्ति, अमृतत्व, दुःखनिवृत्ति और मोक्ष का उल्लेख हुआ है ।[१३४] जिससे प्रकट होता है कि साध्य या अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म रूप महेश्वर का ज्ञान[१३५] तत्वभावात् होने से[१३६] प्राप्त होता है । महेश्वर ही जगत, प्रकृति और जीव की स्थिति बन्ध और मोक्ष का कारण है ।[१३७] वही मोक्ष और अमृत्व का स्वामी है ।[१३८] साध्य अथवा मूल है ।[१३९] रुद्र अथवा ईश्वर का योग पथ पर साधना करते हुये, ज्ञान और साक्षात्कार से अमरत्व और मोक्ष गमन होता है ।[१४०] क्योंकि शिव ही मोक्ष दाता है । भक्ति, योग और धातुः प्रसादात् अर्थात् उसकी कृपा अथवा अनुग्रह से अमरत्व मोक्ष अथवा शोक या दुःख का नाश होता है ।[१४१] इस प्रकार उसकी शरणागति, अद्वैतत्व और ब्रह्मधाम या तद्रूप प्राप्ति को साध्य या मोक्ष के अन्तर्गत रक्खा गया है ।[१४२] जो योग व भक्ति मार्ग से कर्मों के नष्ट होने से सम्भव है ।[१४३]

इस प्रकार यहां साध्य मोक्ष-जन्म-मरण बन्ध की समाप्ति, केवलीभाव पूर्णकाम, शिवसाक्षात्कार द्वारा दुःख का आत्यन्तिक विनाश माना गया है ।[१४४] इसे पाश नाम से सम्बोधित किया गया है । जन्ममृत्यु बन्ध पाश, अनैश्वर्य पाश, द्वैतभाव पाश, अविद्या या माया पाश की चर्चा है ।[१४५] महेश्वर के साक्षात्कार से ही इन पाशों से मुक्ति सम्भव है ।[१४६] दुःख का आत्यन्तिक विनाश, कर्मों का विनाश महेश्वर का ज्ञान मात्र ही यहां

साध्य या मोक्ष नहीं है अपितु यहां मोक्ष में उसकी कृपा से समग्र ऐश्वर्य की प्राप्त भी होती है जो परमपद है ।[१४७] कहा गया है कि मोक्षगमन का दूसरा मार्ग नहीं है ।[१४८]

सन्दर्भ

१. द्रष्टव्य-पूर्वखण्ड श्वेताश्वतर ।
२. श्वेता.उपनिषद् ६/२१.
३. श्वेता.उपनिषद् १/१.
४. श्वेता.उपनिषद् १/२.
५. श्वेता.उपनिषद् तत्रैव १/१,२.
६. श्वेता.उपनिषद् १/३.
७. श्वेता.उपनिषद् १/४.
८. वृ. २/५/१५, छा ७/१५/१, कौ. ३/८ मु. २/२/६, प्रश्न. २/६,६/६.
९. ज्ञान, इच्छा, क्रिया, ।
१०. षोडषकल.
११. सांका. ४६ तस्य च भेदास्त पञ्चाशत, यजुर्वेद, प्रोक्त पंचकोष ही ५ विभागों द्वारा विभाजित ५० नाड़ियां हैं ।.
१२. अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्या, अधिप्रजा और अध्यात्म इन पांच के चार भेद ।
१३. सांका ४४,४५ धर्म, अधर्म , ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, राग, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य अथवा वाणी के छह अष्टव ।ऽ
१४. देवयान, पितृयान, अधोयान ।
१५. श्वेता. १/४.
१६. श्वेता. १/५.
१७. ब्रह्म (शिव) के पञ्चमुख ।
१८. प्रत्येक मुख की शक्ति क्रिया, ज्ञान, इच्छा, सृष्टि, स्थित, लय, माया ।
१९. पञ्चतत्व क्षिति, जल, पावक, समीर, आकाश ।
२०. बुद्धि आदि पांच करण ।
२१. पांच योनि तै आ.प्र. १०.
२२. पञ्चक्लेश ।
२३. पांचकर्मेन्द्रियां पांच विषय, पांच उनके देवता, पांचज्ञानेन्द्रियां, दस प्राण, दस उनके विषय, दस उनके देवता ।
२४. योगसूत्र २/३ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः ।
२५. श्वेता, १/७.

२६. श्वेता १/७.
२७. श्वेता. १/६.
२८. श्वेता. १/८.
२९. श्वेता. १/८,१/७.
३०. श्वेता. १/९.
३१. श्वेता. १/१६.
३२. श्वेता. २/१६ .
३३. श्वेता. २/१६.
३४. श्वेता. २/१६.
३५. श्वेता. २/१७ .
३६. द्रष्टव्य-शतरुद्रीय, अथर्व. एकव्रत्यसूक्त, पूर्व अध्याय रुद्र-शिव के लिए इस प्रकार कहा गया है ।
३७. श्वेता. ३/२
३८. श्वेता. ३/१
३९. श्वेता. ३/४.
४०. श्वेता. ३/५.
४१. श्वेता. ३/६.
४२. श्वेता. ४/२१,२२.
४३. श्वेता. ६/७.
४४. श्वेता. ६/९.
४५. श्वेता. ३/३, ऋ. १०/८१/३, वासं. १७/१९.
४६. श्वेता. ३/९, तै.आ. १०/१०/३, कठ. ६/१.
४७. श्वेता. ३/१०, छा. ७/२६/२.
४८. श्वेता. ३/११, ऋ. १०/८१/३, १०/९०/१.
४९. श्वेता. ३/१४, ऋ. १०/९०/१ वा.सं. ३१/१ पृ. २/१/२ कौ. ४/३.
५०. श्वेता. ३/१५,१६,१७, ऋ. १०/९०/२, वा.सं. ३१/२, तै.आ. ३/१२/१ गीता १३/१३, १४, ९/१८.
५१. श्वेता. ३/१९.
५२. श्वेता. ३/२१ मु. १/१/६, ३/२/५.
५३. श्वेता. ४/२ वासं. ३२/१.
५४. श्वेता. ४/३ ऋ. ८/४५/२०
५५. श्वेता. ४/५१ वृ. ४/४/९.
५६. श्वेता. ४/११ वासं. ३२/८ तै.सं. ५/२/८/२.
५७. श्वेता. ४/१३, वासं. २३/३, २२०/३२, ऋ. १०/१२१/३.
५८. श्वेता. ४/१५ .

५९. श्वेता. ६/१०.
६०. श्वेता. ६/११, वृ. ४/३/३२, मै. २/७, ६/१६.
६१. श्वेता. ६/१२ क. ५/१२.
६२. श्वेता. ६/१३ क. ५/१३ ई. ८.
६३. श्वेता. ६/१८ .
६४. श्वेता. ६/१७ मु. १/१/६, ३/२/५.
६५. श्वेता. ३/९.
६६. श्वेता. ३/१०.
६७. श्वेता. ३/१२.
६८. श्वेता. ३/१७
६९. श्वेता. ३/२०.
७०. श्वेता. ४/१९.
७१. श्वेता. ४/१८.
७२. श्वेता. ५/९,१०.
७३. श्वेता. ५/१४
७४. श्वेता. ६/२
७५. श्वेता. ६/५.
७६. श्वेता. ६/१९, ६/११.
७७. श्वेता. ६/८ पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ।
७८. श्वेता. ५/१३ अनाद्यनन्त कलिलस्यमध्ये विश्वस्य स्रृष्टारमनेकरूपम् ।
७९. श्वेता. ५/१४.
८०. श्वेता. ५/४
८१. श्वेता. ५/५.
८२. श्वेता. ४/१० मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
८३. तै.आ. १०/१०,१६.
८४. श्वेता. ४/१४---- कालिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् । गीता २/५२; कलिल आवरण, मोह या अविद्या अर्थ में है । श्वेता. ४/१४ विश्वैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ।
८५. श्वेता. ४/९.
८६. श्वेता. ४/९.
८७. श्वेता. ४/१.
८८. श्वेता. ३/१ य एकोजालवानीशतईशनीभिः सर्वान्लोकां ईशनीभिः । श्वेता. ३/२ एकोहि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थेयु इमाल्लोकानीशत ईशनीभिः । प्रत्यङ्जनास्तिष्ठतिसंकुचोऽत काले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ।
८९. श्वेता. १/१०

९०. श्वेता. ३/१४.
९१. श्वेता. ४/५
९२ . श्वेता. ५/१.
९३. श्वेता. ५/२ .
९४. श्वेता. ५/३ .
९५. श्वेता. ५/५,६
९६. श्वेता. ५/७.
९७. श्वेता. ५/१३.
९८. श्वेता. ६/१६.
९९. श्वेता. ६/१५.
१००. श्वेता. १/६ .
१०१. श्वेता. १/८ .
१०२. श्वेता. १/९,१०.
१०३. श्वेता. १/१०.
१०४. दो आंख, दो कान, दो नाक, मुख, उपस्थ और वायु ।
१०५. श्वेता. ३/१८.
१०६. श्वेता. ४/६, ऋ. १/१६४/२०, क. ३/२ मु. ३/१/१.
१०७. श्वेता. ४/७; क. ३/१, मु. ३/१/२.
१०८. श्वेता. ४/१५.
१०९. श्वेता. ५/१ .
११०. श्वेता. ५/११.
१११. पूर्व प्रकरण द्रष्टव्य श्वेताश्वतर ।
११२. श्वेता. १/१२.
११३. श्वेता. १/११.
११४. श्वेता. १/११.
११५. श्वेता. ६/२३ यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
११६. श.सू. ३ "स (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे" ईश्वर में निरतिशय प्रेम । भाग. पु. ३/३९/१२ "अहैतुक्य व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे" वह प्रेम निर्हेतुक, निष्काम और निरन्तर हो । गीता १८/५० "समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा । ज्ञान की परम निष्ठा ।
गीता १८/५४ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचित न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥"
गीता में भक्ति ४ प्रकार की बतायी गयी है ३ अपरा और अन्तिम परा अर्थात् ज्ञाननिष्ठा ।

मुण्डक १/२/१२ में ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय लेकर वैराग्य धारण कर ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है ।

११७. श्वेता. ६/२१ "तपः प्रभावाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।"
११८. श्वेता. ६/२२ एवं अध्याय २.
११९. श्वेता. ६/२२ वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायशिष्याय वा पुनः ॥
१२०. श्वेता. १/३ .
१२१. श्वेता. १/१३,१४.
१२२. श्वेता. २/१, २,३,४.
१२३.. श्वेता. २/५ .
१२४. श्वेता. २/६ .
१२५. श्वेता. २/२८.
१२६. श्वेता. २/९ .
१२७. श्वेता. २/१० गुफा का उल्लेख संकेत करता है कि श्वेताश्वतर का आश्रय पर्वतप्रदेश पर था जो योग के योग्य उचित स्थान माना गया है ।
१२८. श्वेता. ३/११ इसे विन्दु स्फुरण भी कहा गया है ।
१२९. श्वेता. २/१२.
१३०. श्वेता. २/१३.
१३१. श्वेता. २/१४.
१३२. श्वेता. २/१५.
१३३. श्वेता. १/१, १/६, १/८ पाशमुक्ति का विचार और ईश्वर का ज्ञान ।
१३४. द्रष्टव्य श्वेता.
१३५. श्वेता. १/९
१३६. श्वेता. १/१०.
१३७. श्वेता. ६/१६.
१३८. श्वेता. ५/१५.
१३९. श्वेता. १/१६.
१४०. श्वेता. ३/१, ३/७,८,१०,१३.
१४१. श्वेता. ६/१८, ४/१८, ६/६.
१४२. श्वेता. ६/४ .
१४३. श्वेता. १/११, ६/२०.
१४४. श्वेता. १/११, २/१५, ४/९.
१४५. श्वेता. ६/१३.
१४६. श्वेता. १/११, ३/२०, ४/७, ६/२०, ६/६, २/५, ६/२१ देवप्रसादात् ।
१४७. श्वेता. ३/८, ६/१५.

८.

परवर्ती उपनिषदों में पाशुपत सम्प्रदाय और श्वेताश्वतर की परम्परा

साक्ष्यों से विदित होता है कि आत्मा, ब्रह्म, जीव तथा कर्म के अतिरिक्त योग भी उपनिषदों के चिन्तन का मुख्य विषय हो गया था।[१] पशुपति रुद्र के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का भी प्रादुर्भाव परवर्ती काल में हो गया था जैसा कि मैत्राण्युपनिषद् से स्पष्ट होता है।[२] इस उपनिषद् में एक स्थल पर कषाय-कुण्डलिन और कापालिन की चर्चा है। जो पाशुपत व्रतधारी थे। इससे स्पष्ट होता है कि इस उपनिषद् के रचनाकाल के पूर्व पाशुपत साधना प्रकाश में आ चुकी थी और उसका यह स्वरूप श्वेताश्वतर की रुद्र-शिव परम्परा में निहित तत्वों के साथ कुछ नये तत्वों को भी समाविष्ट किये था।[३] न्याय वैशेषिक सूत्रों और सोम सिद्धान्त में पाशुपत परम्परा प्राप्त होती है।[४]

साक्ष्यों से यह भी स्पष्ट होता है कि समकालीन सारे सम्प्रदायों पर रुद्र-शिव सम्प्रदाय का वर्चस्व स्थापित हो चुका था।[५] शतरुद्रीय और श्वेताश्वतर में जिस विराट रूप एवं विश्वरूप रुद्र की चर्चा है उसी के अनुकरण पर गीता में विश्वरूप कृष्ण की चर्चा हुई है।[६] इसी परम्परा का अवगाहन अथर्वशिर उपनिषद् में मिलता है, जहां यह कहा गया है कि रुद्र का स्तवन ऋषियों ने किया अर्थात् रुद्र को मान्यता प्राप्त हुई।[७] उन्हें ब्रह्मा और विष्णुरूप भी कहा गया है।[८] यह उपनिषद् श्वेताश्वतर की परम्परा के अन्तर्गत आती है और इसमें रुद्र-शिव दर्शन का ही विवेचन प्राप्त होता है. एक स्थल पर कहा गया है कि "जो पर ब्रह्म है वह एक रूप है, जो एकरूप है वही रुद्र-रूप है, जो रुद्र है वही ईशान रूप है, वही भगवान महेश्वर है।[९] रुद्र के अनेक नाम जो पूर्व की परम्परा में विख्यात थे उनका आशय यहां स्पष्ट किया गया है तथा ऊँकार का स्वरूप बताया गया है।[१०] इस प्रकार शतरुद्रीय व श्वेताश्वतर की धारा अथर्वशिर में निमज्जित होती है। अथर्वशिर में पूर्णरूपेण शतरुद्रीय व श्वेताश्वतर के मन्त्रों का संकलन प्राप्त होता है। यह भी स्पष्ट होता है कि अथर्वशिर में जिस सम्प्रदाय का निर्वचन हुआ है वह पाशुपत सम्प्रदाय है। इसमें पाशुपत व्रत का उल्लेख है और पशुपति रुद्र की भक्ति और भस्म

को पाशबन्ध से मुक्ति देने वाला तथा मोक्षदायी कहा गया है ।[११] यहां साधक के लिये भस्म की पवित्रता पर जोर दिया गया है[१२] जिससे स्पष्ट होता है कि पाशुपतचर्या में भस्म की महत्ता अत्यधिक थी और साधनामार्ग अब स्पष्ट हो चुका था ।

अधिक स्पष्ट रूप से पाशुपतों का दार्शनिक विवेचन जाबाल्युपनिषद् में प्राप्त होता है वहां यह प्रश्न उठाया गया है कि तत्व क्या है ? जीव कौन है ? पशु कौन है ? ईश कौन है ? तथा मोक्ष का उपाय क्या है[१३] उत्तर में यह कहा गया कि वही (पशुपति ही) अहंकाराविष्ट और सांसारिक जीव है जिसे पशु कहा जाता है तथा सर्वज्ञ और पञ्चकृत्य-काटी सम्पन्न सर्वेश्वर पशुपति हैं[१४] चूंकि जीवों को पशु कहा जाता है इसीलिये उनके पतित्व के कारण वह ईश्वर पशुपति है ।[१५] जीव विवेकहीन कर्म और दुःख के पाश में आबद्ध है । उसका स्वामी सर्वज्ञ ईश पशुपति है ।[१६] पशुपति के ज्ञान से मोक्ष सम्भव है[१७] जो पाशुपत व्रत और विभूतिधारण से होता है ।[१८] इस व्रत में भस्म, त्रिपुण्ड इत्यादि धारण करने का विधान है ।[१९] कहा गया है कि सद्योजातादि पञ्चब्रह्म मन्त्रों का संग्रह व अग्नि आदि तथा भस्म से अभिमन्त्रित करके वेदोक्त शाम्भव व्रत को धारण करें ।[२०] मोक्ष और पापनाश हेतु शतरुद्रीय का स्तवन आवश्यक बताया गया है, उसके स्तवन से महापातक नष्ट हो जाते हैं और पुनः प्रत्यावर्तन नहीं होता है ।[२१] ऐसा पाशुपत साधकों का विश्वास था । ब्रह्मज्जाबाल में शतरुद्रीय का महत्वगान है और भस्मस्नान तथा भस्म धारण से मुक्ति और शिवसायुज्य की प्राप्ति सम्भव बतायी गयी है ।[२२] भस्म जाबाल उपनिषद् में रुद्र के उसी स्वरूप की चर्चा है जैसी श्वेताश्वतर उपनिषद् में है ।[२३]

सन्दर्भ

१. द्रष्टव्य-मैत्राण्युपनिषद्, एवम् २/६ स पञ्चधात्मानं विभज्योच्यते यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति ।

२. द्रष्टव्य-मैत्राण्युपनिषद् ५/१, ७/७.

३. द्रष्टव्य मैत्राण्युपनिषद्, ७/८ "--अथ ये चान्ये ह वृथा कषाय कुण्डलिनः कापालिनः ।

४. द्रष्टव्य भाग २ न्याय-वैशेषिक एवं सोमनय ।

५. अथर्वशिर उपनिषद् ।

६. द्रष्टव्य-गीता अ. ११/६, ७.

७. अथर्वशिर उ.

८. अथर्वशिर उ.

९. अथर्वशिर उ.

१०. अथर्वशिर उ.

११. अथर्वशिर उपनिषद्.

१२. अथर्वशिर उपनिषद्.
१३. जाबाल्युपनिषद् २.
१४. जाबाल्युनिषद्, पशुपति रहंकाराविष्टः संसारीजीवः । स एव पशुः ।
सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसंपन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः ।
१५. जाबाल्युपनिषद् १३ जीवा पशवः उक्ताः । तत्पतित्वात् पशुपतिः ।
१६. जाबाल्युनिषद् १५.
१७. जाबाल्युपनिषद् १६.
१८. जाबाल्युपनिषद् १७, १८, १९.
१९. जाबाल्युपनिषद् २०.
२०. जाबाल्युपनिषद् १९,२२.
२१. जाबाल्युपनिषद् २०.
२२. बृहज्जाबालि उ. अ. ४/ब्रा. ४, ६,६, ६/८, ७/४ २/६,७.

९.

लकुलीश प्रणीत पाशुपत सूत्रों का दार्शनिक परिवेश एवं उनका स्वरूप

श्वेताश्वतर के पश्चात् पाशुपत सूत्रों का दार्शनिक, आगमिक एवं साधना-परक परिवेश उभरता दीख पड़ता है जो शैव धर्म के इतिहास में चिन्तन के एक नव्य-युग का शुभारम्भ था। इन पाशुपत सूत्रों के प्रणयन कर्ता भगवान् लकुलीश थे जो महेश्वर के अट्ठाइसवें कायरूपी योगावतार थे।[१] उन्होंने इन सूत्रों के रूप में पाशुपत योग विधि का उपदेश अपने शिष्यों के जिज्ञासा शमन हेतु उज्जयिनी में किया।[२]

यद्यपि कि साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि श्वेताश्वतर की धारा अन्य दार्शनिक परम्पराओं में प्रवहणशील रही[३] परन्तु यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि पाशुपत सूत्रों में जिन दार्शनिक तत्वों का निरूपण हुआ है वे सर्वथा नूतन हैं अथवा उनके संकेत पूर्व की परम्परा में प्राप्त होते हैं।

प्रारम्भिक औपनिषदिक चिन्तन का मुख्य विषय ब्रह्म, आत्मा और जगत विवेचन था जिसमें जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का विचार तार्किक पृष्ठभूमि पर पूर्णरूपेण स्पष्ट न हो सका था।[४] इस चिन्तन में ज्ञाता-ज्ञेय के माध्यम से भी समस्या का निराकरण किया गया है। उपनिषदों के पूर्व शतरुद्रीय की शैव-परम्परा में एक ही तत्व सर्वत्र विलसित दिखाई देता है।[५] उपनिषदों ने इसे ब्रह्म बताया किन्तु पाशुपत सूत्रों में शिव रूप में न होकर कारण रूप में विवेचित है।[६] कार्य का विवेचन करते ही हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते प्रतीत होते हैं कि यहां अद्वैत में द्वैत की आभा विद्यमान है। अभिनव गुप्त ने इसे द्वयाद्वय कहा है। यहां पशु, पाशमोचन के पश्चात् पशुपति हो जायेगा ऐसा विचार प्रकट है। पूर्वप्रकरणों में साक्ष्यों से यह विदित हो चुका है कि पाशुपतसूत्रों से पूर्व का पाशुपत-शैव-दर्शन, श्वेताश्वतर की परम्परा से निःसृत होकर अनेकशः धाराओं में प्रवहणशील रहा किन्तु पाशुपत सूत्रों के दर्शन में अभिव्यक्त कारण-कार्य का विचार, श्वेताश्वतर उपनिषद् में सांकेतिक था अथवा नहीं, यह विचारणीय प्रश्न है।

जगत के कारण रूप में ब्रह्म की चर्चा तो उपनिषदों में प्राप्त होती है।[७] जिससे जगत उत्पन्न है, जो अपने में जगत को लीन कर लेता है और जिसमें जगत स्थित है।[८] कारण ब्रह्म और कार्य जगत की व्याख्या एक ही सर्वोच्च सत्ता महेश्वर को मानकर श्वेताश्वतर उपनिषद् में की गयी है।[९] इसी प्रकार मैत्राण्युपनिषद् में जगत के कर्ता और कारण ब्रह्म का विवेचन प्राप्त होता है।[१०] किन्तु उन अर्थों में नहीं जिस परिप्रेक्ष्य में पशुपति और उनके कार्य का विवेचन पाशुपत सूत्रों में है।

ईश्वर की शक्ति के प्रकरण पर विचार करते समय हम देखते हैं कि श्वेताश्वतर में रुद्र की ईशनी शक्ति का विवेचन है। जिसके द्वारा वह जगत की सृष्टि, पालन व संहार करता है।[११] जो एक बहुत प्रकार की शक्तियों के संयोग से विश्व को धारण करता है, उसे अभिन्न करके रखता है और प्रलय काल में लीन कर लेता है। वह महेश्वर ही है।[१२] उसकी स्वाभाविकी पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है जो ज्ञान-बल और क्रियारूप है।[१३]

उसी विचारक्रम में लोहित, शुक्ल और कृष्णवर्मा प्रकृति को "अजा" नाम से सम्बोधित किया गया है।[१४] इस प्रकृति को माया और महेश्वर को मायावी कहा गया है।[१५] यह माया अथवा प्रकृति महेश्वर में अन्तस्थ हैं।[१६] इसी प्रकार विद्या और अविद्या को भी उसमें गुप्त रूपेण निहित बताया गया है।[१७] परन्तु यहां अद्वैत भाव का प्रतिपादन दिखाई देता है। कहा गया है कि मकड़ी के तन्तुनाभ की तरह शिव ही विश्वमय हो गया है।[१८] उन्हें कला सर्गकर भी कहा गया है।[१९] इस प्रकार ईश्वर की यह शक्ति माया, जिससे जगत उत्पन्न है, के अतिरिक्त विद्या और अविद्या[२०] (ज्ञान और अज्ञान) की भी चर्चा उपनिषदों में हुई है।

यद्यपि पाशुपतसूत्रों में माया का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं है तथापि पशुपति की अपरिमित और अनन्त ज्ञानशक्ति की चर्चा है। वह उस शक्ति से अपरिमित पशुओं को अपने नियन्त्रण में रखता है।....पालन-पोषण एवं प्रभु शक्ति से वह पति है--(स्वतन्त्र्यशक्ति सम्पन्न होने के कारण उसको पति कहते हैं)-वह अलौकिक अनुग्रह शक्ति सम्पन्न है।[२१] इसी सन्दर्भ में उसके ज्ञान एवं ध्येय शक्ति की भी चर्चा की गयी है।[२२] यह शक्ति ज्ञान एवं क्रियारूप है, मनोजवित्व आदि क्रिया शक्ति है।[२३] कार्यों के द्वारा भगवान् रुद्र से कथित भगवान महेश्वर की शक्ति सनातनी है। यहां उस विद्या इत्यादि कार्य को करने वाला, यह अर्थ है।[२४]

इसी क्रम में उसे सम्पूर्ण विद्याओं का ईशान कहा गया है।[२५] अविद्या और विद्या जिस आशय से पाशुपत सूत्रों में विवेचित है वह पूर्व की परम्परा में विवेचित नहीं था। यहां विद्या, कला, पशु, कार्य की श्रेणी में है।[२६]

यहां पशु आदि जगत कार्य और पशुपति कारण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं ।[२७] दार्शनिक विवेचन की इस विधा के संकेत मात्र ही श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होते हैं । एक व्यवस्थित सम्प्रदाय का यह नवीन दार्शनिक चिन्तन था जो भगवान लकुलीश के उपदेशों से निःसृत हुआ । यहां कार्य-कारण आसनस्थ है[२८] इसीलिये यह दर्शन द्वैताद्वैतवादी है । भगवान लकुलीश प्रोक्त "कलितासनम्" सूत्र का आशय भी कुछ ऐसा ही था, यथा- अमृत स्वरूप भगवान अपनी इच्छा से अपनी शक्ति में अवस्थित कार्य को अपनी शक्ति से अध्यस्त करता है इसीलिये कारण एवं कार्य आसन में अवस्थित रहते हैं ।[२९] यहां कार्यरूपी जगत विकार नहीं है । इस प्रकार यहां भगवान पशुपति की शक्ति माया बनकर किसी भ्रमात्मक, कल्पित, असत्य, संसार की रचना नहीं करती है । जिसमें जीव-मुक्ति मात्र के लिये विकल है अपितु यहां तो पशु-पाशमोचन के पश्चात् पशुपति हो जायेगा[३०] बल्कि श्वेताश्वतर में पाश से केवल मुक्ति अथवा दुःखान्त का ही विचार है ।[३१] पूर्व के अध्याय में पाशुपतसूत्र के उन मन्त्रों के उल्लेख हैं जो इससे पहले तैत्तिरीय आरण्यक में उल्लिखित हैं- परन्तु उनके सन्दर्भ आगमिक थे, साधनापरक थे । यद्यपि पाशुपत सूत्रों का उपदेश "एक विशिष्ट साधनापथ से ले जाकर मनुष्य को उसके परमस्वरूप तक पहुंचा देने के उद्देश्य से भगवान लकुलीश ने किया था तथापि उसमें दार्शनिक विवेचन का एक तर्कसंगत प्रयास भी मिलता है किन्तु महत्वपूर्ण लक्ष्य तो पाशुपत योग विधि के उपदेश से दुःख का आत्यान्तिक विनाश करके तद् रूप कर लेने में निहित था जिस प्रकार भगवान महेश्वर कायरूपी लकुलीश नाम से अवतरित होकर पुनः पशुपति हो गये ।

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक चिन्तनकारों ने दुःख की समस्या को एक ज्वलन्त प्रश्नचिह्न की भांति उपस्थित किया और सर्वदुःखों से मुक्ति पाने का अपना-अपना विकल्प प्रस्तुत किया है । उपनिषद्कारों ,[३२] सांख्यों,[३३] नैयायिकों,[३४] वैशेषिकों[३५] पतञ्जलि[३६] एवं बौद्धों ने[३७] दुःखों की सत्ता का विवेचन और उसके निवृत्ति के साधन का अन्वेषण करने का प्रयास किया है जिससे सम्पूर्ण प्राणिमात्र का कल्याण हो सके और शान्ति प्राप्त हो सके ।

भगवान् लकुलीश के समक्ष भी उनके शिष्यों ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि "आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों की (पूर्ण समग्र) एकान्तिक-अथवा आत्यन्तिक (समग्र रूप, पूर्णरूपेण-नित्य, स्थायी) निवृत्ति सम्भव है या नहीं ?"[३८] इस समस्या के विकल्प को पाशुपत दर्शन में "दुःखान्त" नाम से सम्बोधित किया गया है जो पाशुपत योग-विधि (साधनामार्ग) का साध्य या लक्ष्य है ।[३९]

यह दुःखान्त पशुपति के अनुग्रह से उनको प्राप्त होता है जिन शिष्यों की दुःखान्त प्राप्ति में धर्म, कर्म, काम व कैवल्य साधन हेतु निरन्तर प्रवृत्ति होती है ।[४०]

यद्यपि कि भगवान् लकुलीश प्रोक्त "सूत्र" योग-विधि के उपदेश के सन्दर्भ में है, उनका साध्य अथवा विकल्प "दुःखान्त" की प्राप्ति ही है तथापि उनके द्वारा उपदिष्ट इन "सूत्रों" का दार्शनिक विवेचन या भाष्य "पञ्चार्थ भाष्य" में कौण्डिन्य ने किया और इस दर्शन का नाम "पञ्चार्थ" दर्शन बताया है ।[४१]

इन सूत्रों की संख्या एक सौ अड़सठ है[४२] जो पांच प्रसिद्ध "पन्चब्रह्म" मन्त्रों पर निर्भर है जिनका उल्लेख पूर्व की परम्परा में तैत्तिरीय आरण्यक में हुआ है ।[४३] ऐसा प्रतीत होता है कि कौण्डिन्य के समय में पाशुपत सूत्रों का दर्शन "पञ्चार्थ" नाम से विख्यात था । उन्होंने अपने भाष्य में इस पञ्चार्थ का उल्लेख एक विशेष रीति से किया है । वे पांच पदार्थ–, (१) कार्य, (२) कारण, (३) योग, (४) विधि तथा (५) दुःखान्त हैं ।[४४] बादरायण के वेदान्त सूत्र में इसी पाशुपत दर्शन की आलोचना प्राप्त होती है । जिसे शङ्कराचार्य ने "पञ्चार्थ दर्शन" कहा है ।[४६] अध्ययन की सुविधा के लिये हम पाशुपत सूत्रों का विवेचन पञ्चार्थ भाष्य के आधार पर ही करेंगे जो सर्वथा प्रामाणिक है । साक्ष्यों से विदित है कि राशिकर नकुलीश की आचार्य परम्परा के सत्तरहवें पाशुपताचार्य थे ।[४७] इसीलिये उनका भाष्य पाशुपत सूत्रों में निहित दर्शन के लिये महत्वपूर्ण हो जाता है । पूर्व विवेचित है कि पाशुपतसूत्रों में पश्वादि जगत और पशुपति कार्य व कारण रूप में प्रस्तुत हैं ।[४८] यहां पशुपति "पशूनां पतिः" अर्थ में है ।[४९] 'सर्वे चेतनावन्त पशुः' ऐसा है ।

कार्य निरूपण

इस दर्शन के मतानुसार जीव व जड़वर्ग से व्याप्ति समग्र जगत अपने-अपने गुणों के साथ कभी स्वतन्त्र नहीं है । समस्त गुण अपने आश्रयों के अधीन हैं । परमेश्वर के अधीन जीव व जड़ वर्ग सभी हैं । इस प्रकार यहां इस परतन्त्रता या अस्वातंत्र्य को कार्य नाम से सम्बोधित किया गया है । पाशुपतसूत्रों के दर्शन में इस कार्य को तीन प्रकार का बताया गया है जो विद्या, कला और पशु संज्ञक हैं ।[५०] लीलामय पशुपति, विद्या, कला व पशुसंज्ञक त्रिविध कार्यों को उत्पन्न करता है, अनुग्रह करता है तथा तिरोभाव करता है ।[५१]

पशु से अभिप्राय सभी चेतन प्रणियों से है (सिद्धेश्वर अर्थात् जीवन्मुक्त के अतिरिक्त) सभी पशु कार्य-कारण में बंधे हैं । उनमें ईश्वरत्व का अथवा परम ऐश्वर्य का अभाव ही बन्धन (पाश) है जिसके कारण उनमें पशुत्व या पशुता है । सम्पूर्ण जड़-जीववर्ग उस कारण शक्ति रूप परमेश्वर के अधीन है, अनैश्वर्य और अस्वातन्त्र्य तथा अज्ञान से बंधे हैं, वह बन्धन या पाश अनादि हैं । इस अज्ञानता या बन्धन के कारण ही वह पशु है ।[५२]

यह बन्धन "पाश" नाम से सम्बोधित है जो कार्य एवं करण नामक कला में है ।[५३] चूंकि वे इससे बंधे हुए हैं या अधीन हैं, इस शब्दादि विषयों के अधीन होकर रहते हैं इसीलिये पशु हैं । इस प्रकार ईश्वरत्व का अभाव या स्वेच्छया व्यवहार-रहित होना (अस्वातन्त्र्य) ही पाश या बन्ध है ।

इस प्रश्न का समाधान कर लेना आवश्यक है कि जो कार्य-करण रहित है उन्हें पशुत्व से निवृत्ति प्राप्त होती है अथवा नहीं । उत्तर यह है कि निवृत्ति प्राप्त नहीं होती । क्योंकि कार्य-करण रहित होने पर भी वे पुनः-पुनः कार्य-करण को ग्रहण करते हैं क्योंकि वे आबद्ध होने के कारण पशु हैं । उनके आभ्यन्तर चेतना रहती है बाहर नहीं । कारण यह है कि कार्य-करण रहित प्राणी भी कार्य-करण को समझ नहीं पाता है अथवा रहस्य का ज्ञान नहीं कर पाता है और न उसका त्याग कर पाता है । वह देश ,काल, स्थिति आदि से निरपेक्ष नहीं है और न तो उसमें धर्म-अधर्म का बोध है इसलिये बन्धन के कारण वह पशु है । पाशुपतसूत्रों (पञ्चार्थभाष्य) के अनुसार पूर्व के साक्ष्यों से विदित होता है कि सांख्य योग से जो मुक्त (कैवल्य प्राप्त) हो गये ऐसे ब्रह्मादि से पशु-पक्षी पर्यन्त सबको पशु रूप में स्मृत किया गया है ।[५४] पशु भी दो प्रकार के हैं, कार्य-करणयुक्त साञ्जन (शरीर और इन्द्रियों से युक्त) और निरञ्जन (शरीरेन्द्रिय से रहित)[५५] पशु के गुण-विद्या और गुणरहित पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों को कला कहते हैं ।[५६] विद्या का आशय पञ्चार्थ भाष्य में अधिक स्पष्ट नहीं है अपितु सर्वदर्शन संग्रह में इसे स्पष्ट करते हुये हुए कहा है कि प्रथमबोधस्वभावा और अबोधस्वभावा । बोधात्मिका विद्या दो प्रकार की है क्योंकि उसमें विवेक और अविवेक की प्रवृत्ति होती है । अबोधात्मिका विद्या वह है जिसमें पशुत्व की प्राप्ति कराने वाले धर्म और अधर्म दोनों संस्कार रहें ।[५७] इस प्रकार धर्मार्थ व काम भेद वाली विद्या है ।[५८]

कला

चेतन के अधीन रहने वाली कला स्वयं अचेतन रूप में रहती है जो द्विविध है ।[५९]

१- कार्यरूप में कला (विषयरूपा) ।

२- करण रूप में कला (इन्द्रिय रूपा) ।

कार्याख्या कला दस प्रकार की है । पृथ्वी इत्यादि पांच तत्व और रूप, रस आदि पांच गुण कार्य हैं ।[६०]

पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, अहंकार व बुद्धि तीन वृत्तियां कला अर्थ में हैं ।[६१] उपर्युक्त तेइस तत्वों के विकरण (संयोजनकर्ता) भगवानीश्वर हैं । उस कल-विकरण को पाशुपत सूत्र में नमन किया गया है।[६२] पशु यह कार्य पदार्थ उद्देश्य का है उसका विस्तर विद्या, कला, पशु है ।[६३] भगवान लकुलीश ने इस कार्य-करण

सम्बन्ध को "कलितासनम्" नाम से सम्बोधित किया है अर्थात् विद्या, कला, पशु संज्ञक तीन प्रकार के कार्यों से उसी में स्थित, उत्पत्ति एवं प्रलय को प्राप्त होने के फलस्वरूप कलित अर्थात् शोभित। कार्य नित्य है क्योंकि कार्य पति का होता है। कारण रूपी ईश्वर या पालक के नित्य होने से पाल्य भी नित्य है। कार्य तीनों ही कालों में आसनस्थ (अध्यस्त) है।[६४]

प्रश्न यह है कि कार्य को भगवान् एकसाथ उत्पन्न करता है या क्रमशः? क्या वह कर्मापेक्ष है अथवा अनपेक्ष? उत्तर है यथेष्ठ।[६५] उन्हें सूत्र में "सर्वकामिक" कहा गया है अर्थात् विद्यादि कार्य निरवशेषवाची है। कामी ईश्वर काम उसकी इच्छा, काम्य विद्यादि कार्य हैं। वह क्रम या अक्रम से यथेष्ट उत्पादन करते हैं। ईश्वर कर्मापेक्ष है, वह अपनी शक्ति से विद्यादि कार्यों को करने वाला है। वह स्थान, शरीर, इन्द्रिय इत्यादि का प्रभु एवं कर्ता है।[६६] पशु त्रिविध है– देव, मनुष्य और तिर्यक्। ब्रह्मादि अष्टविध देव हैं, ब्रह्मादि मनुष्य हैं, तिर्यक्में पशु, मृगादि पञ्चविध हैं।[६७] भगवान् अनुग्रह करते हैं इसलिये पशु उस अलौकिक शक्ति का सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है। पशुपति के द्वारा कहा गया या अपनाया गया ज्ञानबोध पाशुपतदर्शन है।[६८]

कारण

समस्त वस्तुओं की सृष्टि, संहार और अनुग्रह करने वाले को कारण (ईश्वर) कहते हैं। यद्यपि यह एक ही है परन्तु गुण (सत्व, रज, तम) और कर्म (सृष्टि, स्थिति, संहार) के भेदों की अपेक्षा रखने के कारण इसके विभाग कहे गये हैं।[६९]

पति (नित्य ऐश्वर्युक्त) है। इस सूत्र में (पशु) पति का अर्थ है सर्वोच्च सर्वश्रेष्ठ (निरतिशय) दृक् शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त होकर उसी ऐश्वर्य के द्वारा नित्य सम्बन्ध धारण करना। आद्य का अर्थ है "ऐसा ऐश्वर्य जो आगन्तुक या आकस्मिक न हो अपितु नित्य हो।[७०]

पाशुपतसूत्र पञ्चार्थ भाष्य के अनुसार (सर्वव्यापक सर्वोपरि प्रभु,) शक्ति सम्पन्न, सर्वशक्तिमान होने के कारण पशुओं की रक्षा और पालन करने वाला पति होता है।ऐसा विभुत्व के कारण है। महाविभुशक्ति सम्पन्न होने के कारण, पशु उसका अतिक्रमण नहीं कर पाता है। इसलिये उसका पतित्व सार्थक व युक्तिसंगत है। पाशुपत सूत्रों से विदित होता है कि उसकी ज्ञानशक्ति अपरिमित और अनन्त है अतः वह उस शक्ति से अपरिमित पशुओं को अपने नियन्त्रण में रखता है इसलिये पति है। वह पालन, पोषण एवं प्रभुशक्ति से पति हैं।[७१] चूंकि प्रभुशक्ति उसके नियन्त्रण में है। अतएव प्राणियों की प्रवृत्ति, निवृत्ति, स्थिति इस शरीरेन्द्रिय सभी विषयों पर उसका अधिकार है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न होने के कारण उसको पति कहते हैं।समस्त कार्यों पर उसका अधिकार है इसलिये वह पशुपति है। यहां पशुपति शब्द को कार्य-कारण अनुग्रह आदि सभी ओर सांकेतिक

किया गया है । इस प्रकार अलौकिक अनुग्रह शक्ति उत्पन्न होने के कारण वह दुःखान्त प्राप्त करा सकता है ।[७२]

इस प्रकार वह अनादि, अज्ञान आदि से रहित, ऋषित्व एवं विप्रत्व संज्ञक महान ऐश्वर्स्य से युक्त होने के कारण महेश्वर है ।[७३]

वह सम्पूर्ण विद्याओं का ईशान है, ईशन् के कारण वह ईशान् है जिसका अर्थ है धाता प्रभु । वह सबका ईशान् है, विद्या, अर्थ, धर्म, काम, कैवल्य एवं उनके साधन में लीन जनों का ईशान है । वह सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर है ।[७४] निरतिशय ऐश्वर्य वाला, चैतन्य के समान पुरुष हैं वह सबका प्रभु है । ब्रह्म का अधिपति ब्रह्म भी वही है[७५] जिससे विद्या, कला एवं भूत फलते-फूलते हैं और जो इनसे बड़ा है वह अधिपति एवं ब्रह्मा है । यहां अधिपति श्वेताश्वतर के 'पतिनां' अर्थ में है ।[७६] पालन, दर्शन एवं भोग तीनों का पति है,[७७] वह ईश्वर ब्रह्मादि का पालन करता है, उनके कार्य की रक्षा करता है । इस प्रकार विद्यादि कार्य जिससे वृद्धि को प्राप्त करते हैं उससे भी वह बड़ा है इसीलिये अधिपति ब्रह्मा एवं भगवान हैं । उस भगवान् पशुपति को शिव कहा गया है । जिसमें पशु सदा के लिये लीन हो जाता है ।[७८] वह परिपूर्ण एवं परितृप्त होने के कारण शिव है । उस भगवान् की अनेक मूर्तियां है-अतिशान्त एवं अनुग्रहकारी स्वरूप है । उन्हें घोर अर्थात् अशिव, अशान्त भी कहा गया है[७९] वह घोर एवं घोरतर है ।[८०] वे भगवान् सर्वत्र व्याप्त है, सर्वत्र प्राप्य है ।[८१] उनको विद्या इत्यादि कार्य के शरण के कारण शर्व कहा जाता है ।[८२] सर्व विद्यादि कार्य रुद्रस्थ है । इन सभी रुद्र रूपों का नमन करने का उपदेश है ।[८३] उस महादेव में लीन हो जाना लक्ष्य है[८४] यह स्वलीनता परशक्ति से ही प्राप्त होती है ।[८५]

इस प्रकार भगवान् का कारणत्व[८६] (पति होते हुये भी वह अजात् एवं भवोद्‌भव है ।[८७] वे अनन्त शरीरों के अधिष्ठाता हैं । बहुत्व वामदेव, ज्येष्ठ रुद्र, कामी, शङ्कर काल, विकरण, बल प्रमथ, सर्वभूतदमन, मन-अमन[८८] आदि से नानात्व[८९] का प्रतिपादन किया गया है आगे हम उनके एकत्व का प्रतिपादन करेंगे ।

वह अक्षर ब्रह्म ओङ्कार रूप में ध्येय है ।[९०] वे परब्रह्म पशुपति महान ऋषि विप्र भी हैं ।[९१] ऋषि भगवान् का नामधेय है । चूंकि सम्पूर्ण विद्यादि कार्य ईश्वर से होते हैं । अतः ऋषि हैं, चूंकि अपरिमित ज्ञान-शक्ति उनमें निहित है उसके द्वारा सम्पूर्ण जगत व्याप्त है इसलिये विप्र है । अभ्यधिकत्व अर्थ में वह उत्कृष्ट एवं महान है, दिक् क्रिया स्वरूप है, अनागन्तुक अकृत ऐश्वर्य उसके गुण का सद् भाव है, वे चैतन्य रूप अकृतक हैं । उन्हें वाग्विशुद्ध कहा जाता है क्योंकि वे रूप, रस, गन्ध, पुरुषादि से परे निष्कल रूप में है ।[९२]

इस दर्शन में ईश्वर को सर्वकामिक कहा गया है,[९३] यहां कामी ईश्वर है और काम उसकी इच्छा है तथा विद्यादि कार्य काम्य हैं । वह अक्रम या क्रम से यथेष्ठ उत्पादन

करता है । किन्तु वह अकर्मापेक्षी है कर्म, कामी महेश्वर की अपेक्षा रखते हैं किन्तु भगवान् ईश्वर कर्म या पुरुष की अपेक्षा नहीं रखते हैं इसीलिये ईश्वर कर्मपेक्ष है । उत्पाद्य, अनुग्राह्य (तिरोभाव्य) कल्पकत्व तथा अभावकत्व रूप से अपरिणामिता तथा मुक्त आत्माओं का पुनः दुःखों से संयोजन कारण ही मर्यादा है । उत्पाद्य, अनुग्राह्य, तिरोभाव्य एवं सृष्टि का अन्त या प्रलय (कल्पकत्व), यह कार्य की मर्यादा है ।[९४]

शक्ति

कार्यों के द्वारा भगवान् रुद्र से कथित महेश्वर की भक्ति सनातनी है, यहां उस विद्या इत्यादि कार्य को कलित करने वाला, यह अर्थ है ।[९५]

उस पशुपति का अपर नाम शङ्कर है जिसमें अनन्य शक्ति का निर्देश है ।[९६] समस्त दुःखों के निर्णायक होने के कारण उन्हें शंकर कहा गया है । क्षपान्त काल में त्रैलोक्य शङ्कर में लीन होता है अतः उन्हें संवर्तक[९७] धाता कहा गया है । वे परमकारण ब्रह्म भी हैं ।[९८] उनके कारणशक्ति का ज्ञान करके साधक आठ नमस्कारों द्वारा आत्मदान करता है जो इस प्रकार है —वामदेव, ज्येष्ठ व रुद्र को नमस्कार,[९९] काल को नमस्कार,[१००] (यहां काल महेश्वर का पर्याय है) । ब्रह्मादि से लेकर कण पर्यन्त यह चराचर जगत चूंकि रुद्र के द्वारा कलित होता है अतः रुद्र को काल कहा जाता है । वे कलाओं के द्वारा काल्यों को कलित करते हैं तथा कलन, कालन के कारण उन्हें काल कहा जाता है । रुद्र में देवता और पितर दोनों निवास करते हैं । कहा गया है देवताओं एवं पितरों के समान-यहां त्रिविध सत्व कार्य ईश्वर में प्रतिष्ठा, प्रसव, संयोग, वियोग, सुख, मोह, बन्ध, एवं मोक्ष दातृता के कारण ईश्वर ही समस्त रूप से परमकारण के रूप में प्राप्त होता है ।

"कला विकरण"[१०१] सूत्र में कला का अर्थ कार्य -करण है—पृथ्वी, जल, इत्यादि कार्य हैं, इन्द्रियां मन आदि करण है, इनके विकरण भगवान् ईश्वर हैं (दृक् एवं क्रियाशक्ति के अप्रतिघात के कारण) । शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध व कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियां तथा मन, बुद्धि, अहंकार ये करण हैं । भगवान् में अभ्याधिकत्व हैं और शेष पुरुषों में न्यूनत्व है । इस प्रकार यह कार्य-कारण का विश्लेषण करने पर यहां द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की गयी प्रतीत होती है ।

यहां कार्य-कारण का वृत्तिशङ्कर दोष नहीं है ।[१०२] यह सम्बन्ध दीप और आदित्य के प्रकाश को ले जाने वाली रश्मियों के समान है । यहां महेश्वर तत्व व्यापक है पुरुष इत्यादि पच्चीस तत्व व्याप्य हैं । इसी प्रकार पुरुष आत्मा होने के कारण व्यापक है तथा प्रधान इत्यादि चौबीस तत्व व्याप्य हैं । आगे यह क्रम निम्न है ।

व्यापक - व्याप्य (२३)

प्रधान - बुद्धि इत्यादि तेज तत्व ।

बुद्धि - अहंकार इत्यादि २२ तत्व ।

अहंकार - ग्यारह इन्द्रियां व दस विध कार्य ।

एकादश इन्द्रियां - शब्द आदि ५ सूक्ष्म भूत ।

शब्दादि पांच सूक्ष्मभूत - आकाशादि पांच महाभूत ।

आकाश - वायु इत्यादि चार भूत ।

वायु - तेज आदि तीन भूत ।

तेज - जलादि दो तत्व ।

पृथ्वी - भूमि, जल, रूप कार्य ।

भूमि, जल, रसरूपकारण - देवतिर्यक्योनि, वृक्ष, वनस्पति, औषधि आदि ।

यहां हरिद्रा एवं जल के समान व्याप्य और व्यापक दोनों हैं इनमें अपरिच्छेद दोष नहीं है । विभुता होने पर कार्य एवं कारण का अपनी वृत्ति से सर्वगत होने पर भी वृत्ति का संकर नहीं होता इसीलिये कार्य एवं कारण आसनस्थ है जैसा कि पहले बताया गया है ।[१०३]

भगवान लकुलीश ने उन्हें बल-प्रमथन कहा है,[१०४] धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, द्वेष, इच्छा, प्रयत्न आदि विद्या वर्गरूप बल हैं । भगवान् में इनका अभ्यधिकत्व है शेष पुरुषों में न्यूनत्व है । प्रमथन का अर्थ है-बलवृत्ति का निरोध, समुद्र मन्थन के समान ।

वे सर्वभूत दमन भी हैं[१०५] यहां सिद्धेश्वर को छोड़कर सभी चेतन के लिये भूत शब्द-शक्तियां हैं । वह सकल, निष्कल दोनों रूपों में है ।[१०६]

कार्य-कारण रहित निष्कल भगवान् को अमनकर्ता कहा जाता है ।[१०७] महेश्वर में सकलेत्तरो की अनुग्राहिका शक्ति विद्यमान है । उन्हें सर्वज्ञाता, सर्व वेत्ता, अगम्य, प्रथम महानपुरुष कहा गया है ।[१०८] वे पशुपति भगवान् अघोर अर्थात् सुखकर अनन्त शरीरों के अधिष्ठाता कहे गये हैं ।[१०९] कारणत्व-बहुत्व रूप से भगवान् का रूप नानात्व, वैलक्षण्य, अपरिमित और अपरिमितत्व कथन के लिये "अघोरों के लिये" यह सूत्र कहा गया । इन अनन्त सुखकर शरीरों का वर्णन पहले ही इसी अध्याय में किया गया है ।

यहां कारण रूप पशुपति को सद्योजात् कहा गया है ।[११०] अर्थात् उनका पतित्व नित्य, ध्रुव एवं अविनाशी है, वह जन्म-मृत्यु रहित, अजात एवं निरञ्जन हैं । वह स्वयं[१११] उत्पादित, अनुगृहीत तथा तिरोभावित पशुओं का पति है । विद्या, कला एवं पशुओं का भवन-भावन कर्ता है ।[११२] चूंकि वह उत्पादक, अनुग्राहक एवं तिरोभावक धर्मी है इसीलिये उन्हें भवोद्भव नाम से भगवान् लकुलीश ने सम्बोधित किया है ।[११३]

कार्य-कारण सन्बन्ध

ईश्वर-क्रीड़ा या लीला धर्मी है इसीलिये उसे 'श्रेष्ठ एव देवस्य' ऐसा कहा गया है।[११४] वह भगवान् क्रीड़ा शील होकर विद्या, कला, पशु संज्ञक तीन प्रकार के कार्यों को करता हुआ उसको अनुगृहीत एवं तिरोभावित करता है।[११५] वह ज्येष्ठ एवं परतर तथा परतम है।[११६] उसका ऐश्वर्य अकृतक व वास्तविक है।[११७] चूंकि वह सर्वभूतों में श्रेष्ठ है इसलिये पर है और पर के कारण ज्येष्ठ है, उसकी शक्ति दृक् क्रिया स्वरूप होने के कारण उसकी नित्यता तत्व धर्मी है। वह अनेक प्रकार के कार्यों तथा त्रिविध प्रकार के भयों से वह भूतों को संयोजित करता है इसीलिये उसे रुद्र कहते हैं।[११८]

वह अमृत स्वरूप अपनी इच्छा से अपनी शक्ति में अवस्थित विद्या, कला, पशु संज्ञक स्थिति, सृष्टि व प्रलय आदि कार्य को अपनी शक्ति से अध्यस्त करता है। इस प्रकार कार्य व कारण आसन में अवस्थित रहते हैं। इस रहस्य को समझाने के लिये ही लकुलीश ने "कलितासनम्" ऐसा कहा। पति का पतित्व, शक्ति, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, स्वगुण, सद्भाव सतत्व, तत्वधर्म यह सब आसन है।[११९] परवर्ती उपनिषदों की परम्परा में पशुपति को पञ्चकृत्य सम्पन्न कहा गया है।[१२०]

योग

पाशुपत सूत्रों में जिस अर्थ में योग शब्द प्रत्युक्त है सम्भवतः पूर्व की परम्परा में इस अर्थ में प्रचलित नहीं था। पतञ्जलि और उपनिषदों में योग शब्द का अर्थ "चित्तवृत्ति का निरोध" से अभिप्रेत है।[१२१] अमरकोष और महाभारत में उपाय, साधन या युक्ति अर्थ में है।[१२२] गीता में "योगः कर्मसु कौशलम्" अर्थ में योग शब्द व्यवहृत हुआ है।[१२३] श्वेताश्वतर में योग—साधना, ध्यान, ब्रह्म योग, प्रवृत्ति व साक्षात्कार अर्थ में विवेचित है।[१२४]

भगवान् लकुलीश द्वारा उपदिष्ट योग का अर्थ पञ्चार्थ भाष्य में " आत्मेश्वर (जीव व ईश्वर) संयोग" बताया है।[१२५] यह पुरुष द्वारा पाशुपत सूत्र एवं पाशुपत-सिद्धान्तों तथा तत्सम्बन्धी प्रेरणाग्रन्थों एवं सिद्धान्तों के अध्ययनादि कार्यों तथा नैमित्तिक कर्मों तथा भगवान् पशुपति के अनुग्रह से प्राप्तव्य है। जैसे स्थाणु के प्रयत्न किये बिना बाज पक्षी बैठ जाय।[१२६] श्वेताश्वतर में भी महेश्वर के अनुग्रह एवं गुरु की कृपा के आत्मेश्वर संयोग अथवा साक्षात्कार का अर्थ सांकेतित है।[१२७]

अध्ययनादि प्रेरणाप्रद सिद्धान्तों एवं उसके अनुग्रह से प्राप्त संयोग उभय कर्मज हैं तथा उनकी कृपा और साधना दोनों से प्राप्तव्य है जैसे दो मेषों के मिलन में परस्पर मिलन या संयोग। इसीलिये अनुरक्ति या विरक्ति अर्थात् संयोग और वियोग दोनों है, जिस प्रकार क्रियायोग।[१२८] यहां समाधि-लक्षण नामक योग में निरोध नहीं है। चित्त के द्वारा ईश्वर के साथ यह संयोग द्विविध कहा गया-

(१) **क्रिया योग** - क्रिया से युक्त जप-ध्यान आदि में।

(२) **क्रियोपरम्** - क्रिया की निवृत्ति वाला, इसमें महेश्वर में अचल भक्ति तत्वज्ञान, शरणागति आदि है।[१२९]

विधि

पाशुपत योग की प्राप्ति का उपाय "विधि" शब्द से अभिप्रेत है। यह एक क्रियमाण कार्य है। सूक्ष्म, स्थूल, सलक्षण और विलक्षण क्रियाओं को विधि कहते हैं। जैसे यज्ञ-विधि है। चूंकि यह किया जाने वाला कार्य हैऔर किया जा रहा है इसलिये विधि है। यह एक ऐसा उपाय है जो उपेय बन जाय, एक ऐसा साधन है जो साध्य हो जाय।[१३०]

यह विधि तीन अङ्गों वाली है—दान, यजन और तप। पाशुपत सूत्रों के माध्यम से निम्न आदेश भगवान लकुलीश ने योग के अन्तर्गत दिये हैं जिन्हें विधि के अन्तर्गत रक्खा जाता है।

भस्मना त्रिषवणं स्नायीत

भस्म से (प्रातः मध्याह्न, सन्ध्या) तीन समयों में स्नान करें। अग्नि व ईंधन से बना पार्थिव व दीप्तिवान भस्म होना चाहिये। यह पुण्यजनक एवं अध्यात्मिक धार्मिक कार्य है,[१३१] जो पाप आदि कालुष्य को दूर करता है। भस्म को अत्यन्त उत्कृष्ट और पवित्र कहा गया है। इससे तीनों कालों में शरीर से रगड़ कर स्नान करना चाहिये। भस्म से आत्मशुद्धि निःश्रेयस मार्ग का कारण है।[१३२]

भस्मनिशयीत

भस्म में ही शयन करे—साफ, पवित्र भूप्रदेश पर भस्म का संयोजन कर अध्ययन-अध्यापन आदि में लगे हुये चित्त से तथा प्रवचन, चिन्तन व भावाभिवेश से थक जाने पर सद्योऽजात् और पञ्चस्त्रोत उर्ध्वमुख ज्ञान को सुसंस्कृत कर रात्रि में शयन करना चाहिये।[१३३]

अनुस्नानम्

तीनों स्नानों के अन्तराल में भोजन, थूक, मूत्र, पुरीष इत्यादि से अशुद्धि के कारण मन्त्रादि स्नान के समान भस्म से स्नान करें।[१३४]

निर्माल्यम्

ताजे (विकच) पुष्प समूह को धारण करना चाहिये।[१३५]

लिङ्गधारी

पाशुपत व्रत धारियों को इस आदेश द्वारा विशिष्ट चिन्ह धारण करने का विधान है। जैसे गृहस्थ के लिये तीन वस्त्र, वास, दण्ड, कमण्डलु, मुण्डित केश, दाढ़ी मूँछ-रहित,

रहना तथा ब्रह्मचारियों के लिये दण्ड, कमण्डलु, मौञ्जी-मेखला यज्ञोपवीत, कृष्णचर्म एवं वानप्रस्थ के लिये करीर (जलपान), वस्त्र, वल्कल, दाढ़ी, जटाधारण करना, तथा संन्यासी के लिये—त्रिदण्ड, मुण्डित केश, कमण्डलु, कषाय वस्त्र आदि धारण करने का विधान है।[१३६]

आयतनवासी

आयतन में निवास करना चाहिये या भूप्रदेश, तथा आकाश या पेड़ के नीचे कही भी निवास करे उसे सिद्धि क्षेत्र या आश्रम बना ले।[१३७] आयतन में निवास करते हुए साधक को निम्न क्रियाएं करनी चाहिये।

हसितगीत-नृत-डुंडुकार नमस्कार जप्योपहारेणोपतिष्ठेत्

तीनों संध्याओं में सद्योऽजातादि मन्त्रों से संस्कृत, भस्म-स्नान करके, जप करते हुये आश्रम में जाना चाहिये। वहां पहुंचकर पूर्वजप के अनुसार प्रत्याहार हेतु ऊँ ऊँ ऊँ जपना चाहिये। कण्ठ और अधरपटों का विस्फूर्जन अट्टाहास है वही हसित है। महेश्वर की सभा में गुण-धर्मादि क्रियाओं के निमित्त चिन्तन तथा गान्धर्वशास्त्र के नियमानुसार नाम स्मरण गीत है—नाट्यशास्त्र के नियमानुसार हाथ-पैरआदि का उक्षेपण नृत्य है जो गीत के साथ ही करणीय है। जिह्वा के अग्रभाग व तालु के संयोग से पुण्यजनक वृषभ ध्वनि निःसृत करना डुंडुंकार है। अधर से मन्द उच्चारण के साथ नमस्कार करना चाहिये।[१३८] सद्योऽजातादि मन्त्रों की अक्षर पंक्तियों में मन से भावसंचार या विचार जप है। अपने को निमित्त मानकर इष्ट को अर्पित करना उपहार है। विधिपूर्वक प्रणाम करता हुआ सभी इन्द्रियों की क्रिया का प्रत्याहार करके भृत्य के समान उपहार की स्थिति में रहना चाहिये। अपसव्य रूप से प्रदक्षिणा करनी चाहिये।[१३९]

महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः

महादेव (पञ्चमुख) है उनके दक्षिण दिशा में जो मुख है उसी पार्श्व में उर्ध्वमुख (उसी ओर मुंह करके) हसित आदि क्रियाएं करनी चाहिये।[१४०]

यम और नियम

इस तन्त्र में अहिंसादि दस नियमों का पालन प्रमुख बताया गया है। अन्य सम्प्रदायों में पांच यमों- (अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, असंव्यवहार अस्तेय) तथा पांच नियमों (अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, आहार लाघव, अप्रमाद) का विधान है।[१४१] पातञ्जल योगदर्शन में इनकी चर्चा उपलब्ध होती है।[१४२] यहां उपचार अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अहिंसा

इस तन्त्र में सभी प्रकार की हिंसा को प्रतिसिद्ध माना गया है । यह हिंसा तीन प्रकार की बतायी गयी है । (१) दुःख उत्पन्न करना, (२) अण्डभेद करना और (३) प्राण निर्मोचन करना ।[१४३]

(१) दुःखोत्पादन का तात्पर्य आक्रोश, तर्जना, ताडन, निर्भर्त्सन इत्यादि है ।चारों प्रकार के प्राणियों (अण्डज, उद्भिज, स्वेदज, जरायुज) के प्रति मानसिक, कायिक कर्मों द्वारा द्रोह दुःखोत्पादन नामक हिंसा है ।

(२) अण्डभेद से तात्पर्य दाह, ताप, धूप, धूमोपरोध इत्यादि के परिहार के लिये अग्नि करण, आदान, सम्प्रदान, धौंकना न करें और न करावे ।

(३) प्राणनिर्मोचन का अर्थ है वस्त्र, छींका, भस्माधार, भिक्षापात्र, इत्यादि को बार-बार सुव्यवस्थित करना, सूक्ष्मप्राणियों के पंख, ताल वृत्त और वस्त्रों के बार-बार साफ करना चाहिये । समग्र भूतों पर दया की दृष्टि से वर्षा में एक स्थान पर निवास करना ।[१४४]

पवित्र भू भाग पर रहें, पवित्र जल ग्रहण करें, सत्य से पवित्र वचन बोलें, मन से पवित्र आचरण करें । भोजन में काण्ड, कन्द, उगने वाले खाद्य, पके हुये बीज को परिवर्जित करना चाहिये । इस प्रकार अहिंसा के समान कोई फल नहीं है ।[१४५] इसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी इस तन्त्र में सिद्ध है वह स्त्री के प्रतिषेध और इन्द्रियों के जय से सिद्ध है ।[१४६] सत्य भी इस तन्त्र में सिद्ध होता है ।यह दो प्रकार का है-(१) परिदृष्ट वस्तु का वास्तविक कथन तथा वाक्सत्य ।[१४७] परिदृष्ट भूतार्थ वचनरूपी सत्य तन्त्र में व्याख्यान[१४८] और विद्वानों के उपदेश[१४९] से सिद्ध होता है । इसी प्रकार वाक् सत्य भी इस तन्त्र में सिद्ध होता है ।[१५०] असंव्यवहार भी तन्त्रसिद्ध है-अव्यक्त प्रेत[१५१] और उत्पन्न मूढ़ों[१५२] के उपदेश से ऐसा सूत्र में कहा गया है । विधि विहित होने के कारण स्वशास्त्रोक्त भाषणगत असत्य भी सत्य बन जाते हैं ।[१५३] आवास के उपदेश और अनुत्सृष्ट अन्न के प्रतिषेध से[१५४] अस्तेय भी इस तन्त्र में सिद्ध है । यहां स्तेय छह प्रकार के बताये गये हैं (१) अदत्तादान,[१५५] (२) अनतिसृष्ट ग्रहण,[१५६] (३) अनभिमत ग्रहण,[१५७] (४) अनधिकार ग्रहण,[१५८] (५) अनुपालम्भ,[१५९] (६) अनिवेदितोपयोग ।[१६०]

शूद्र के प्रतिषेध[१६१] और अतिताप के उपदेश से[१६२] अक्रोध भी इस तन्त्र में सिद्ध है ।[१६३] अक्रोध चार प्रकार का होता है ।[१६४] (१) भावलक्षण,[१६५] (२) कर्मलक्षण,[१६६] (३) वैकल्य,[१६७] लक्षण (४) उद्वेगकर ।[१६८] इस प्रकार के समस्त क्रोधों का परित्याग कर देना चाहिये । व्याख्यान[१६९] और विद्वानों के उपदेश से[१७०] गुरूशूश्रुषा भी इस तन्त्र में सिद्ध है ।[१७१] इसके अन्तर्गत अष्टांग ब्रह्मचर्य की भी चर्चा की गयी है उदाहरणार्थ—उत्थान, प्रत्युत्थान, अभिवादन, गुरुकार्य, हितकारी कार्य, संवेशी (सेवा)

प्रेषिताप्रेषित सर्वकार्य कृतज्ञ, सर्वनिवेदितात्मा, दक्ष, उदारतापूर्वक अनुराग, स्नान, उदवर्तन (वस्त्रसाफ करना), संवाहन (पांव दबाना) इत्यादि।[१७२]

भस्म स्नान के उपदेश से शौच भी इस मन्त्र में सिद्ध है।[१७३] यह शौच भी तीन प्रकार का है — (१) गात्र शौच, (२) भाव शौच, (३) आत्म शौच तथा जिससे साधक पवित्र होता है।[१७४] भैक्ष्य व यथालाभ तथा उत्सृष्ट के उपदेश के आहार लाघव भी इस तन्त्र में सिद्ध है।[१७५] भिक्षाटन से यथा प्राप्त धन का ही उपयोग यहां ग्राह्य है यह भैक्ष्य पांच प्रकार का होता है— (१) माधुकर (मधुकरी वृत्ति), (२) असंकल्प (विना संकल्प से प्राप्त) (३) प्राप्तवृत (पहले से ही जो प्राप्त हो रहा है) (४) अयाचित (५) तत्काल में उपपन्न अर्थात् प्राप्त।[१७६] अप्रमाद और जप्य के उपदेश से अप्रमाद भी तन्त्र में सिद्ध है।[१७७]

इस प्रकार पाशुपतसूत्रों में यमों का उपर्युक्त विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। साधक को शिवायतन में किस प्रकार रहना चाहिये इस सम्बन्ध में भगवान लकुलीश ने निम्न उपदेश किया।

एकवासा

लज्जा के प्रतिकार हेतु कौपीन या एक ही वस्त्र ग्राह्य है।[१७८]

अवासावा

साधक वस्त्ररहित जन्म के रूप निष्परिग्रही रूप में भी रह सकता है।[१७९] उसे मूत्र एवं पुरीष को इच्छा से नहीं देखना चाहिये।[१८०] उसे स्त्री एवं शूद्रों से भाषण नहीं करना चाहिये।[१८१] ऐसा विधान विषय रूपा, शौच व द्रोह के प्रभाव से बचने के लिये किया गया है। यदि अनचाहे अवेक्षण या भाषण करना पड़े तो उपस्पृष्य[१८२] अर्थात् भस्म से गात्र का संस्पर्शन करना चाहिये, यदि तब भी कलुष क्षीण न हो तो उसे प्राणायाम कर लेना चाहिये।[१८३] यदि प्राणायाम करने पर भी कलुष क्षीण न हो तो रौद्री अथवा बहुरूपी गायत्री का जप करना चाहिये।[१८४] ऐसा साधक अकलुष मति होता है।[१८४] साधक को विचरण करते रहना चाहिये।[१८६] इसके पश्चात् उसका योग प्रवृत्त होता है।[१८७] अर्थात् अध्ययनादि स्वरूप क्रिया योग प्रवृत्त होता है।[१८८]

योगप्रवृत्ति के कारण दूर, दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान इत्यादि इसके (साधक के) प्रवृत्त होते हैं।[१८९] इस सूत्र का आशय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अर्थ से लेना चाहिये।[१९०] प्रश्न यह है कि साधक को ज्ञान होता है अथवा नहीं ? अगले सूत्र में भगवान लकुलीश ने कहा "सर्वज्ञता"[१९१] अर्थात् जिस प्रकार स्फटिक पर प्रतिबिम्बित आदित्य सर्वतः प्रवृत्त होता है उसी प्रकार ज्ञान भी प्रवृत्त होता है। परन्तु साधक ज्ञान मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होता अपितु उसमें क्रिया शक्ति होती है जिसे "मनोजवित्व"[१९२] नाम से सम्बोधित किया गया है।अर्थात् मन के समान तीव्र गतिशीलता और आशुकारिता होती है उसी

प्रकार सिद्ध के कर्तव्य में शीघ्रता होती है ।[१९३] प्रश्न यह उठता है कि इस सिद्ध का कर्तव्य क्या है, ? करण अर्थात् साधन क्या है ? उत्तर अगले सूत्र में दिया गया यथा-"काम रूपीत्व" यहां कामी सिद्ध है, काम उसकी इच्छा है तथा काम्य रूप है ।[१९४] अर्थात् जितने रूपों की एवं जिस प्रकार के रूपों की इच्छा करता है उतने उस प्रकार के कर्म करता है इसके आत्मायत्त हो जाते हैं । रूप के साधन पृथ्वी इत्यादि के विभु होने के कारण साधक जहां-जहां रूपों का अभिनिर्वतन करता है वहां वहां इसके बुद्धि इत्यादि करणों को वृत्तिलाभ होता है । रूपी, इस कथन से रूपों का एकसाथ वह अधिष्ठाता होता है । विभु होने के कारण वह महेश्वर से अभिन्न होता है ।[१९५] इस प्रकार उसका ऐश्वर्य है यह अर्थ ध्वनित होता है । किन्तु यह सिद्ध क्या अपने द्वारा कृत रूपों में संहार में सक्त होता है ? उत्तर है साधक "विना करण" अर्थात् विकरण होता है ।[१९६] यहां करण के प्रतिषेध से कार्य का प्रतिषेध अपने आप हो जाता है । क्योंकि करण विशिष्ट ग्राहक एवं सूक्ष्म होते हैं । इसलिये विकरण यह कैवल्य है । सांख्य-योग की भांति ऐश्वर्य के द्वारा कार्य-करण त्याग में कैवल्य की निष्ठा अवशिष्ट है तो यहां इस मन्त्र से उससे भिन्नता क्या है ? उत्तर है साध्य-साधन की निष्ठा से भेद होता है । जैसा कि कहा है "धर्मित्व"[१९७] अर्थात् दर्शन इत्यादि से विकरण पर्यन्त माहेश्वर ऐश्वर्य-ईश के प्रसाद से स्वगुण से सम्पन्न होता है । यह गुणधर्म के कारण धर्मी होता है अर्थात् विना कार्य एक करण के भी वह ज्ञाता एवं कर्ता होता है अतः कैवल्य इत्यादि सर्वनिष्ठ रूप से विशेषित होते हैं ।

प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या दूसरे देव, मनुष्य, तिर्यक योनि रूप अन्य व्यक्तियों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों पर भी इस सिद्ध का प्रभुत्व या विभुत्व होता है ? इस समस्या के समाधान हेतु अगला सूत्र कहा गया है "और सभी इसके वश में हो जाते हैं ।"[१९८] यह भी प्रश्न उठता है कि क्या सिद्ध उनके वश में होता है ? उत्तर है नहीं, वह और सभी अवश हो जाता है ।[१९९] वह सबको वश में कर लेता है ।[२००] और सिद्ध सबके लिये अनावश्य होता है ।[२०१] यह सिद्ध यक्ष, राक्षस एवं पिशाचादिकों के समान आवेश मात्र में समर्थ होता है और सभी इसके लिये बध्य हो जाते हैं ।[२०२] और यह सभी के लिये अबध्य हो जाता है ।[२०३] क्योंकि सिद्ध अपने गुणों से ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है । उसका यह ऐश्वर्य नित्य है ।[२०४] वह अभीतः अर्थात् निर्भीक होता है ।[२०५] प्रलय काल में उसका क्षय नहीं होता है अतएव वह अक्षय है ।[२०६] जरा उसे नहीं सताती है वह अजर होता है ।[२०७] उसकी मृत्यु नहीं होती वह अमर होता है ।[२०८] वह सर्वज्ञ अप्रतिहत गति वाला होता है ।[२०९] इस प्रकार वह इन गुणों से युक्त साधक भगवान महादेव का महागणपति हो जाता है । क्योंकि उसका ऐश्वर्य अतिशय होता है । इसलिये महा शब्द का प्रयोग है जैसे नन्दि, महाकाल आदि है ।[२१०] साधक को यहं उस ब्रह्म का जप करने का निर्देश भगवान लकुलीश ने दिया है ।[२११] उस ब्रह्म का विभिन्न नामों से निर्वचन करते हैं ।यथा-

सद्यः अजात् के प्रति प्रपन्न होता हूं । जन्म-मृत्यु से रहित यह भगवान् निरञ्जन हैं ।[२१२] शरणागत होने बाद उसे (साधक को) उस सद्यः अजात् को प्रणाम करना चाहिये ।[२१३] यहां भव से अभिप्राय विद्या, कला एवं पशुओं से है उनके भवन-भावन से है जो भगवान प्रत्येक उत्पत्ति, अनुग्रह तिरोभाव में करता है ।[२१४] अतिशयी भवों में मैं न होऊँ ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये ।[११५] यहां भव से एकमात्र वियोग की इच्छा है अपितु प्रार्थना है मुझे भजो, मेरी रक्षा करो, मुझे अनुगृहीत करें ऐसा अर्थ है जो सूत्र में उपदिष्ट है कि मुझे भजो, यह प्रार्थना भवोद्भव उत्पत्ति कर्त्ता भगवान से की जानी चाहिये ।

पाशुपत योग-विधि के अन्तर्गत कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं जिन्हें अमङ्गल कहा जाता है । जैसे नमत्व, असव्यत्व, प्रदक्षिणा तथा हस्ति आदि साधनवर्ग किन्तु कारणमूर्ति के समार्थ्य से वह मङ्गल बन जाता है ।[२१६] देवताओं और पितरों के समान महेश्वर में वही भाव स्थापित करके यजन करना चाहिये ।[२१७] क्योंकि रुद्र में देवता और पितर दोनों होते हैं । इसलिये महेश्वर ही यष्टब्य है ।[२१८] अब यहां स्वात्मेश्वर संयोग रूप योग तथा जिस बल से उपवृंहित साधक का उसी यजन में उद्योग एवं अभिनिवेश है वह बल यहां विचारणीय है । उस बल प्राप्ति में जो उपाय है वे भी चिन्तनीय हैं । सूत्र में इसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिये "हर्षाप्रमादी" यह उल्लेख किया गया ।[२१९]

यहां हर्ष अर्थ है दिव्य विषयों, जिनका प्रकाशन विधान से उत्पन्न धर्म से होता है । विषयों में मद का अनुभव न करता हुआ धर्म व विद्या के बल से हर्ष में वह साधक अप्रमादी होता है ।[२२०] साधक में हर्ष आयतन में स्नान हसित इत्यादि तथा लोक में क्राथन एवं स्पन्दन इत्यादि विधिक क्रियायें करते हुये प्रमादरहित आचरण से वह हर्षाप्रभावी होता है उसे "चयाचर्यायाम्' सूत्र से भगवान लकुलीश ने सम्बोधित किया ।[२२१] इससे वह साधक माहात्म्य को प्राप्त करता है ।[२२२] अर्थात् जिसके सानिध्य से पराश्रद्धायुक्त होकर साधक स्नान, शयन अनुस्नान आदि क्राथन, स्पन्दन अध्ययन, ध्यान, धारणा, स्मरण करण में समर्थ होजाता है उस स्थिति को महात्म्य कहते हैं ।[२२३] जिस अभ्युपाय या साधन से वह माहात्म्य को प्राप्त करता है उसको सूत्र में "अतिदत्त व अतिष्ठ" कहा गया है ।[२२४] जिसका आशय यह है कि कायिक मानसिक तथा वाचिक क्रियाओं से पूर्ण समर्पण भाव से यजन करना चाहिये । इसके लिये अतितप्त तप करना चाहिये क्योंकि प्रकृष्ट तपस्या द्वारा हर्षोत्पत्ति लाभ सम्भव होता है ।[२२५] प्रकृष्टतप से यह ब्राह्मण अत्यागति को गमित या प्राप्त करता है ।[२२६] "तस्मात्" सूत्र का सन्दर्भ यह है कि अतिदान इत्यादि से निष्पन्न धर्म व अत्यागति को निरतिशय रूप से प्राप्त करता है ।[२२७] इसके बावजूद साधक को पुनः तप करना चाहिये ।[२२८] उसे भगवान् शङ्कर में अनन्य भक्ति रखना चाहिये जो समस्त सुखों के निर्वाणकर है जो संवर्तक और धाता

है[२२९] उसे इस ब्रह्म का जप भी करना चाहिये ।[२३०] ब्रह्म की शक्ति का ज्ञान करके साधक आठ नमस्कारों द्वारा आत्मदान करता है जिसका उल्लेख सूत्र में निम्नवत हुआ है ।

(१,२,३) वामदेव, ज्येष्ठ तथा रुद्र के लिये नमस्कार ।

(४) जगत को कलित करता है । काल के लिये नमस्कार । (यहाँ काल महेश्वर का पर्याय है वह सम्पूर्ण) ।

(५) कल विकरण के लिये नमस्कार ।

(६) बल प्रमथन के लिये नमस्कार । (यहां बल का अर्थ है धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य ।अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, द्वेष, इच्छा प्रयत्न आदि का वह प्रमथकर्ता है) ।

(७) सर्वभूत दमन को नमस्कार-सिद्धेश्वर को छोड़कर सभी प्राणी भूत हैं ।

(८) मन एवं अमन के लिये नमस्कार-कार्य-कारण रहित निष्कल भगवान को अमनकर्ता कहा गया है । उस महेश्वर में सकलेत्तरों की अनुग्राहिका शक्ति विद्यमान है । यहां महेश्वर अभ्यधिकत्व और शेष पुरुषों में न्यूनत्व है ।

विधि के अन्तर्गत पूर्व में उल्लिखित तथ्यों के व्यतिरिक्त अन्य की अवस्था काल देशादि को शुद्धि वृद्धि हेतु कहा गया है । साधक को अव्यक्त लिङ्गी होना चाहिये ।[२३१] अर्थात् साधक को अपनी क्रियाएं व्यक्त रूप से नहीं अव्यक्तरूपेण करनी चाहिये ।

व्यक्ताचार[२३२] - क्राथन इत्यादि को साधक को नट के समान अवस्थित होकर लौकिक जनों के समक्ष अधिजन्य नाटक के समान आचरित करना चाहिये ।

अवमत[२३३] -लिङ्गाचार मान से उनका ज्ञान विधि के विपरीत प्रवृत्ति को देखकर यह सर्वदोष दुष्ट है, इस प्रकार प्रमाण से अवमान होने पर लोक को परावर्जित करने वाला साधक अवमत होता है ।

अव्यक्त लिंगी, व्यक्ताचार , साधक को जिन विषयों के सन्दर्भ में अवमत होना चाहिये वे निम्न हैं-

सर्वभूतों के विषय़ में[२३४] परिभूयमान होकर विद्यमान करें ।[२३५] अर्थात् धर्म के अर्जन तथा नियोग में निन्दित है । अतः गर्हित व्यवहार का आचरण करना चाहिये । प्रश्न उठता है कि ऐसे साधक की तापशान्ति अथवा शुद्धि होती है ? उत्तर है होती है क्योंकि सूत्र में कहते हैं "अपहत पाप वाला" ।[२३६] परिभव अर्थात् वह नष्ट पापवाला होता है । दूसरों के परिवाद से भी वह अपहत पाप वाला[२३७] होता है । अर्थात् लोकसाधक को अव्यक्त है, प्रेत है, मूढ़ है, मूर्ख है, वायुरुद्ध दुष्कामी और असम्यग्वादी है इत्यादि उग्रवचनों से अपमानित होता है । इस तरह लोक निन्दित होने से साधक अपना पाप उनको (लौकिक जन) दे देता है[२३८] और उनका सुकृत भी ले लेता है ।[२३९] इस कारण

से उसे प्रेत के समान विचरण चाहिये और विचरण करते समय निम्न क्रियायें करनी चाहिये-[२४०]

क्राथन करें[२४१]

लौकिकों के समीप या कहीं राजमार्ग में बैठकर निद्रा लिंग, सिरशचलित जृभिका इत्यादि कर्म करना चाहिये। असुप्त होते हुये भी सुप्त के समान आचरण तथा प्राणरेचक वायु के कंठदेश में रोककर पुरू पुरू शब्द करना चाहिये। इससे लौकिक जन जो उसकी निन्दा करते हैं तब वह अपना पाप उनको देकर उनका सुकृत ले लेता है।

स्पन्दन करें[२४२]

ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नपूर्वक शरीर के अवय़वों को स्पन्दित करना चाहिये। ऐसा करने से लौकिक जन यह समझते हैं कि यह वायु संसृष्ट है उससे वे परिभूत होते हैं। इस अनृत के अभियोग से लौकिकों के पुण्य साधक को और उनको साधक का पाप प्राप्त हो जाता है।

अथवा मण्टन करें[२४३]

पाद वैकल्य दिखाना चाहिये क्योंकि लोग यह समझते हैं कि उसकी पादेन्द्रिय उपहत है। इस अनृत के अभियोग से उनका सुकृत साधक को प्राप्त होता है और साधक अपना पाप उनको दे देता है।

अथवा श्रृंगारण करें[२४४]

स्त्रीजन समूह से थोड़ी दूरी पर अधिदृष्टि निपात में स्थित होकर एक रूप यौवना स्त्री को लक्ष्यकर आलोचन, संकल्प, अध्यवसाय, अभिमान आदि का प्रयोग करें। अयुक्त इच्छा के अवलोकन होने पर केश संयमन आदि काम के प्रतीकों का प्रयोग करें। यह कामी है, अब्रह्मचारी है ऐसे अनृत का अभियोग होने पर उनके सुकृत साधक को और साधक का पाप उन्हें प्राप्त होता है।

अपितत्कुर्यात्[२४५]

अविरोधी यमों का, सुविरूप द्रव्यों का, काष्ट, लोष्ठ, आदि का ग्रहण, धारण एवं संस्पर्शन आदि करना चाहिये इससे लौकिक जन यह समझते हैं कि यह कार्य-अकार्य -विवेक-शून्य है। इस अनृत के अभियोग से साधन का पाप उनमें चला जाता है और उनका सृकृत साधक ले लेता है।

अपितत्भाषेत्[२४६]

व्यर्थ शब्दों का उच्चारण करे। इस अनृत से धर्माधर्म का त्याग तथा आदान की शुद्धि होती है।

इन क्रियाओं को अनेकशः करना चाहिये । ऐसा साधक आत्मप्रत्यक्ष को प्राप्त कर कृत्स्नतपा हो जाता है अर्थात् पर्याप्त सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।[२४७] उस ब्रह्म का जप और उन्हें नमस्कार करना चाहिये जो अघोर[२४८] (सुखकर अनंत शरीरों के अधिष्ठाता) घोर[२४९] (अशान्त अनुग्रहकारी) ,घोर-घोरतर[२५०] एवं सर्व[२५१] (सर्वव्याप्त), शर्व[२५२] (विद्यादि कार्य के शरणदाता) तथा रुद्र रूप हैं ।[२५३]

उपर्युक्त तप इत्यादि गूढ विद्याओं की रक्षा करनी चाहिये ।[२५४] चूंकि इससे महात्म्य , अतिगति इत्यादि गुण प्रकाशित होते हैं । अतएव साधक को गूढ़व्रत,[२५५] गूढ़ एवं पवित्रवाणी वाला[२५६] होना चाहिये तथा क्राथन इत्यादि द्वारों व इन्द्रियों को अवरुद्ध कर लेना चाहिये ।[२५७] ज्ञानरूप बुद्धि से इनका विधान करना चाहिये ।[२५८] यहां व्रत, वाणी एवं द्वार पिधेय है । इन गोपन क्रियाओं के उपरान्त साधक को उन्मत्त के समान लोक में विचरण करना चाहिये ।[२५९] कृतान्त (भिन्न एवं उद्‌भिन्न करके अकृत बीज काण्ड एवं फल आदि का प्रतिषेध) एव उत्सृष्ट (यथालब्ध) को ही ग्रहण करना चाहिये ।[२६०] ऐसा करने से इतर जन, उन्मत्त है, मूढ़ हैं, ऐसा मानते हैं जिससे साधक की शुद्धि-बुद्धि होती है क्योंकि यह चर्या महेश्वर द्वारा प्रोक्त है ।[२६१] कुशिक व ईशान से पहले पूर्वकाल में सर्वप्रथम इन्द्र ने असुरों में यह पाशुपत आचरण किया था ।[२६२] उन्होंने उन असुरों में शुद्धि-वृद्धि हेतु इष्ट और आपूर्त (मन्त्रपूर्वक विधि से आचरित) किया तथा सम्यक् रूप से इन क्राथनादि आचरणों के द्वारा उससे पुण्य ग्रहण किया ।[२६३] इसलिये इस आचरण में प्राप्त होने वाली निन्दा, अनिन्दा है ।[२६४] इस अनिन्दित तत्वगुण को जानकर साधक को विचरण करना चाहिये ।[२६५] इससे साधक अनिन्दित कर्मा हो जाता है ।[२६६] यह पथ सर्व विशिष्ट है[२६७] अन्य पथ कुपथ है ।[२६८] ऐसा साधक सत्पथ वाला कहा जाता है ।[२६९] इस विधि के रुद्र से समीप जाकर[२७०] कोई ब्राह्मण पुनरावर्तित नहीं होता है ।[२७१]

साधक अपनी साधना के अन्तर्गत उस परम पुरुष को प्राप्त करे, उसे जाने ।[२७२] वे परम पुरुष महादेव हैं । जिनमें विलीन होने या उस ज्ञान-क्रिया-शक्ति से संयुक्त होने का प्रयास करना चाहिये और यह भावना करनी चाहिये कि रुद्र हमें सबमें लीन कर लें ।[२७३]

भगवान महेश्वर में किस प्रकार का योग करना चाहिये इस सन्दर्भ में कहा गया है कि भक्ति सामीप्य, देवनित्यता, ध्यान, स्मरण आदि करना चाहिए ।यह निष्ठा योग एवं क्रिया योग है । ऐसे सामीप्य प्राप्त साधक के चित्त की स्थिति के सन्दर्भ में कहा गया है कि वह असङ्ग है अर्थात् उसके भाव की स्थिति महेश्वर में है ।[२७४] योगी है[२७५] अर्थात् उसका ईश्वर से संयोग हो गया है ।वह नित्यात्मा है[२७६] क्योंकि महेश्वर में निवृत्त है अज है,[२७७] मैत्र है अर्थात् महेश्वर में स्थित-चित्त साधक विनिवृत्त है ।[२७८] इन असङ्गादि भावों

में साधक जिन उपायों से प्रादुर्भाव होता है उनके सन्दर्भ में निर्देश है कि उसे इन्द्रियों का अभिजय अर्थात् उन्हें वश में करना चाहिये।[२७९] प्रश्न उठता है कि सांख्य-योगादि में असङ्गादि से युक्त पुरुष शान्ति को प्राप्त हुये तो क्या वे मुक्त हैं? परन्तु उन्हें युक्त नहीं कहा जायेगा मुक्त कहा जा सकता है। रुद्र ने इसीलिये इस प्रकार का आदेश किया और इसी कारण यह प्रवचन सम्पूर्ण तन्त्रों में श्रेष्ठ है।[२८०]

यह कहा गया है कि इन्द्रियों की विजय ज्ञान के द्वारा, रुद्र-प्रोक्त इन सूत्रों के आदेश के द्वारा करनी चाहिये। जैसा कि कहा है कि साधक को शून्यागार गुहावासी होना चाहिये।[२८१] और वही अपनी साधना करनी चाहिये।[२८२] यह इन्द्रियजयी साधक भगवान में नित्य हो जाता है[२८३] और उसे जितेन्द्रिय कहा जाता है।[२८४] छः मास तक इस नित्ययुक्त साधक को सतत् रूप में योग-युक्त होना चाहिये।[२८५] तब वह क्रमशः संप्रवृत्त होता है।[२८६] अर्थात् महेश्वर के प्रसाद से उसमें अशिवत्व के गुण निवृत्त होते हैं जैसे शब्द दूर दर्शन आदि।[२८७]

शून्यागार अथवा गुहा में रहते हुये उसे कपोत के समान भैक्ष्य ग्रहण करना चाहिये।[२८८] भ्रमण करते हुये जो कुछ मिल जाये उसे अलाबु दारू या वस्त्र के पवित्र पात्र में ग्रहण करना चाहिये। यदि भिक्षा में मांस, लवण भी मिल जाये तो ले लेना चाहिये।[२८९] यथाकाल जल भी ग्रहण करना चाहिये।[२९०] उस साधक को गो-मृग के समान सहिष्णु[२९१] और जल से अपने को पवित्र रखना चाहिये।[२९२] ऐसा सिद्धयोगी कर्म अथवा पातक से लिप्त नहीं होता।[२९३] उसे आत्म नियन्त्रित होकर इष्ट गायत्री (तत्पुरुष सम्बन्धी) ऋचा का अध्ययन करना चाहिये।[२९४] उसे रौद्री अर्थात् तत्पुरुषा अथवा बहुरूपी या अघोरा का अध्ययन-मनन करना चाहिये।[२९५] इससे वह योग में प्रवृत्त होता है।[२९६]

साधक को ओङ्कार का अभिध्यान करना चाहिये उसे हृदय में धारण करना चाहिये।[२९७] वह ओङ्कार भगवान का नाम धेय है। जिसे लकुलीश ने यह महान ऋषि विप्र है[२९८], वाग्विशुद्ध[२९९] महेश्वर[३००] कहा है। साधक को शून्यागार अथवा गुफा में रहकर दुःखान्त प्राप्ति के लिये कुछ अन्य साधना भी करनी चाहिये जैसे उसे श्मशानवास करना चाहिये।[३०१] ऐसा साधक धर्मात्मा[३०२] तथा यथालब्धोपजीवक (जो कुछ भी मिल जाय उसी पर जीवन यापन करने वाला) होता है।[३०३]

ऐसा साधक रुद्र-सायुज्य को प्राप्त करता है इसलिये उसे रुद्र का सदा अनुस्मरण करना चाहिये।[३०४] उसे दोषों के हेतु जाल के मूल का छेदन करना चाहिये अर्थात् शून्यगार या गुहा में अध्ययन, ध्यान धारण, मन्त्रण और आत्मभाव विश्लेषण करना चाहिये।[३०५] यहां छेदन से अभिप्राय काम, हिंसादि दोषों से है उसे आत्म अथवा परपीड़ा का भाव नहीं रखना चाहिये अपितु हमेशा जाग्रत रहना चाहिए, विषयों का क्षय करते

हुए विरक्त रहना चाहिये जो बन्धन के हेतु है। इनका मूलोच्छेदन बुद्धि से करना चाहिये।[३०६] उसे संचित अर्थात् गमन और अन्तःकरण से पवित्र रहना चाहिये[३०७] उसे चित्त को रुद्र में स्थापित करके[३०८] एकक्षेमी (शरीरादि विमुक्त और संपूर्ण शंकाओं को अतिक्रान्त करने वाला वीतशोक समस्त दुःख व चिन्तारहित) होना चाहिये।[३०९] यहां ध्यातव्य है कि सांख्य योग युक्त स्वात्मपरात्म रहित व्यक्ति संमूर्च्छत के समान रहते हैं किन्तु इस साधक को ज्ञान रहता है।[३१०]

दुःखान्त

सूत्र में कहा गया है ईश के प्रसाद से अप्रमादी दुःखान्त को प्राप्त करता है अर्थात् ईश के प्रसाद से अप्रमाद के द्वारा साधक दुःखान्त को प्राप्त करता है। यहां प्रमाद शब्द परतन्त्रता को ज्ञापित करता है। युक्त को इसीलिये अप्रमादी रूप में स्थिर रहना चाहिये तथा वर्तमान में माहेश्वर का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। दुःखों से यहां अभिप्राय आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःख से है। यहां आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है-शरीर एवं मानस। मन में होने वाला दुःख मानस है तथा शरीर दुःख में रोग, चोट, गर्भ, जन्म, जरा, अज्ञान व मरण है।[३११]

आध्यात्मिक अज्ञान, आधिभौतिक विषयीतत्व व आधिदैविक पशुत्व ये ३ प्रकार के अन्य दुःख भी हैं। यहां दुःखों का अत्यन्त एवं परम अपोह अर्थात् आत्यन्तिक व ऐकान्तिक विनाश (समग्र और नित्य) एवं गुण तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति परमोत्कृष्ट रूप में होती है। ईश्वर की कृपा और प्रसाद से यह सम्भव होती है।[३१२]

श्वेताश्वतर में महेश्वर व गुरु की कृपा से त्रिविध दुःखों के आत्यान्तिक नाश की चर्चा है।[३१३] सांख्यदर्शन में भी त्रिविध दुःखों की चर्चा है।[३१४] न्याय दर्शन में दुःख के एकान्तिक निवृत्ति की चर्चा है।[३१५] इसी प्रकार वैशेषिकों[३१६] योगदर्शन[३१७] व बौद्धों में[३१८] दुःखों के समग्ररूपेण नाश की चर्चा की गयी है।

यहां त्रिविध दुःखों का समग्र और नित्यरूपेण अन्त तो होता ही है अपितु परमैश्वर्य की प्राप्ति भी होती है।[३१९] यह दुःखान्त स्वेच्छया भगवान् नित्य रूप से प्राप्त कराते हैं।[३२०]

वह भगवान् ईशान है,[३२१] सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर है,[३२२] ब्राह्मण का भी अधिपति ब्रह्मा है।[३२३] अतः दुःखान्त को प्राप्त साधक शिव में एकीभाव हुआ आकांक्षा रखता है कि सदा अर्थात् नित्य रूप से शिव मेरे होवें।[३२४] वह तद् रूप हो जाता है। यहां शिव भगवान् का नामधेय है जो परिपूर्ण एवं परितृप्त हैं। यहां शिव भगवान् का नामधेय है जो परिपूर्ण एवं परितृप्त है। उस सदाशिव के अनुग्रह से दुःखान्त नित्य रूपेण प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार यह भगवान् लकुलीश प्रोक्त पाशुपत दर्शन जो कार्य-कारण योग-विधि एवं दुःखान्त रूपेण उपदिष्ट है जिसे पञ्चार्थ नाम से सम्बोधित करते हुये भगवान् कौण्डिन्य ने समास-विस्तर, विभाग-विशेष, उपसंहार, निगमन के माध्यम से व्याख्यान किया यहां पूर्ण हुआ।[३२५]

सन्दर्भ

१. द्रष्टव्य पूर्व खण्ड "लकुलीश और उनकी परम्परा" भाग. इसी ग्रन्थ में ।
२. पाशुपतसूत्र पञ्चार्थ भाष्य अ. १/सू. १/पृ. ३, ४.
३. द्रष्टव्य पूर्व खण्ड श्वेताताश्वतर और उनकी परम्परा भाग १ इसी ग्रन्थ में ।
४. द्रष्टव्य उपनिषदों का परिवेश - आलोक मणि त्रिपाठी-ऋतम्भरा अंक ४३.
५. द्रष्टब्य पूर्व खण्ड-शतरुद्रीय और उसकी परम्परार ।
६. पाशुपतिसूत्र पञ्चार्थ भाष्य अ. १/१/पृ. ५, अ. ५/सू. ४७/पृ. १४६-४७
७. कठ. २/३/१२ पर शङ्करभाष्य सर्वविशेषरहितोऽपि जगतोमूलम् । तै. ३, वृ. ३/८; बृहदा. उ. २/४/७ पर शङ्करभाष्य.
८. छान्दोग्य उ. १/३/१४
९. श्वेता. १/३ यः कारणानि निखिलानि १/१.
किं कारणंब्रह्म ६/९, ६/१३, ६/१७.
१०. मैत्राण्युपनिषद्, ३/२, ३/३, ६/७, ६/३४.
११. श्वेता. ३/१, २.
१२. श्वेता. ४/१ .
१३. श्वेता. ६/८ परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिय ाच ।
१४. श्वेता. ४/५.
१५. श्वेता. ४/१०.
१६. श्वेता. ४/११.
१७. श्वेता. ५/१.
१८. श्वेता. ६/१०.
१९. श्वेता. ५/१४.
२०. उपनिषदों में अविद्या शब्द केवल अज्ञान के लिये प्रत्युक्त है। छा. १/१/१०, ४/३/२०, ४/४/३.
२१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य अ. १/१; विप्रत्वाच्च (अ. ५ सू. २६, २७) ऋषिर्विप्रो महानेषः वाग्विशुद्धः ।
२२. श्वेता. ५/२८, ५/२६.
२३. श्वेता. ५/४७.

२४. श्वेता. २/६.

२५. श्वेता. ५/४२.

२६. सर्वदर्शनसंग्रह पृ. ३०७' नकुलीशपाशुपतदर्शनम्' ४, कार्यनिरूपणम्।

२७. पूर्व उद्धृत।

२८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य अ. २/५ यहाँ कारण व कार्य दोनों नित्य है। सांख्य में जिसे प्रकृति पुरुष आदि २५ तत्वों को स्वीकारा गया है। यहाँ महेश्वर के पश्चात् कार्य के अन्तर्गत उन २५ तत्वों को स्वीकार कर लिया गया है।

२९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/५.

३०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य/ ५/४७.

३१. श्वेता. ४/१६, ५/१३, ६/१३.

३२. द्रष्टब्य अष्टादश उपनिषद्, श्वेता. ६/२ में दुःख की समस्या को उठाया गया है तथा ६/२० में त्रिविंध दुःखों के आत्यन्तिक नाश की चर्चा है।

३३. सांख्यकारिका ६८ त्रिविध दुःखों की चर्चा है।

३४. न्यायसूत्र (गौतम) १/१/२ में दुःख के एकान्तिक निवृत्ति की चर्चा है।

३५. वैशेषिक सूत्र (प्रशस्तपाद भाष्य) दुःख प्रकरण ३२.

३६. पातञ्जलियोगदर्शनम् १/३१.

३७. बौद्धदर्शनम सर्वदर्शनसंग्रह २८.

३८. पा. सू. पञ्चार्थभाष्य अ. १/सू. १/पृ. ४ सर्वदर्शनसंग्रह नकुलीश पा. द. १/पृ. २९९ अर्थ पूर्व प्रकृतश्च गुरु प्रति शिष्यस्य प्रश्नः।

३९. पा. सू. पञ्चार्थभाष्य अ. १/सू.१/पृ. १-४ सर्वदर्शन संग्रह नकुलीश— अतः शब्देन दुःखान्तस्य प्रतिपादनम्।

४०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. अ. १/सू. १/पृ. ३ से ४.

४१. तत्रैव १/१पृ. १ मङ्गलाचरण पञ्चार्थ क्रियते भाष्यं कौण्डिन्येनानपूर्वशः पाठान्तरपञ्चार्थ सम्प्रवक्ष्यामि यथावदनुवशः।

४२. पाशुपत सूत्र.

४३. द्रष्टब्य पूर्व अध्याय शतरूद्रीय व उसकी परम्परा - सद्योऽजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष व ईशान।

४४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य अ. ५/सू. ४७/पृ. १४६ एवमेते पञ्चपदार्थाः कार्यकारण योगविधि दुःखान्ताः समास विस्तर विभाग विशेष, निगमानतश्च व्याख्याताः।

४५. वेदान्त सूत्र शाङ्कर भाष्य २/२/३७-४१.

४६. द्रष्टब्य पूर्व खण्ड लकुलीश और उनकी परम्परा।

४७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य अ. ५/४७पृ. १.
अत्र तावत पतिरिति कारणपदार्थस्योपदेशः -- तथा पशुरिति कार्य पदार्थास्याद्द्रदेशे ।: सर्व. द. सं., नकुलीश पा दर्शनम्, २/३०३ पशुशब्देन कार्यस्य पतिशब्देन कारणस्य।

४८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/१/४-५.

४९. सर्वदर्शन संग्रह, न. पा. द. ४/पृ ३०७.
५०. पाशुपत सूत्र पञ्चार्थ भाष्य १/९.
५१. पाशुपतसूत्र पञ्चार्थ भाष्य १/१/पृ. ५.
५२. कार्य़रूप में कला (विषय रूपा) करणरूप में इन्द्रिय रूप में ही इन्द्रिय रूपा; पा. सू. २/२४.
५३. पाशुपत सूत्र, पञ्चार्थ भाष्य उद्धरण १/१/पृ ५.
५४. पा. सू. प. भाष्य १/१/पृ. ५.
५५. सर्व. द. सं. ,न. पा. द. ४/पृ. ३०७.
५६. तत्रैव पृ. ३०७.
५७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४७.
५८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२४ ; सर्व. द. सं. ,न. पा. द. ४/३०७.
५९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२४; गणका. पृ. ११ कार्य-कारणख्यानां कलानां स्थान शरीदादिभावेन संयोजकत्वं कलाविकरणत्वम् ।
६०. तत्रैव
६१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२३.
६२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४७.
६३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/५.
६४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/५ जैसा कि आगे कहा गया है ।
६५ पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/६, २/२३.
६६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४७.
६७ पा. सू. पन्चार्थ भाष्य १/१/६.
६८. सर्वदर्शन सं. न. पा. द. ५/पृ. ३०९.
६९. सर्वदर्शन सं. न. पा. द. ५/पृ. ३०९.
७०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य विप्रत्वाच्च ५/२६, २६ एवं ऋषिविप्रो, महानेषः ।
७१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य, यहाँ दुःखान्त केवल अभावात्मक या निरोध नहीं है अपितु उसमें स्वातन्त्र्य की उपलब्धि होनी चाहिये जहाँ कारण-शक्ति की असीमता है - द्रष्टब्य पादटिप्पणी अनुवाद, भाग ।
७२. तत्रैव ५/२६ अत्र ऋषिः इत्येतद् भगवतो नामधेयम् --विद्याद्यमीशत इत्यतः ऋषिः विप्र इत्येतदपि भगवतो नाम--विप्रत्वं नाम् ज्ञानशक्तिः ॥
७३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४२.
७४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४३.
७५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४४ वेदों एवं सृष्टि का ।
७६. श्वेताश्वत,र ६/७
७७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४७.
७८. पा. सू., पञ्चार्थ भाष्य ३/२२.

७९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/२३.
८०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/२४.
८१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/२५.
८२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/२६.
८३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ४/२३.
८४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ४/२४.
८५. तत्रैव १/३८, ४०, ४४.
८६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/३८, ४०, ४४ भवन-भावनकर्ता त्रिविधकार्य ।
८७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/१४, १६, २०, २३, २७.
८८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/२१, २३ घोर अघोर घोरतर ।
८९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/२४.
९०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/२६.
९१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/२७.
९२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/६.
९३. तत्रैव
९४. तत्रैव
९५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२०.
९६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२० प्रलयाग्नि ।
९७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२१.
९८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२२ एवं द्रष्टव्य शतरुद्रीय व उसकी परम्परा ।
९९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२३.
१००. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२४.
१०१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/५.
१०२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/५ पृ. ५८, ५९.
१०३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२५.
१०४ पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२६.
१०५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२६ द्रष्टब्य श्वेताश्वतर का दर्शन
१०६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२७.
१०७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२७ तत्रैव शत. एव श्वेताश्वतर
१०८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/२१.
१०९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/४०.
११०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/४१.
१११. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/४२, ४३, ४४.
११२. तत्रैव
११३ पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/१, २.

११४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२.
११५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/३.
११६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/३.
११७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/४.
११८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/५.
११९. जाबाल्युपनिषद् ११, १३ सर्वज्ञः पञ्चकृत्य सम्पन्न सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः ॥ ११.
जीवा पशवः उक्ताः । तत्पतित्वादत् पशुपतिः ॥ १३.
१२०. पातञ्जलि योग, समाधिपाद २ —योगश्चित्तवृति निरोधः ॥ क. उ. ६/११.
१२१. अमरकोष ३/३/२२; महाभा. द्रोणपर्व १८१/३१, उद्योगपर्व १७२.
१२२. गीता २/५०.
१२३. श्वेता. २/८, १०, ११, १३, १४.
१२४. पा. सु. पञ्चार्थ भाष्य १/१/१६ यहाँ आत्म का अर्थ जीव से है, जीव ईश्वर का संयोग ।
१२५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/१/६.
१२६. श्वेता. ६/२३, ६/२१.
१२७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/१/६ एवं पा. यो. सू. साधनपाद २/१ तपः स्वामेश्वर प्रणिधानक्रियायोग
१२८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/२; सर्वदर्शन सं. ,न. पा. दर्शनम् ५/३१०.
१२९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/१/पृ. ६, ७.
१३०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/३१.
१३१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/३१पृ. ९.
१३२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/३/९, १०.
१३३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/४/१०.
१३४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/५/११.
१३५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/६.
१३६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/७.
१३७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/८.
१३८. तत्रैव
१३९. तत्रैव १/९.
१४०. तत्रैव १/९/१५, १६.
१४१. पातञ्जल योगदर्शनम्, साधनपाद २९, ३०, ३२.
सा. पा. ३० - अंहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य परिग्रह यमा ।
सा. पा. ३२ - शौच, सन्तोष, तप, स्वध्याय, ईश्वर प्रणिधानि नियमाः ।
१४२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९/पृ. १६, १७.
१४३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९/पृ. १६, १७.
१४४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९/(१).

१४५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९/(२) अ. १ सू. १३ स्त्रीशूद्रं नाभिभाषेद्। अ. ५ सू. ७ इन्द्रियाणां अभिजयात्।
१४६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९/(३).
१४७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/१.
१४८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/१९.
१४९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/२७.
१५०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ३/१, २.
१५१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ४/६, ८.
१५२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/२७.
१५३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ४/७.
१५४. बिना दिये हुए कोई वस्तु ग्रहण करना।
१५५. बालक, उन्मत्त, प्रमत्त एवं दुर्बलों के वित्त का अपहरण।
१५६. की,ट भ्रमरपक्षी, पतंग इन्द्रियादि का अनभिप्रेत द्रव्यग्रहण।
१५७. बिना अनुज्ञा के गो, भूमि, सुवर्ण, द्विपद या चतुष्पद का ग्रहण।
१५८. कुहक, कल्कन, डिम्ब, विस्मापन, वर्धायन आदि से वस्तुओं को ग्रहण करना।
१५९. भज्य, भोज्य, लेह्य, चोह्य, पेय आदि को गुरू को दिये बिना ग्रहण करना।
१६०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य अ. १/सू. १३.
१६१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/१६.
१६२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९/(६).
१६३. असूया, द्वेष, मद, मान, मात्सर्य इत्यादि।
१६४. कलह, वैर, संप्रहरण (मारपीट)।
१६५. पाणि, पादा नासा, अक्षि, अंगुली इत्यादि प्रहरण के भाव।
१६६. स्वयं को या अन्य को प्राणरहित करना।
१६७. पा. सू. /१/१.
१६८. पा. सू. ३/१९.
१६९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९ (७).
१७०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य अत्रैव।
१७१. पा. सू. १/२.
१७२. द्रष्टब्य पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९/(८).
१७३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/९/(९) एवं ५/१४, ४/७, ५/३२.
१७४. तत्रैव
१७५. तत्रैव २/१२, १/८.
१७६. तत्रैव १/१०.
१७७. तत्रैव १/११.
१७८. तत्रैव १/१२.

१७९. तत्रैव १/१३ .
१८०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य १/१४, १५.
१८१. तत्रैव १/१६ .
१८२. तत्रैव १/१७ .
१८३. तत्रैव १/१८ .
१८४. तत्रैव १/१९.
१८५. तत्रैव १/२० .
१८६. तत्रैव
१८७. तत्रैव १/२१ भाष्य ।
१८८. यहाँ ज्ञाता सिद्ध है, ज्ञान इसका सिद्धि रूप ज्ञान है तथा ज्ञेय कार्यकारण एवं सिद्ध ।
१८९. पा. सू. १/२२ भाष्य ।
१९०. पा. सू. १/२३ भाष्य ।
१९१. पा. सू. १/२३/ भाष्य ।
१९२. पा. सू. १/२४ भाष्य ।
१९३. पा. सू. १/२४ भाष्य द्रष्टब्य ५/३३.
१९४. पा. सू. १/२५ भाष्य ।
१९५. पा. सू. १/२६ एवं भाष्य ।
१९६. पा. सू. १/२७ भाष्य ।
१९७. पा. सू. १/२८ भाष्य ।
१९८. ाा. सू. १/२९ᵗभाष्य ।
१९९. पा. सू. १/३० भाष्य ।
२००. पा. सू. १/३१ भाष्य ।
२०१. पा. सू. १/३२ भाष्य ।
२०२. पा. सू. १/३३ भाष्य ।
२०३. पा. सू. १/३४ भाष्य ।
२०४ पा. सू. १/३५ भाष्य ।
२०५. पा. सू. १/३६ भाष्य ।
२०६ पा. सू. १/३७ भाष्य ।
२०७. पा. सू. १/३८ भाष्य ।
२०८. पा. सू. १/३९ भाष्य ।
२०९. पा. सू. १/४० भाष्य ।
२१०. पा. सू. १/४१ भाष्य द्रष्टब्य रुद्राध्यायी (तै. आ.) ॐ सद्योऽजातप्रप्रद्यामि ----नमः ।
२११. पा. सू. १/४२ भाष्य ।
२१२. पा. सू. २/८ .
२१३. पा. सू. २/१०.

२१४. पा. सू. २/१..१
२१५. पा. सू. २/१२.
२१६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१२.
२१७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१३.
२१८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१४.
२१९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१४.
२२०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१५.
२२१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१६.
२२२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१७.
२२३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१८.
२२४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/१९.
२२५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/२०.
२२६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/२१ १, २, ३, पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य २/२२.
२२७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/२३.
२२८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/२४.
२२९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/२५.
२३०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. २/२६ २७.
२३१. तत्रैव
२३२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१.
२३३ पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२
२३४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/३.
२३५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/४.
२३६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/५.
२३७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/६.
२३८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/७.
२३९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/८.
२४०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/९.
२४१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१०.
२४२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१२.
२४३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१३.
२४४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१४.
२४५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/५.
२४६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१६.
२४७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१७.
२४८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१८.

२४९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/१९.
२५०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२०.
२५१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२१.
२५२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२२.
२५३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२३.
२५४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२४.
२५५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२५.
२५६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२६.
२५७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ३/२७.
२५८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१.
२५९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/२.
२६०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/३.
२६१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/४.
२६२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/५.
२६३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/६.
२६४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/७.
२६५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/८.
२६६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/९.
२६७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१०.
२६८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/११.
२६९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१२.
२७०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१३.
२७१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१४.
२७२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१५.
२७३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१६.
२७४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१७.
२७५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१८
२७६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/१९.
२७७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/२०.
२७८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/२२.
२७९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ४/२४.
२८०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१.
२८१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२
२८२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/३.
२८३. पा. सूं. पञ्चार्थ भाष्य. ५/४.

२८४. पा. सू. पञ्चांर्थ भाष्य. ५/५.
२८५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/७.
२८६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/८.
२८७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/९.
२८८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१०.
२८९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/११.
२९०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१२.
२९१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१३.
२९२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१४.
२९३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१५.
२९४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१६.
२९५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१७.
२९६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१८.
२९७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/१९.
२९८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२०.
२९९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२१.
३००. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२२.
३०१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२३.
३०२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२४.
३०३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२५.
३०४. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२६.
३०५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२७.
३०६. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/२८.
३०७. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/३०.
३०८. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/३१.
३०९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/३२.
३१०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/३३
३११. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/३४.
३१२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/३५.

३१३. श्वेताश्वतर ६/२, ६/२०, २३.
३१४. साख्यंकारिका ६८.
३१५. न्यायसूत्र (गौतम) १/१/२.
३१६. वैशेषिक सूत्र, प्रशस्तपाद भाष्य, दुःख प्रकरण ३२.
३१७. पतन्जलि योग दर्शनम् १/३१.
३१८. बौद्धदर्शनम्, सर्वदर्शन संग्रह २८.
३१९. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४०.
३२०. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४०, ४१.
३२१. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/४२.
३२२. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/४३.
३२३. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/४४.
३२४ पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/४५, ४६.
३२५. पा. सू. पञ्चार्थ भाष्य. ५/४७.

१०.

गणकारिका का दार्शनिक स्वरूप

लकुलीश पाशुपत-दर्शन के चिन्तन में एक नया मोड़ हमें गणकारिका में दिखाई देता है । यद्यपि कि गणकारिका की रत्नटीका में विवेचित दार्शनिक परिवेश पाशुपत सूत्रों के पञ्चार्थ दर्शन का ही विकसित रूप है,[१] तथापि उनका प्रस्तुतीकरण एक नये ढंग से हुआ है । जिसका मूल पञ्चार्थ भाष्य में ही निहित है ।[२] इसके साथ ही रत्नटीका में हमें लकुलीश पाशुपत दर्शन के प्रति नैयायिक दृष्टिकोण के भी आभास प्राप्त होते हैं । क्योंकि रत्नटीकाकार भासर्वज्ञ एक नैयायिक थे ।[३] रत्नटीका में उन्होंने मुख्यतः पाशुपत साधना व सिद्धि की ही चर्चा की है । इसमें उन साधनों का उल्लेख है जिनसे दुःखान्त होता है । पञ्चार्थ भाष्य में श्मशानवासी साधक के निवास के सन्दर्भ में वृत्ति, बल, क्रिया, लाभ आदि की चर्चा है ।[४] वह श्मशान में निवास करता हुआ शिव सायुज्य की ओर जिस साधनामार्ग से अग्रसर होता है उसमें उसकी शुद्धि-वृद्धि हेतु बल, अप्रमाद प्रसाद, उपाय, दुःख का अपोहरूप शुद्धि व सिद्धि गुण की प्राप्ति होती है । जैसा कि कहा है ।[५]

"पाँच लाभों, पांच मलों तथा पांच उपायों को पञ्चार्थ में जानने वाला विद्वान है । प्रथम लाभ विद्यालाभ, द्वितीय तपस्लाभ, तृतीय देवनित्यत्व, चतुर्थ योग तथा पञ्चम लाभ गुणप्रवृत्ति के रूप में विज्ञेय है । इसी प्रकार अज्ञान, अधर्म, विद्याभ्यास, स्थिति का अलाभ, अनैश्वर्य ये पांच मल पञ्चार्थ में विज्ञेय हैं । वास, ध्यान, अखिल करण निरोध, स्मृति तथा प्रसाद ये पांच उपाय भी पञ्चार्थ में विज्ञेय हैं । वासार्थ (वसति), लोक, शून्यागार, श्मशान तथा रुद्र ये पांच सिद्धि हेतु नियतदेश आख्यात हैं ।[६] साधक, इससे रुद्रसायुज्य और दोषों का मूल छेदन करके अपने इष्ट दुःखान्त को प्राप्त करता है ।"[७]

गणकारिका में पूर्व विवेचित विचार व प्रकरण को व्यवस्थित रूप में रखने का कार्य लेखक ने किया है । जिसका विवेचन भासर्वज्ञ ने पञ्चार्थ दर्शन के परिप्रेक्ष्य में किया है ।

गणकारिका में स्पष्ट किया गया है कि गुरू तथा ईश्वर के अनुग्रह से ही दुःखान्त सम्भव है क्योंकि योग की उपलब्धि में अनुग्रह से ही दुःखान्त होता है ।[८] यह अनुग्रह पञ्चार्थ ज्ञान से ही सम्भव है जिसका अर्थ पांच या नौ प्रकार से (पांच अष्टक गण एक-तीन वृत्तियां) विज्ञेय हैं । यहां गुरू का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो नवगणों का वेत्ता और संस्कार कर्ता होता है ।[९]

लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और बल, ये अष्ट (पांच-पांच भेद) पञ्चक हैं इसके साथ ही वृत्तियां (तीन हैं) जो नवां गण है[१०] ये निम्न हैं[११]-

१-लाभ -ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति, शुद्धि ।

२- मल -मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति हेतु, व्युति, पशुत्वमूल ।

३- उपाय- वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति, प्रसाद ।

४- देश -गुरू, जन, गुहादेश, श्मशान, रुद्र ।

५- अवस्था- व्यक्ता, अव्यक्ता, जया, छेदावस्था, निष्ठा ।

६- विशुद्धि -अज्ञानहानि, अधर्महानि, सङ्गकर की हानि, त्युतिहानि पशुत्वहानि ।

७- दीक्षाकारी-द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति, गुरू ।

८- बल -गुरुभक्ति, मति-प्रसाद, द्वन्द जय, धर्म, अप्रमाद ।

९- वृत्ति -भैक्ष्य, उत्सृष्ट-ग्रहण, यथालब्ध ग्रहण ।

१-लाभ

विधीयमान (क्रियमण शास्त्र विहित कार्य) उपाय का फल ही लाभ है । अथवा ज्ञान, तप, देवनित्यत्व, स्थिति, सिद्धि भेद वाले लाभ हैं अथवा पूर्व के अप्रकाशित भाव जो साधक की आत्मा में अभिव्यक्त हों, लाभ है ।[१२]

२- मल

आत्माश्रित जिन भावों के क्षपणार्थ साधक य़त्नशील होता है वे मल हैं अथवा मिथ्याज्ञान, सङ्गच्युति (आचरणभ्रष्ट, संस्कार से च्युत होना) पशुत्व आदि भेद वाले मल हैं ।[१३]

३-उपाय

साधक के शुद्धि-वृद्धि हेतु ही उपाय में अथवा निवास, चर्या, जप, ध्यान सदारुद्रस्मरण, प्रसाद इत्यादि उपाय हैं ।[१४]

४-देश

साधक जिस आश्रय के सामर्थ्य से शुद्धि तथा वृद्धि को प्राप्त करता है वे देश हैं यथा गुरु, जन, गुहा, श्मशान, रुद्र ।[१५]

५-अवस्था

लाभप्राप्ति की एकमर्यादा से स्थिर व्यक्त (जप, साधक के उपाय अनुष्ठान आदि प्रकाशित हो, उसे लोगों की स्तुति निन्दा आदि की चिन्ता न रहे), अव्यक्तावस्था (जब साधक अपनी साधना गुप्तरूपेण करे), जय (मन व इन्द्रियों पर विजय), छेदावस्था (सब कुछ त्याग या अवसान की अवस्था) और निष्ठ (महेश्वर में निष्ठा) ये विशिष्ट अवस्थाएं हैं ।

६- विशुद्धि

मिथ्याज्ञान आदि का समूल उच्छेद विशुद्धियां हैं ।[१६]

७- दीक्षाकारी

दीक्षा के हेतु द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति, गुरुसंज्ञक साधक के आत्मगत उपाय है ।[१७]

९-वृत्तियां

अन्नार्जन के उपाय भैक्ष्य (जीविका), उत्सृष्ट भिक्षा में प्राप्त वस्तु) (यथालब्ध), जो कुछ साधना के दौरान श्मशान पर मिल जाये) तीन वृत्तियां हैं ।[१८]

प्रथमावस्था वाले साधक के लिये भैक्ष्य ही वृत्ति कही गयी है । जिसका एक विशिष्ट नियम है । जिसे स्पष्ट किया गया है अर्थात् पूर्ण पवित्र होकर गुरु व देव से अनुमति लेकर पवित्र पथ से मन्त्रों का आवर्तन करते हुये एक ही ग्राम से भिक्षा ग्रहण करें । भैक्ष्य को मन्त्र से संस्कृत कर महेश्वर को निवेदित कर ग्रहण करें । तृतीयावस्था की भी यही विधि है । द्वितीयावस्था की वृत्ति उत्सृष्ट है अर्थात् दान इत्यादि से परित्यक्त अन्न । इसमें पात्र इत्यादि का नियम नहीं है । यथालब्ध चतुर्थावस्था की विधि है । श्मशान पर रहते हुए जो कुछ प्राप्त हो जाय वह यथालब्ध है पञ्चमावस्था में शरीराभाव के कारण वृत्ति नहीं होती ।[१९]

९-बल

गुरुभक्ति, मति, प्रसाद, द्वन्दजय, धर्म और अप्रमाद ।[२०]

गुरुभक्ति गुरु में भक्ति व पूर्णरूपेण श्रद्धा होनी चाहिये । उनका आदेश पूर्णरूपेण पाल्य है । गुरु ही इस नवगण का वेत्ता और संस्कार करने वाले होते हैं ।२१

मतिप्रसाद का अर्थ है "अकालुष्य" अर्थात् मति की प्रसन्नता के लिये अशौच। यह अकालुष्य दो प्रकार का है।(१) अपर-बीज रहता है किन्तु अनागत कालुष्य उत्पन्न नहीं होता। (२) पर-बीज का भी क्षय हो जाता है और कालुष्य का अत्यन्ताभाव हो जाता है।[२२]

द्वन्द-जय त्रिविध दुःखों के साधन द्रन्द हैं उन पर विजय द्रन्द जय है इसका अर्थ साधक में सहिष्णुता भाव का उत्पन्न होना भी है जो दो प्रकार का होता है पर और अपर। योगक्रिया में लीन साधक मृदु, शीत आतप आदि का अनुभव करता है और ध्यानादि के अभ्यास के दौरान वह धीरे-धीरे सहिष्णुता का भाव रखने लगता है।[२३]

धर्म रुद्र का सदास्मरण व भगवत्कार्य में लीनता चतुर्थ बल है।[२४]

अप्रमाद यह निष्ठायोग सम्पन्न साधक का पञ्चम बल है। अप्रमाद से तात्पर्य विशिष्ट ज्ञान का होना है।[२५]

शुद्धि हेतु

चूंकि साधक के अज्ञान आदि शत्रुओं के द्वारा हानि होने की सम्भावना है अतः उसके प्रतिपादनार्थ शुद्धि हेतु कहते हैं।[२६]

अज्ञान की हानि - अज्ञान के समूल विनाश से अर्थ है।

अधर्म हानि- सम्पूर्ण विकारयुक्त का अत्यन्तोच्छेद है।

सङ्गजन्य (दोषादि की) हानि- सम्पूर्ण दोषों का विनाश करना चाहिये।

च्युतिहानि- संस्कार से च्युत न होना अर्थात् कालुष्य या कुसंस्कारों, दुराचारों के बीज का अत्यन्तोच्छेद होना है।

पशुत्व की हानि - माहेश्वर ऐश्वर्य से सम्बन्धित होने से पशुत्व का अत्यन्तिक निरोध पशुत्वहानि है।[२७]

अवस्थाभेद

व्यक्तावस्था- भस्मस्नान, अनुस्नान, लिङ्गधारी आदि के उपदेश से विहित है।[२८] पाशुपत सूत्रों में इसका विस्तृत विवेचन है।[२९]

अव्यक्तावस्था - लिङ्गत्व एवं विद्यादि के गोपन तथा गूढ़व्रत के उपदेश से विहित है।[३०] विस्तृत विवरण पूर्व अध्याय में दिया जा चुका है।[३१]

जयावस्था - इन्द्रियों पर साधक को विजय करनी चाहिये।[३२] पञ्चार्थ दर्शन में इन्द्रियाण ऽभिजयात् उपदेश में इस आशय को स्पष्ट किया गया है। साधक को जितेन्द्रिय होना चाहिये।[३३]

छेदावस्था - अवसानार्थ कही गयी है[३४] यह मोहादि का त्याग और वीतशोक की अवस्था है जो पञ्चार्थ भाष्य में उपदिष्ट है ।[३५]

निष्ठावस्था - साधन व्यापार में अतिरति होना निष्ठावस्था है ।[३६]

प्रथमावस्था की प्राप्ति के लिये दीक्षा के निम्न हेतु हैं-द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति व गुरू ।[३७]

१-द्रव्य

विद्या, कला, पशु नामक त्रिविध कार्य द्रव्य हैं जिसमें विद्या शिष्यगत दीक्षा का अंगभूत है जिसके द्वारा शिष्य दीक्षा में अधिकृत होता है । कला दर्भ (पवित्र कुश) आदि दीक्षा का अंगभूत है उसका क्रम इस प्रकार कहा गया है- पहले दर्भ फिर भस्म, चन्दन, सूत्र, पुष्प, मन्त्र आदि । यहां **पशु** से अभिप्राय संस्करणीय ब्राह्मण से है ।

२- काल से अभिप्राय शुभमुहूर्त है ।

३- क्रिया -कारणमूर्ति तथा शिष्य संस्कार कर्म क्रिया है ।

४- मूर्ति- उर्ध्वङ्गादि है । ५- **गुरू** भगवान महेश्वर ही गुरू हैं ।[३८]

यह दीक्षा निम्न कारणों से इस दर्शन में विशिष्ट कही जाती है । यथा-ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति व सिद्धि । यहां तत्वज्ञान विद्यालाभ है जिसे समास, विस्तर, विभाग, विशेष, उपसंहार निगमन रूप से पञ्चार्थ के अन्तर्गत कहा गया है ।[३९]

यहां पञ्चार्थ दर्शन का विवेचन प्रारम्भ हो जाता है इस प्रकरण का साधनापक्ष पीछे रह जाता है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे । आगे विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि पाशुपतसूत्रों के पञ्चार्थदर्शन को यहां संक्षिप्त रूप में किस प्रकार उभारा गया है । सुविधा की दृष्टि से हम कार्य, कारण, योग, विधि, दुःखान्त रूप से इस दर्शन को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं ।

कार्य

पशुपति भगवान् कारण हैं उनके अधीन सम्पूर्ण कार्य हैं । यह कार्य विद्या, कला, पशु संज्ञक है । यहां पशुगुण विद्या है जो बोध और अबोध स्वभाव वाली कही गयी है ।

बोधस्वभावा धर्मादि स्वरूप वाली बोधस्वभाव विद्या है जो दो प्रकार की है-

१- विवेकवृत्ति जो उपदेशव्य है । यह प्रमाणों के ज्ञान से ही व्यक्त है ।

२- सामान्य वृत्ति -यह प्रमाण मात्र होने से चित्त है ।[४०]

अबोधात्मिका विद्या वह है जिसमें पशुत्व की प्राप्ति कराने वाले धर्म व अधर्म दोनों संस्कार हैं ।[४१]

कला चेतना के अधीन रहने वाली कला निश्चेतन है । वह दो प्रकार की है- (१) कार्याख्या, (२) करणाख्या ।

कार्याख्या दस प्रकार की है यथा-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द आदि है ।

करणाख्या तेरह प्रकार की है जिसमें पांच कर्मेन्द्रियां, पांच बुद्धिन्द्रियां और तीन अन्तःकरण हैं ।[४२]

पशु– पशुत्व सम्बन्धी पशु है ।[४३] वह दो प्रकार का है-

(क) **साञ्जन**-शरीरेन्द्रिय सम्बन्धी चौदह प्रकार का सान्जन है । जिसमें देव आठ, तिर्यक पांच तथा मनुष्य हैं ।

(ख) **निरञ्जन** - तीन प्रकार का है, संहृत, कैवल्यगत व निष्ठायोगयुक्त । यह शरीरेन्द्रिय से रहित है ।

कारण

कारण पशुपति समस्त की सृष्टि, संहार और अनुग्रहकर्ता है । यद्यपि कि वह एक ही है फिर भी गुणधर्म के भेदों की अपेक्षा के कारण उसके विभाग कहे गये हैं । वह पति नित्य ऐश्वर्य वाला है । निरतिशय दृक् क्रियाशक्ति उसका पतित्व है । उस ऐश्वर्य से नित्य सम्बन्ध सत्व है । अनागन्तुक नित्य ऐश्वर्य आद्यत्व है । समस्त जन्मों से रहित होना अजातत्व है । महासृष्टि का संहारकरण भवोद् भवत्व है । परम उत्कृष्ट गुण धर्म निमित्त नाम अभिधेयत्व, वामत्व, स्वेच्छा से ही सम्पूर्ण कार्योत्पत्ति का कारण स्वभाव क्रीड़ाधर्मी होना देवत्व है । सिद्ध, साधक, व पशुओं से पर होना ज्येष्ठत्व है । सृष्टि के आदि में भी रुद्र, भय का संयोजन कारणत्व रुद्रत्व है । कर्म आदि से निरपेक्ष का सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्व कामित्व, शान्ति, सुख, एवं निर्वाण कर होने से शङ्करत्व, अन्तसृष्टि में भी संहारक होने से कालत्व, कार्य कारण आदि कलाओं का शरीरादि भाव का संयोजन करने वाले कल-विकरण हैं ।[४४]

धर्मादि बलों का यथेष्ट वृत्तिलाभ, लोप आदि करने से बल प्रमथन सभी भूतों के दमनकर्ता होने से सर्वभूतदमनत्व (सबका रति रञ्चन कर्तृत्व), समग्र निष्कलावस्था के समान शक्तित्व मन का अमनस्त्व, सुखकारी अनन्त शरीरों के अधिष्ठाता होने से अघोर, पशु आदि से अत्यधिक उत्कृष्ट होने से उनका देवत्व है ।

इस प्रकार दुःखान्त के निमित्त और एकमात्र ध्येय ओङ्कार हैं । उनकी क्रियाशक्ति ऋषित्व और ज्ञानशक्ति विप्रत्व है । इन दोनों के आश्रय व्याप्य, अनन्तविषयत्व, निरतिशयत्व होने से भगवान नित्य कहे गये हैं । सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रदातृत्व उनका महेश्वरत्व

है, सम्पूर्ण कार्यों का विषय-प्रभुत्व ईशत्व, विद्या सम्बन्धी प्रभुत्व ईशानत्व, प्राणिसम्बन्धी प्रभुत्व ईश्वरत्व, परिपूर्ण एवं परितृप्त होना उनका शिवत्व है ।[४५]

योग

चित्त के द्वारा पुरुष का ईश्वर से सम्बन्ध योग है । वह दो प्रकार का होता है । (क) क्रियारूप (ख) क्रियोपरमरूप ।

क्रियारूप -जप, मन्त्र, धारण, ध्यान और स्मरणात्मक होता है ।

क्रियोपरमरूप- अतिगति आदि शब्दों द्वारा वाच्य है[४६] जैसा कि पाशुपत सूत्रों में उपदेश किया गया है ।[४७]

विधि

धर्म के लिये साधक का व्यापार विधि है । वह दो प्रकार की है-

(क) प्रधानभूत- जो विविध अव्यवधान रूप से धर्म हेतु हैं वह प्रधानभूत चर्या है ।

(ख) गुणभूत - जो चर्या की अनुग्राहक अनुस्नान आदि है ।[४८]

यहां समस्त चर्याओं का विवरण उसी प्रकार उपस्थित किया गया है जिस प्रकार पाशुपत सूत्रों के पञ्चार्थ भाष्य में ।[४९] विशेषकर योगी द्वारा उपयुक्त धर्म प्रयत्न पूर्वक करणीय हैं ।

लाभ

१- **ज्ञान** इस तरह कारण आदि का निश्चयज्ञान प्रथम लाभ है । दूसरा लाभ है ।

२- **तप**- जैसे भस्म स्नान आदि तप कहे जाते हैं ।

३- **देवनित्यत्व** - इन्द्रियों के विषयों में न चाहते हुये भी चित्त प्रवृत्ति प्रवाह को साधक रुद्र के समीप ले जाता है जो अत्यन्त उत्कर्षयुक्त होता है । यही देवनित्यत्व है । तप के अनन्तर जो आनन्तर्य भावाभ्यास रूप से देवों में नित्यत्व है तीसरा लाभ है यहां नित्यत्व अत्युछिन्न प्रवाह की भांति है जैसे प्रवहणशील गंगा ।

४-**स्थिति** - यह चतुर्थ लाभ है । निवृत्ति में दोष हेतु जाल से प्रत्यंगभूत चित्त का रुद्र में स्थित होना स्थिति है । अत्यन्त निश्चल होना स्थिति है । इस समय योगी के असंगीत्व आदि नौ लक्षण होते हैं । इससे सिद्धि प्राप्त होती हैं ।

केवल रुद्र का चित्त में स्थित होना योगित्व है । चित्तवृत्ति का अवरुद्ध किया जाना नित्यात्मत्व है । चित्त का प्रादुर्भाव न होना अजत्व है । अत्यन्त समता मित्रता है । शरीरादि

वियुक्तता एकत्व है । शकाओं को अतिक्रान्त कर जाना क्षेमीत्व है । समस्त चिन्तामुक्त होना वीतशोकत्व है ।इससे ज्ञान होता है कि अत्यन्त दुःखों से रहित होने से मुक्तात्मा महेश्वर की भांति है ।[५०] प्रश्न उठता है कि क्या ये लाभ देश नियमों से प्राप्तव्य है ?

५- सिद्धि -गुरुजन, गुहा, देश, श्मशान, रुद्र[५१] ये पांज सिद्धयां हैं ।

१- **गुरू**-के सम्बन्ध में कहा जा चुका है ।

२- **जन**-जन शब्द से यहां वर्णाश्रमियों का बोध होता है ।

३- **गुहा** - तृतीयावस्था साधक का देश शून्यागार या गुहा है ।

४- **श्मशान** - चतुर्थावस्था साधक का देश श्मशान है ।

५- **रुद्र**-पंचमावस्था साधक का देश रुद्रायतन होने से रुद्र ही हैं । मात्र इन देशों में निवास करने से लाभ नहीं होते अपितु देशभेद की तरह उपाय भेद भी है- यथा-वास-चर्या, जप, ध्यान, सदारुद्र स्मरण और प्रसाद ।[५२]

१- वासचर्या – वास अर्थात् शिवायतन में निवास करते हुये पूर्वोल्लिखित चर्या करें जैसा विधान प्रदर्शित किया गया है । इन चर्याओं का विवरण पञ्चार्थ भाष्य में पूर्णरूपेण दिया गया है । हसित इत्यादि क्रिया करते हुये जप करें । सन्तोष पर्यन्त उक्त जप आदि क्रियायें करणीय हैं । मन्दन, श्रृंगार, इत्यादि क्रियाएं लोक मे करें । जिससे इष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है और साधक का पाप-क्षय होता है ।

२- जप - मन्त्रों का आवर्तन जप है जिसके द्वारा चित्त ब्रह्म में स्थित होता है ।

३- ध्यान - रुद्रतत्व में चिन्तन प्रवाह ध्यान है जो जप से धारणापूर्वक होता है । उसे “चित्त को रुद्र तत्व में स्थापित करना चाहिये । साधक उसमें तन्मय होकर परमैश्वर्य प्राप्त कर सदा निर्भय हो जाता है ।

४- सदास्मृति – निरन्तर उसके स्मरण और ध्यान से साधक संसार छोड़कर शिव की भांति ही हो जाता है । रुद्र की सदास्मृति या देवनित्यता ही सदा स्मृति है । यहां इन्द्रिय जय भी महत्वपूर्ण है ।

५- **प्रसाद** – देवता में भावाभ्यास होना देव-नित्यत्व है । सिद्धि का उपाय है प्रसाद । इन उपायों से न केवल पांच लाभ ही प्राप्तव्य है अपितु पांच मल भी क्षपणीय है । कहा गया है ।“मिथ्याज्ञान, अधर्म, सक्ति हेतु, च्युति और पशुत्वमूल ।”[५३]

१- मिथ्याज्ञान - प्रमाणों से आभासज ज्ञान मिथ्याज्ञान है जो संशय विपर्यय है अर्थात् अज्ञान, काम, क्रोध, द्वेष, कलुष का भी इस अज्ञान में अन्तर्भाव है। संशयादि कलुष बीज मिथ्याज्ञान कहा जाता है।

२- अधर्म पाप बीज या पाप ही अधर्म है जिसका अर्थ है विकार अथवा कलुष।

३- सक्तिहेतु -विषयासक्ति या सुखाभिमान को कहते हैं।

४- च्युति - रुद्र तत्व से चित्त स्वल्प भी यदि च्युत होता है, लक्ष्य को नहीं प्राप्त होता है।इस चित्त च्यवन को च्युति कहते हैं।

५- पशुत्व – धर्म-अधर्म से विलग प्रतिघातानुमेय पुरुष के गुण को पशुत्व कहते हैं। चौदह लक्षणों से युक्त उसका मलत्व है। यह पशुता संसार का अनादि कारण, प्रधानभूत और मूल है। कैवल्य प्राप्त का भी अन्य मलों का अभाव होने पर भी पशुता से ही पुनः संसार में आगमन होता है। अन्यत्र भोक्ता-भोग्य सम्बन्धी मल है परन्तु यहां संसार बन्धन मल है जो महेश्वरकृत तन्त्र में प्रतिपादित है।[५४]

उक्त पांच मल अधिकारतः इस तन्त्र में हेय हैं, अर्थात् त्याज्य बताये गये हैं। ये मल विवक्षित होने चाहिये।

दुःखान्त – सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति दुःखान्त है। वह दो प्रकार का है – अनात्मक और सात्मक।

अनात्मक - सम्पूर्ण दुःखों का अत्यन्ताभाव अनात्मक है।

सात्मक - महेश्वर ऐश्वर्य की सिद्धि सात्मक है। यह सिद्धि दो प्रकार की है।

(१) **ज्ञानशक्ति** - ज्ञान से अभिन्न तद् रूप शक्ति जो दर्शन, श्रवण, विज्ञान व सर्वज्ञता आदि है।

(२) **क्रियाशक्ति** - जो क्रिया में हेतु या निमित्त है। वह मनोजवित्व आदि तीन प्रकार की है। अत्यधिक शीघ्रकारित्व मनोजवित्व है। इच्छामात्र से अनेक रूप कर्तृत्व कामरूपित्व कामानुकूल रूप प्राप्ति, शरीरेन्द्रिय सहित अत्यधिक ऐश्वर्य प्राप्ति विकरणधर्मित्व, अवश्यत्व, पतित्व आदि सिद्धि के दस लक्षण प्राप्त होते हैं। जैसे अभयत्व, अक्षयत्व, अजरत्व, अमरत्व आदि।[५५]

इस प्रकार अन्य शास्त्रों में दुःख की निवृत्ति ही दुःखान्त है परन्तु यहां तो परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी कही गयी है। अन्यत्र कैवल्य के अभ्युदय का फल योग है यहां परम दुःखान्त का फल योग है। अन्यत्र आवर्तक स्वर्ग आदि का फल विधि है यहां अनावर्तक रुद्र-सामीप्य आदि फल, उपसंहारार्थ कहा गया है। नित्य पशु आदि भावी कार्य अन्यत्र नहीं हैं। अन्यत्र तो प्रधानादि कारण अस्वतन्त्र है यहां तो स्वतन्त्र पशुपति भगवान हैं।

इस प्रकार गणकारिका का दर्शन लकुलीश प्रणीत पाशुपत सूत्रों की व्याख्या प्रतीत होता है और यह उसी परम्परा के अन्तर्गत है। स्थान स्थान पर पञ्चार्थ भाष्यकार एवं भाष्य का उल्लेख भी भासर्वज्ञ ने अपनी रत्नटीका में किया है। यहां हमें नैयायिक दृष्टिकोण भी प्राप्त हो जाता है। जिसके संकेत स्थान-स्थान पर हमने किये हैं।

सन्दर्भ

१. गणकारिका, रत्नटीका, मङ्गलाचरण।
२. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/२८.
३. द्रष्टव्य गणकारिका एवं रत्नटीका पूर्व खण्ड।
४. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/३०.
५. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/२८.
६. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/३२,३३.
७. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/३४.
८. गणकारिका रत्नटीका पृ.।
९. गणकारिका रत्नटीका का.
१०. गणकारिका।
११. तत्रैव
१२. गणकारिका, रत्नटीका २
१३. गणकारिका रत्नटीका २
१४. गणकारिका रत्नटीका २
१५. गणकारिका रत्नटीका २
१६. गणकारिका रत्नटीका २

१७. गणकारिका रत्नटीका २.
१८. गणकारिका रत्नटीका २.
१९. गणकारिका रत्नटीका३.
२०. गणकारिका रत्नटीका २.
२१. गणकारिका रत्नटीका३.
२२. गणकारिका रत्नटीका ३.
२३. गणकारिका रत्नटीका ३.
२४. गणकारिका रत्नटीका ३.
२५. गणकारिका रत्नटीका ३.
२६. गणकारिका ४ रत्नटीका ।
२७. गणकारिका ४ रत्नटीका ।
२८. गणकारिका ४ रत्नटीका ।
२९. पा.सू. १/२,३,४,५,६ द्रष्टव्य पूर्व अध्याय पञ्चार्थ दर्शन ।
३०. गणकारिका रत्नटीका ४.
३१. पा.सू. ४/१,२,३,३/१ द्रष्टव्य पूर्व अध्याय पञ्चार्थ दर्शन ।
३२. गणकारिका रत्नटीका ४.
३३. पा.सू. ५/७,११.
३४. गणकारिका रत्नटीका ४.
३५. पा.सू. ५/३९ एकक्षेमी वीतशोकः ।
३६. गणकारिका रत्नटीका ४.
३७. गणकारिका रत्नटीका ५,.
३८. गणकारिका रत्नटीका ५.
३९. गणकारिका रत्नटीका ५, एवं पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य ५/४७.
४०. गणकारिका रत्नटीका ५-६.
४१. गणकारिका रत्नटीका ५ पृ. १०.
४२. गणकारिका रत्नटीका ५ पृ. १०.
४३. गणकारिका रत्नटीका ५ पृ १० ॥ एवं पाशुपत सूत्र तथा पञ्चार्थ दर्शन ।
४४. गणकारिका रत्नटीका ५ पृ. ११ एवं पाशुपत सूत्र तथा पञ्चार्थ दर्शन ।
४५. गणकारिका रत्नटीका ५ पृ. ।.
४६. गणकारिका रत्नटीका ११-१२.
४७. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य २/१७.

४८. गणकारिका रत्नटीका ५ पृ. १२.
४९. द्रष्टव्य पाशुपत सूत्र पञ्चार्थ दर्शन पूर्व अध्याय ।
५०. गणकारिका रत्नटीका ५,६.
५१. गणकारिका रत्नटीका ५,६.
५२. गणकारिका रत्नटीका ७.
५३. गणकारिका रत्नटीका ८.
५४. गणकारिका रत्नटीका ८.
५५. गणकारिका रत्नटीका ५ पृ. १०.

वायवीय संहिता का दर्शन

यद्यपि कि वायवीय संहिता का दर्शन श्वेताश्वतर की परम्परा के अन्तर्गत निर्मित दिखाई देता है तथापि लकुलीश पाशुपतों का भी पर्याप्त प्रभाव इस पर पड़ा है। पाशुपतसूत्रों और गणकारिका में अविकसित शक्ति और माया तथा प्रकृति का सिद्धान्त इसमें पर्याप्त विकसित होता है जिसमें वे तत्व दिखाई देते हैं जो समय के अन्तराल में अन्य दर्शनों की आलोचना-प्रत्यालोचना और समीक्षा के दौरान पल्लवित हुये। इसका अध्ययन हम निम्न श्रेणियों में कर रहे हैं-

पशु और पति, कार्य-कारण

ब्रह्म से लेकर स्थावर आदि सभी देव-अदेव जो संसारवर्ती हैं पशु हैं।[१] पशु अनित्य है, वह पाश से बंधा है जो क्षरण के कारण क्षर है। पति उस नित्य, अनित्य से परे हैं।[२] पशु को पाश से आबद्ध करने वाला स्वामी अर्थात् पति है।[३] यह चराचर जगत शिव का विग्रह है पाशबद्ध जीव उन्हें नहीं जानता है।[४] संसार कर्म सापेक्ष है कार्य अवयवरूप है, उस अवयवरूप कार्यत्व के कर्तृत्व के कारण वह पति है। पशु-पाश में सर्वकर्तृत्व नहीं है।[५] ईश्वर की प्रेरणा से पशु में कतयिन प्रतीत होता है वह यथार्थ नहीं है।[६]

मल और माया आदि के पाशों में भगवान पशुपति जीवों का बन्धन करते हैं।[७] पशु पाश से बंधता और सुख-दुःख भोगता है।[८] पाश आदि वे माया के गुण और कर्म चौबीस तत्व के हैं जिन्हें विषय कहा गया है, इन्हीं से जीव बंधा है, ब्रह्म से स्तम्ब पर्यन्त पशुओं के बन्धनकार भगवान माहेश्वर हैं।[९] वे इन पाशों से बांधकर अपना कार्य कराते हैं।[१०]

महेश्वर द्वारा उपदिष्ट यह ज्ञान पाशुपत ज्ञान है ।[११] पशु नाशवान, कूटस्थ और अनश्वर है वे उस परमेश्वर के अधीन हैं ।[१२] पशुओं के स्वामी होने से देवेश पशुपति कहे जाते हैं ।[१३]

कारण पशुपति

वे भगवान पशुपति सृजन, ईशन और संहार त्रिविध कार्य करते हैं ।[१४] वह क्षर-अक्षर से परे समष्टि-व्यष्टि रूप समष्टि-व्यष्टि के कारण हैं ।[१५] मुनि उसे परम-कारण जांनते हैं, समष्टि को अव्यक्त और व्यष्टि को व्यक्त कहते हैं[१६] प्रवर्तन, निवर्तन, आविर्भाव व तिरोभाव का वह एकमात्र कारण है ।[१७] वे अविद्या विद्यारूप ईश्वर हैं ।[१८] विद्या चेतना और अविद्या अचेतना है ।[१९] यह विद्या और अविद्या स्वरूप मय विश्व उन्हीं के वश में है, भक्ति के कारण अनेक रूपों में जाना जाता है ।[२०] अर्थाकार संविति विद्या अयथार्थ बुद्धि को भ्रान्ति कहा जाता है ।[२१] कार्यकाल के प्रपञ्च का परिणाम वह एक ही कारण है । बाकी तेइस तत्वों के नाम व्यक्त बताए गये हैं ।[२२] प्रधान पुरुष व्यक्त और कालात्मा शिव है । प्रधान प्रकृति और क्षेत्रज्ञ पुरुष हैं ।[२३] प्रधान पुरुष काल स्वभाव रूपात्मक है उसके कारण व अधिपति महेश्वर हैं ।[२४]

परमकारण शिव व उनकी पञ्च व अष्ट मूर्तियां

उन्हीं से सम्पूर्ण विश्व विस्तार को व्याप्त हैं ।[२५] ईशान, पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात यह उनकी पञ्चमूर्ति है ।[२६] ईशान नामक मूर्ति प्रकृति की भोक्ता होकर साक्षात् क्षेत्र में स्थित है ।[२७] तत्पुरुष नामक स्थाणु मूर्ति अव्यक्त है और गुणाश्रय होकर भोगती है ।[२८] अघोर मूर्ति शिव के बुद्धित्व में पूजित है और धर्मादि अष्टांग से युक्त है ।[२९] वामदेव मूर्ति शास्त्रज्ञ जन अहंकार में स्थित है ।[३०] सद्योऽजात् मन में स्थित है ।[३१] श्रोतृ, वाणी, शब्द, आकाश की विभ्रु तथा सबकी ईश्वर मूर्ति ईशान है ।[३२] चक्षु, चरण और अग्नि की अधीश्वर मूर्ति को अघोर कहा है ।[३३] रसना, वायु और जल की अधीश्वरमूर्ति वामदेव की है ।[३४] प्राण, गन्ध और पृथ्वी की अधीश्वर मूर्ति सद्योऽजात[३५] है । उनकी अष्टमूर्तियां हैं शर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, ईशान, महादेव ।[३६] पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, व्योम, अर्क व चन्द्रमा महेश्वर की अष्टमूर्तियों में कल्पित हैं ।[३७] उनकी विश्व को व्याप्त कर तेजोमयी शुभमूर्ति घोर रूप रौद्री मूर्ति है ।[३८] उनकी पशुपति मूर्ति जीवों के पाश को काटने वाली है ।[३९] ईशान मूर्ति स्वर्ग में ले चलने वाली है ।[४०] विश्व को अपनी

चांदनी से तृप्त करने वाली चन्द्रमूर्ति महादेव की है।[४१] इस अष्टमूर्ति से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके रुद्र को परम कारण रूप जानना चाहिये।[४२]

विश्वरूप पशुपति

वे नित्य शाश्वत रुद्र समस्त लोकों की रचना, विस्तारक और संहारकर्ता हैं।[४३] संसार में वे विराट पुरुष की भांति हैं।[४४] वह एक महेश्वर ही स्वर्ग, पृथ्वी, व देवताओं के उत्पत्तिकर्त्ता हैं[४५], वही हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करते हैं[४६] वह सम्पूर्ण लोकों को परिवृत किये हुए है।[४७] सम्पूर्ण इन्द्रियों और गुणों के अभ्यास, इन्द्रियों से रहित ज्ञानरूप सर्वज्ञ और सर्वेश्वर हैं।[४८] वे विश्व के पति, प्रभु, कालरूप, संसार के रक्षक और पालनकर्ता हैं।[४९] वह एक ही अनेक की रचना करते हैं और उन पर शासन करते हैं।[५०] वे सबके कारण और सर्वश्रेष्ठ है।[५१] वह महेश्वर त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, गुणेश, अपर एवं साक्षात् ब्रह्म हैं।[५२] वह ईश्वरों के भी ईश्वर और परमधाम हैं।[५३] वह परम माहेश्वर पतियों के भी पति, देवेश्वर हैं।[५४] वे सर्वव्याप्त, विश्वकर्ता, ब्रह्मा के कर्ता, वेदों के उपदेशक, निष्कल शान्त और निरञ्जन हैं।[५५] इस प्रकार विश्व रूप पशुपति रुद्र की चर्चा श्वेताश्वतर में इससे पूर्व हुई हैं।[५६]

परम माहेश्वर कालात्मा है,[५७] जिसकी अंशमयी महाशक्ति कालात्मा रूप से जगत में प्रविष्ट हो गयी है,[५८] जिस प्रकार लोहे में अग्नि। उस काल के वश में विश्व है और वह काल शिव के वश में है।[५९] वह कालरूप सबकी उत्पत्ति का कारण और सभी लोक उसमें जीवित है।[६०]

शक्ति, माया व प्रकृति

यहां महेश्वर की अन्तर्निहित उस शक्ति की चर्चा है जिससे वह तीनों लोकों की रचना करके संहत कर लेता है।[६१] उसकी स्वाभाविकी पराशक्ति अनेक प्रकार की सुनी गयी है, उसमें ज्ञान, बल, क्रिया निहित है, उसी से सम्पूर्ण विश्व प्रकट हुआ है।[६२] कभी-कभी उसे "सनातनी" प्रज्ञा रूप में भी देखा गया है जो शिव से प्रकट होती है।[६३] महेश्वर की इस शक्ति को माया कहा गया है जो सम्भवतः जागतिक अर्थों में प्रयुक्त है क्योंकि कहा गया है कि वह ऐन्द्रजालिक के समान माया से युक्त होकर ईशन करने वाली शक्ति से सम्पूर्ण लोकों को वश में करके स्थित है।[६४] ऐसा प्रतीत होता है कि यहां शक्ति न केवल शिव का अन्तस्थायी बल है अपितु इसी के माध्यम से सृष्टि और विश्व का ईशन भी होता है। इसीलिये माया को प्रकृति और मायावी को महेश्वर कहा गया है।[६५] अपनी शक्ति रूपी माया से वह स्वयं आवृत्त होता है ऐसा विचार भी प्रकट दिखाई देता है।[६६]

जो सम्भवतः अद्वैततत्व की ओर इंगित कर रहा है। यहां अभिव्यक्त प्रकृति को माया कहा गया है जिससे पुरुष आवृत्त है और परमेश्वर इससे परे है।[६७]

इस संहिता में प्रकृति को क्षर और पुरुष को अक्षर कहा गया है इन दोनों से परे परमेश्वर को बताया गया है।[६८] पुरुष को कलादि (कला, विद्या, राग, काल, नियति) का भोक्ता कहा गया है।[६९] विद्या व कला ज्ञान व क्रिया शक्ति की व्यञ्जक है उसकी अवच्छेदक देवशक्ति उसकी नित्यता है।[७०] कला ही प्रभु-शक्ति को सृष्टिकाल में प्रकट करने वाली है।[७१] व्यापी के कलादि में प्रवृत्ति होने से आवृत्ति होती है कारण हेतु भोग कराने वाला कर्म है। मल के क्षीण होने से उसकी निवृत्ति होती है।[७२] प्रकृति में सत्व, रज और तम तीन गुण हैं।[७३] फिर पांच तन्मात्राएं, पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चकर्मेन्द्रियां, प्रधान, बुद्धि व अहंकार तत्व हैं, मन अव्यक्त व विकारी है।[७४]

यह कारणदशा में और कार्यदशा में व्यक्त है।[७५] विश्व को उत्पन्न करने वाली प्रकृति अजा है वही पराशैवी है।[७६] सत्त्व, रज और तमोगुण से वह श्वेत, लाल और कृष्णवर्णा है।[७७] वह अनेक प्रकार, अनेक रूपों में प्रजा की उत्पत्ति करने वाली है, जीव इसे भोगता हुआ सोता है और अज इसे भोगकर त्याग देता है।[७८] परमात्मा इस भोक्ता, भोग्य को वीतशोक होकर देखता रहता है।[७९] अविद्या से यह संसार चक्र और विद्या से अमृतत्व कहा गया है।[८०] इन दोनों के ईशनकर्त्ता महेश्वर हैं।

सृष्टि

यहां सृष्टि के उत्पत्ति क्रम पर भी प्रकाश डाला गया है, यथा-पहले शान्त्यातीत पद से शक्ति उत्पन्न हुई[८१] फिर भगवान शिव की माया की मात्र के द्वारा अव्यक्त प्रकृति उत्पन्न हुई। उसका क्रम निम्न है। शक्ति शान्त्यातीतपद -शक्तिपद-विद्यापद -प्रतिष्ठापद-निवृत्तिपद।[८२]

यह सृष्टि ईश्वर की प्रेरणा से होती है।[८३] पांच कलाओं वाले अव्यक्त कारण महत में विशेष पर्यन्त सृष्टि में अव्यक्त और प्राणी का कर्तृत्व नहीं है।[८४] महादेव महदादि के परिणाम कर्ता हैं।[८५] इस प्रकार अव्यक्त आत्मा कार्य को लेकर शिवात्मा में स्थित हो जाता है। इस समय प्रधान और पुरुष साधर्म से युक्त होते हैं और तीनों गुण समान रूप से रहते हैं। विश्व की अप्रज्ञात दशा में उस माहेश्वरी रात्रि में एक ही महेश्वर स्थित रहते हैं। प्रभात होने पर प्रधान व पुरुष के भीतर महेश्वर योग बल से प्रविष्ट होकर क्षोभित करते हैं, फिर सम्पूर्ण भूतों के निमित्त परमेष्ठी की आज्ञा से उस अव्यक्त द्वारा सृष्टि होती

है।[८६] इस प्रकार यह दर्शन द्वैताद्वैतवाद की ओर संकेत करता है। यहां अप्राकृत महेश्वर के ऐश्ववर्य, ज्ञान और उनके संकल्पमात्र से यहं विश्व उत्पन्न है।[८७]

दुःखान्त अथवा मोक्ष

पाशमुक्त होकर महेश्वर का साक्षात्कार यहां मोक्ष अथवा दुःखान्त कहा गया है क्योंकि पाश में बंधकर जीव चक्रनेमि के समान घूमता रहता है।[८८] कहा गया है कि जो साक्षात्कार करता है वह पाप को दूर करके तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है।[८९] शिव प्रसाद से मलक्षीण होते हैं। और व्यक्ति शिव तुल्य हो जाता है।[९०]

पाशुपत योगविधि

यद्यपि कि योग-विधि की चर्चा यहां विस्तृत रूपेण उपलब्ध नहीं होती तथापि कहा गया है कि श्रुतिसार युक्त पाशुपत व्रत और ज्ञान का महेश्वर योगाचार्य रूप में अवतरित होकर उपदेश करते हैं। इस ज्ञान का उपदेश पाशुपत संहिताओं में गुरुजनों ने भी किया है। जो शिव साक्षात्कार करने में श्रेष्ठ है।[९१] शिवोपासना से ही मोक्ष सम्भव है। जो पांच प्रकार का क्रिया, जप, तप, ज्ञान, ध्यान है।[९२] मुक्ति भी दो प्रकार की है परोक्ष और अपरोक्ष ।[९३] पाशुपत योगादि अपरम धर्म श्रुति के मुख में है।[९४] परमधर्म में माया, पाश से मुक्त आत्माओं का अधिकार है।[९५] शिव के प्रसाद से परमयोग व शिव का साक्षात्कार होता है।[९६] प्रकृति से परे तेईस तत्व हैं, पच्चीसवां तत्व पुरुष है।[९७]

योग विधि

योगविधि के अन्तर्गत दीक्षा व गुरू का स्थान अब अत्यन्त महत्वपूर्ण हो चला था। जिस संस्कार से विज्ञान होता है और पाशबन्धन करता है उसे दीक्षा कहा गया है।[९८] शिव शास्त्र में शाम्भवी, शक्ति और मान्त्री इन तीन प्रकारों की दीक्षा शिव ने कही है।[९९] शाम्भवी दो प्रकार की तीव्रा और तीव्रतरा है जिसमें शीघ्र निवृत्त करने वाली तीव्रा और पाप का परिशोधन करने वाली तीव्रतरा कही जाती है।[१००] ज्ञान चक्षु से योगमार्ग से शिष्य के शरीर में प्रविष्ट करने वाली शाक्ती और क्रियावाली मान्त्री है।[१०१] अतएव शक्तिपात के लक्षणों को देखकर ज्ञान व क्रिया द्वारा शिष्य की शुद्धि करनी चाहिये।[१०२]

इस विधि में निर्देश है कि गुरु सर्वप्रकारेण शिष्य की परीक्षा करे। गुरू ही शिव है, शिव ही गुरू है। गुरू और शिव विद्या का कारण होने से विद्या के अर्जन के समान होते हैं।[१०३] चूंकि गुरू देवात्मक और तन्त्रमय हैं इसलिये उसकी आज्ञा प्राप्य है।[१०४] गुरु पापों के क्षयकर्ता हैं।[१०५] ज्ञान-प्राप्ति-पर्यन्त गुरु की सेवा व भक्ति करनी चाहिये। उस शिवरूप गुरु को आत्मदान कर देने से ही देहधारी शिवरूप होता है।[१०६] ऐसे

श्वेतादि को जो आचार्य मानकर शिव पूजन करता है वह कार्य विषय नहीं बनता और शिव-सायुज्य को प्राप्त करता है।[१०७]

सन्दर्भ

१. वा.सं. पूर्वभाग अ. १/५४, उत्तर भाग १/११.
२. वा.सं. पूर्वभाग अ. १/७.
३. वा.सं. पूर्वभाग अ. २/२.
४. वा.सं. पूर्वभाग अ.मा. ३/१.
५. वा.सं. पूर्वभाग २/५.
६. वा.सं. पूर्वभाग २/६.
७. वा.सं. पूर्वभाग १/१२.
८. वा.सं. पूर्वभाग १/५५.
९. वा.सं. पूर्वभाग १/१३,१४.
१०. वा.स.उ.भाग १/१५.
११. वा.स.उ.भा. १/४.
१२. वा.स.उ.भा. ३/११.
१३. वा.स.उ.भा. १/१२.
१४. वा.स.उ.भा. १/३४.
१५. वा.स.उ.भा. ३/१२.
१६. वा.स.उ.भा. ३/१२.
१७. वा.स.उ.भा. ३/२०.
१८. वा.स.उ.भा. ३/५.
१९. वा.स.उ.भा. ३/६.
२०. वा.स.उ.भा. १/७.
२१. वा.स.उ.भा. १/८.
२२. वा.स.उ.भा. १/१९.
२३. वा.स.उ.भा. ३/१८.
२४. वा.स.उ.भा. ३/२१.
२५. वा.स.उ.भा. २/४.
२६. वा.स.उ.भा. २/५.
२७. वा.स.उ.भा. २/६.
२८. वा.स.उ.भा. २/७.
२९. वा.स.उ.भा. २/८.

३०. वा.स.उ.भा. २/९.
३१. वा.स.उ.भा. २/१०.
३२. वा.स.उ.भा. २/११.
३३. वा.स.उ.भा. २/१३.
३४. वा.स.उ.भा. २/१४.
३५. वा.स.उ.भा. २/३५.
३६. वा.सं.पूर्व भाग २/१८.
३७. वा.सं.पूर्व भाग २/१९.
३८. वा.सं.पूर्व भाग २/२२.
३९. वा.सं.पूर्व भाग २/२५.
४०. वा.सं.पूर्व भाग २/२६.
४१. वा.सं.पूर्व भाग २/२६.
४२. वा.सं.पूर्व भाग २/३३.
४३. वा.सं.पूर्व भाग २/१४.
४४. वा.सं.पूर्व भाग २/१५.
४५. वा.सं.पूर्व भाग २/१६.
४६. वा.सं.पूर्व भाग २/१७.
४७. वा.सं.,पूर्व भाग २/१९.
४८. वा.सं., पूर्व भाग २/२२.
४९. वा.सं., पूर्व भाग २/२.६
५०. वा.सं.पूर्व भाग २/४४.
५१. वा.सं.पूर्व भाग २/४५.
५२. वा.सं.पूर्व भाग २/२५.
५३. वा.सं.पूर्व भाग २/५७.
५४. वा.सं.पूर्व भाग २/५८.
५५. वा.सं.पूर्व भाग २/६३, ६८,६.९
५६. वा.स.पूर्वभाग; श्वेताश्वतर उपनिषद् पशुपतिरुद्र ।
५७. वा.सं.पूर्व भाग ३/६.
५८. वा.सं.पूर्व भाग ३/८.
५९. वा.सं.पूर्व भाग ३/९.
६०. वा.सं.पूर्व भाग ३/२३.
६१. वा.सं.पूर्व भाग २/१७.
६२. वा.सं.पूर्व भाग २/६०.
६३. वा.सं.पूर्व भाग २/१४.
६४. वा.सं.पूर्व भाग २/१३.

६५. वा.सं.पूर्व भाग २/३३.
६६. वा.सं.पूर्व भाग १/१३.
६७. वा.सं.पूर्व भाग १/११.
६८. वा.सं.पूर्व भाग १/९.
६९. वा.सं.पूर्व भाग १/१८.
७०. वा.सं.पूर्व भाग १/२४.
७१. वा.सं.पूर्व भाग १/२६.
७२. वा.सं.पूर्व भाग १/१५.
७३. वा.सं.पूर्व भाग १/२७.
७४. वा.सं.पूर्व भाग १/३९,३१.
७५. वा.सं.पूर्व भाग १/३२.
७६. वा.सं.पूर्व भाग २/२७
७७. वा.सं.पूर्व भाग २/२८
७८. वा.सं.पूर्व भाग २/२९,३०,३१
७९. वा.सं.पूर्व भाग २/४३.
८०. वा.सं.पूर्व भाग ४/३.
८१. वा.सं.पूर्व भाग ४/४.
८२. वा.सं.पूर्व भाग ४/४.
८३. वा.सं.पूर्व भाग ४/५.
८४. वा.सं.पूर्व भाग ४/७,८.
८५. वा.सं.पूर्व भाग ४/१३.
८६. वा.सं.पूर्व भाग ४/१९,२१,२२,२३.
८७. वा.सं.पूर्व भाग ५/४८.
८८. वा.सं.पूर्व उ. भाग ३/३६.
८९. वा.सं.उ. भाग ३/३७.
९०. वा.सं. १/२१.
९१. वा.सं.पूर्व भाग ६/१३,१५,१७.
९२. वा.सं.पूर्व भाग ६/२.
९३. वा.सं.पूर्व भाग ६/५.
९४. वा.सं.पूर्व भाग ६/६.
९५. वा.सं.पूर्व भाग ६/७.
९६. वा.सं.पूर्व भाग ६/२१.
९७. वा.सं.पूर्व भाग ६/२१.
९८. वा.सं. उत्तर भाग ५/५.
९९. वा.सं. उत्तर भाग ५/६.

१००. वा.सं. उत्तर भाग ६/८,९.
१०१. वा.सं. उत्तर भाग ५/१०,११.
१०२. वा.सं. उत्तर भाग ५/१४.
१०३. वा.सं. उत्तर भाग ५/१५,२१.
१०४. वा.सं. उत्तर भाग ५/२२.
१०५. वा.सं. उत्तर भाग ५/२९.
१०६. वा.सं. उत्तर भाग ५/४५,५३.
१०७. वा.सं. उत्तर भाग ४/२८.

१२.

सर्वदर्शन संग्रह में नकुलीश पाशुपत दर्शन का विवेचन

सर्वदर्शन संग्रह में "लकुलीश पाशुपत दर्शन" शीर्षक से लकुलीश पाशुपतों के दार्शनिक इतिहास का संग्रह प्राप्त होता है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसमें पाशुपतसूत्र व पञ्चार्थ भाष्य तथा गणकारिका का दार्शनिक चिन्तन ही विवेचित प्राप्त होता है । तदनुसार[१]-

"प्रथम पाशुपत सूत्र से ज्ञात होता है कि दुःखान्त हेतु गुरु द्वारा उपदेश ही वरेण्य है । इस गुरु का स्वरूप गणकारिका में निश्चित किया गया है यथा- आठ पञ्चक (पांच-पांच भेदों से युक्त गण) जानने योग्य है और एक गण तीन अवान्तर भेदों का है इन गणों का ज्ञाता जो संस्कार करने वाला हो वह गुरू कहलाता है । लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और बल ये आठ पञ्चक हैं । वृत्तियाँ या कार्य तीन हैं । वे निम्न हैं-

१- लाभ - उपाय के फलों को प्राप्त करने का नाम लाभ है । ज्ञान, तपस, नित्यत्व, स्थिति (धैर्य) और शुद्धि भेद से यह पांच प्रकार का है जैसा कि हरदत्ताचार्य ने कहा है ।

२- मल - आत्मा के अवस्थित दुष्ट भावों को मल कहते हैं । यह मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति हेतु, च्युति और पशुत्वमूल इन पांच मलों को इस तन्त्र में विवेक द्वारा त्यागना चाहिये ।

३- उपाय - साधक की शुद्धि के कारणों को उपाय कहते हैं जिसके वासचर्या आदि पांच भेद हैं यथा- वासचर्या (निवास के नियम), जप, ध्यान, रुद्र का सदास्मरण, और प्रपत्ति ।

४- देश - जिनके पास रहकर साधक पञ्चार्थ का अनुसन्धान करते हुए ज्ञान और तपस्या की वृद्धि करता है वह देश जैसे गुरू, जन, गुहा श्मशान एवं रुद्र ।

५- अवस्था - लाभ प्राप्ति पर्यन्त तक जब साधक एक ही प्रकार से अवस्थित रहता है तब उसकी यही अवस्थिति अवस्था कहलाती है यथा- व्यक्तावस्था, अव्यक्तावस्था, जया, छेद और निष्ठावस्था । इसका विवेचन गणकारिका में हुआ है ।

६- विशुद्धि - मिथ्याज्ञान आदि का सर्वथा विनाश विशुद्धि है यथा - अज्ञान हानि अधर्म की हानि, आसक्ति की हानि, पशुत्व की हानि ।

७- दीक्षाकारी - दीक्षा के तत्व जैसे द्रव्य, क्रिया, काल , मूर्ति और गुरु ।

८- बल - पांच बल है यथा- गुरुभक्ति, मति प्रसाद, द्वन्द जय, धर्म और अप्रमाद ।

९- **वृत्ति - पांच मलों को क्षीण करने के लिये, आगमों के विरुद्ध नहीं जाने वाले अन्ना**र्जन के उपायों को वृत्ति कहते हैं यथा - भैक्ष्य उत्सृष्ट और यथालब्ध तीन वृत्तियां है जिनका विवेचन पूर्व अध्याय में हुआ है ।"[२]

पञ्चार्थ दर्शन का विवेचन यहां भी किया गया है यथा-

कार्य[३] - जो कुछ परतन्त्र है सब कार्य है जो तीन प्रकार का है विद्या, कला और पशु ।

विद्या - पशुओं के गुण को विद्या कहते हैं । इसके दो भेद हैं- बोधस्वभाव अबोधस्वभावा । बोधस्वभावाली विवेक, अविवेक प्रवृत्ति भी दो प्रकार की है । चित्त के द्वारा सभी प्राणी बोधात्मक प्रकाश से अनुगृहीत सामान्य रूप से सभी वस्तुओं को जानता है । चाहे वे विवेक प्रवृत्ति से पूर्ण हो या रहित । उनमें विवेक प्रवृत्ति केवल प्रमाणों के ज्ञान से ही व्यक्त होती है ।

अबोधात्मिका विद्या वह है जिसमें पशुत्व की प्राप्ति कराने वाले धर्म और अधर्म ये दोनों संस्कार रहें ।

कला - चेतन के अधीन रहने वाली कला स्वयं अचेतन होती है । यह भी दो प्रकार की है- (१) कार्याख्या कला, (२) करणाख्या कला ।

(१) कार्याख्या दस प्रकार की होती है । -पृथिवी आदि पांच तत्व और रूप आदि पांच गुण ।

(२) करणाख्या कला के तेरह भेद हैं- पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कमेन्द्रियां, अध्यवसाय, अभिमान और संकल्प नामक तीन वृत्तियों के भेद के कारण-बुद्धि ,अहंकार और मन ।

पशु - पशुत्व युक्त पशु है । वह भी दो प्रकार का है (१) साञ्जन (शरीरेन्द्रिय युक्त), (२) निरञ्जन (शरीरेन्द्रिय रहित) इनका विस्तार पञ्चार्थ में उल्लिखित है ।[४]

कारण और योग[५]

विश्व की सृष्टि, संहार और अनुग्रह करने वाले तत्व को कारण ईश्वर कहते हैं यद्यपि यह एक ही है फिर भी गुण (सत्व, रज, तम) और कर्म (त्रिविध कार्य) की अपेक्षा के कारण इसके विभाग कहे गये हैं- पति नित्य ऐश्वर्य सम्पन्न (आद्यगुणयुक्त) है -इत्यादि । यहां पति का अर्थ है निरतिशय (सर्वोच्च) दृक् और क्रियाशक्ति से युक्त होकर उसी ऐश्वर्य के द्वारा नित्यसम्बन्ध धारण करना ।

योग

चित्त के द्वारा ईश्वर के सम्बन्ध के कारणों को योग कहते हैं ।[६] यह भी दो प्रकार का है — क्रिया से युक्त और क्रिया की निवृत्ति वाला । जप ध्यान, आदि के रूप में जो योग है उसे क्रियायुक्त योग कहते हैं । क्रिया की निवृत्ति वाला योग जिसकी संज्ञायें निष्ठा, संवित (तत्वज्ञान) और शरणागति हैं ।

विधि का निरूपण[७]

धर्म (महेश्वर) रूपी लक्ष्य की सिद्धि के लिए साधक का व्यापार विधि है । इसके दो भेद हैं । प्रधान विधि और गौण विधि । प्रधान विधि साक्षात् धर्म का कारण या चर्या है । इसके दो भेद हैं व्रत और द्वार । भस्मस्नान शयन, जप, प्रदक्षिणा आदि व्रत है । भगवान् लकुलीश ने उपहारों का निर्देश किया है जिसका अर्थ है नियमों का पालन जैसा कि कहा है- हसित, गीत, नृत, हुंडुक्कार, नमस्कार और जप्य ।

हसित का अर्थ है कण्ठ और औष्ठपुष्टों को हिला-हिलाकर "अहह" ध्वनि करते हुए अट्टहास करना । गान्धर्वशास्त्र की परम्परानुसार महेश्वर से सम्बद्ध गुण निमित्त गान गीत है । नाट्यशास्त्र के अनुसार हस्त-पादादि का उत्क्षेपण नृत्य है । हुंडुक्कार उस नाद विशेष को कहते हैं जो वृषभनाद के सदृश है तथा जिह्वा और तालु के संयोग से उत्पन्न होने वाला पुण्यजनक शब्द है । जहां पर सामान्य जन रहे वहां यह सब प्रयोग गुप्तरूपेण करना चाहिए ।

द्वारचर्यायें (बाह्य प्रदर्शन हेतु) निम्न है-क्राथन (खर्राटे भरना) ,स्पन्दन (देह का कंपन), मन्दन (लड़खड़ाकर चलना), श्रृंगारण (विलास प्रदर्शन), अपितत्करण (उल्टासीधा काम करना) और अपित्तत्भाषण (अनाप-शनाप बकना) इन सब क्रियाओं के दौरान आगत अपवित्रता के क्षपण हेतु अनुस्नान, निर्माल्य लिङ्ग धारण आदि चर्यायें करणीय हैं ।

दुःखान्त

इसमें दुःखान्त दो प्रकार का होता है, अनात्मक और सात्मक । अनात्मक दुःखान्त उसे कहते हैं जिसमें सभी दुःखों का पूर्णरूपेण विनाश हो जाय । सात्मक दुःखान्त वह है जिसमें दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त ऐश्वर्य की भी प्राप्ति हो । दृक् शक्ति यद्यपि

एक है किन्तु विषयों की विभिन्नता के कारण पांच प्रकार से व्यक्त की जाती है-दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान (विवेचन) व सर्वज्ञता ।

दर्शन उस ज्ञान शक्ति का नाम है जिसके द्वारा समस्त चाक्षुष विषयों और स्पर्श सम्बन्धी विषयों का ज्ञान होता है । सभी शब्दों के विषय में सिद्धि के रूप में उत्पन्न ज्ञान को श्रवण कहते हैं । चिन्तन करते ही योग की सिद्धि द्वारा ज्ञान पा लेना मनन है । सिद्धि के द्वारा सभी शास्त्रों के ग्रन्थार्थ को जान लेना विज्ञान है । तत्व के रूप में सम्बद्ध और सदैव प्रकाशित सिद्धि ज्ञान को सर्वज्ञत्व कहते हैं । क्रियाशक्ति एक ही होती है । फिर भी तीन प्रकार की है — मनोजवित्व (मन की तरह वेगवान होना), कामरूपित्व (इच्छानुसार रूप बदलना), विकरणधर्मित्व (इन्द्रियहीन होने पर भी ऐश्वर्य धारण करना) ।[८]

इस प्रकार यहां पञ्चार्थ ज्ञान का निश्चय करने से .ही मोक्ष प्राप्तव्य है । इस प्रकार पञ्चार्थ दर्शन का विवेचन समास, विस्तर, विभाग और विशेष रीति से किया गया है । यथा—केवल पदार्थों का नाम भर लेना समास कहलाता है । पांचों पदार्थों का प्रामाणिक रूप से विस्तार पूर्वक नाम लेना विस्तर है । एक दूसरे पदार्थ से बिना मिलाये हुये स्पष्ट पूर्वक वर्णन करना विभाग कहलाता है । दूसरे शास्त्रों से (न्याय आदि) इस शास्त्र में कथित इन पदार्थों के गुणों के पार्थक्य का वर्णन करना विशेष । विशेष के अन्तर्गत अन्य शास्त्रों से इस शास्त्र की निम्न विशेषताएं है ।[९]

(क) दूसरे शास्त्रों में दुःख से मुक्त हो जाना ही दुःखान्त है किन्तु इस पाशुपतशास्त्र में ऐश्वर्य की प्राप्ति भी होती है ।

(ख) दूसरे शास्त्रों में कार्य वह है जो पहले विद्यमान न हो पीछे कारणादि व्यापारों के प्रयासों से उत्पन्न हो अर्थात् कार्य अनित्य है । किन्तु पाशुपतों में नित्य पदार्थों को कार्य कहते हैं ।

(ग) अन्य शास्त्रों में कारण सापेक्ष होता है (जैसे वेदान्त में धर्माधर्म की अपेक्षा रखने वाला ईश्वर) जबकि इस शास्त्र में निरपेक्ष भगवान ही कारण होता है ।

(घ) दूसरे शास्त्रों में योग वह है जो कैवल्य की प्राप्ति करा दे, इस शास्त्र में योग उसे कहते हैं जो परम ऐश्वर्य से युक्त दुःखान्त (मोक्ष) देता है ।

(ङ) अन्य शास्त्रों में (जैसे मीमांसा में) विधि वह है जो स्वर्ग आदि ऐसा फल प्रदान करे जिसकी (फल) आवृत्ति फिर हो जाये, लेकिन इस शास्त्र में विधि से सामीप्य आदि फल मिलता है जिसका नाश सम्भव नहीं ।

इस प्रकार पाशुपतों का विशेष अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसे यहां स्पष्ट किया गया है ।[१०]

पाशुपत दर्शन के आलोचकों ने जिस आधार पर इस दर्शन की आलोचना का प्रयास किया है उनका भी निराकरण हमें सर्वदर्शन संग्रह में प्राप्त होता है ।[११]जो निम्न है ।

१- यहां निरपेक्ष परमेश्वर को कारण मानने से दो दोष उत्पन्न होंगे सभी कर्म निष्फल होंगे और सभी कार्य एकसाथ ही उत्पन्न होने लग जायेंगे । यदि ईश्वर को सापेक्ष मान लें तो ईश्वर के द्वारा सुख-दुःख का सम्पादन होगा और कर्मों की सफलता मानी जायेगी । यदि सभी कर्म एक साथ नहीं किये जायेंगे तो उनकी फल प्राप्ति भी एक साथ नहीं होगी । यही कारण है कि वेदान्त में ईश्वर को धर्माधर्मपेक्षी मानते हैं ।[१२]

किन्तु यदि देखा जाय तो पाशुपत दर्शन में ईश्वर और प्राणियों के कार्यक्षेत्र के आधार अलग-अलग हैं । अतएव यहां कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट प्राणियों पर आधारित है और संसार की उत्पत्ति का व्यापार ईश्वर पर आधारित है । दूसरी जगह अदृष्ट जगह के व्यापार पर कैसे अपनी छाप दे सकता है ? संसारोत्पत्ति और कर्मफल एकदम पृथक है- एक दूसरे को क्या लेना-देना । अतः निरपेक्ष ईश्वर को ही कारण मानना ठीक है, उचित है ।

२- ईश्वर की इच्छा से ही अनुगृहीत होने पर कर्म की सफलता निर्भर करती है । ऐसा न होने पर यय़ाति आदि पुरुषों के कर्म की तरह हमारे कर्म निष्फल हो जायेंगे । वह कर्म से निरपेक्ष रहकर ही जगत्कारण बनता है किन्तु कर्म को हर एक दशा में ईश्वर सापेक्ष होना पड़ता है । वस्तुतः जीव तीन प्रकार के कर्म करता है, कुछ कर्मों से ईश्वर प्रसन्न होता है, कुछ से ईश्वर क्रुद्ध होता है और कुछ कर्मों पर उदासीन रहता है । ईश्वर जिस कर्म को अनुगृहीत या स्वीकार नहीं करता उसका फल नहीं मिलता है ।यहां ईश्वर की इच्छा के अधीन ही पशुओं की प्रवृत्ति होती है । अर्थात् ईश्वर जहां उदासीन है कर्मों का फल नहीं मिलता । इस प्रकार फलदान के दो स्रोत हैं ईश्वर और कर्म । ईश्वर द्वारा दिये गय़े फल में कर्म की अपेक्षा नहीं है जबकि कर्म के द्वारा मिलने वाले फल में ईश्वर की अपेक्षा रहती है । इससे न तो ईश्वर के स्वातन्त्र्य की ही हानि होती है और न जीव की अप्रवृत्ति ही देखी जाती है ।

३- दूसरा आरोप कि ईश्वर में प्रयोजन का न होना कर्म की विफलता का कारण है, उचित नहीं क्योंकि परमेश्वर की सारी कामनाएं परिपूर्ण हैं अतः उसे प्रयोजन की अपेक्षा (कर्म से उत्पन्न होने वाला प्रयोजन) नहीं रहती है । निरपेक्ष ईश्वर की कारणता पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता ।

४- दूसरा आरोप कि कार्यों का उत्पादन एक ही साथ होने लगेगा । उचित नहीं है क्योंकि परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, क्रियाशक्ति अव्याहत है जो उसकी इच्छा का

ही अनुसरण करती है उसमें कोई भी कार्य करने की पूर्णशक्ति है इसलिए वह कर्मादि से निरपेक्ष, स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न है, सभी कारणों का कारण है ।[१३]

सन्दर्भ

१. सर्वदर्शन संग्रह - नकुलीश पाशुपत दर्शन ।
२. गणकारिका रत्नटीका द्रष्टव्य पूर्व अध्याय गणकारिका का दर्शन ।
३. नकुलीश पा.द. सर्वदर्शन संग्रह।
४. द्रष्टव्य पूर्व अध्याय पाशुपत सूत्रों का दर्शन पन्चार्थ भाष्य ।
५. अत्रैव ।
६. अत्रैव पा.सू. ५/२.
७. द्रष्टव्य पूर्व अध्याय पा.सू. ५/२.
८. नकुलीश पा.द. सर्व द. संग्रह से ।
९. न.पा. द. (सर्वदर्शन संग्रह) ।
१०. द्रष्टव्य पञ्चार्थ भाष्य दर्शन पूर्व अध्याय.
११. न.पा.द. सर्वदर्शन संग्रह ।
१२. ब्रह्मसूत्र २/१/३४.
१३. ब्रह्मसूत्र २/१/३४.

१३.

आचार्य शङ्कर और पाशुपत दर्शन

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में जिस महेश्वर मत का उल्लेख किया है वह पाशुपतों का पञ्चार्थ दर्शन ही है । "ईश्वर निमित्त कारण है (इस सन्दर्भ) की आलोचना के प्रसंग में आचार्य ने कहा है कि माहेश्वर तो ऐसा मानते हैं । पशुपति (ईश्वर) निमित्त कारण है ऐसा वर्णन करते हैं । आचार्य का इस सन्दर्भ में कहना है कि "पति ईश्वर प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता रूप से जगत का कारण नहीं हो सकता क्योंकि इससे असामञ्जस्य है ।[१]

वस्तुतः आचार्य शङ्कर के बहुत पहले बादरायण ने ईश्वर के कारणत्व के विरुद्ध सूत्रों में अपनी आलोचना प्रस्तुत की जिसकी व्याख्या अधोलिखित है । इस मत के अनुयायी सांख्य-योग, वैशेषिक और पाशुपत ही आते थे अपने दार्शनिक चिन्तन की मान्यता में उन्होंने निम्न तर्क उपस्थित किये-

(क) ईश्वर प्रधान आदि उपादानों का प्रेरक होने से जगत का निमित्त कारण नहीं हो सकता क्योंकि विषम सृष्टि में प्रवृत्त होने से रागद्वेष आदि के प्रसंग से असंगत है ।[२]

(ख) और प्रेर्य प्रधान आदि के साथ प्रेरक ईश्वर के सम्बन्ध की अनुपपत्ति होने से ईश्वर प्रेरक नहीं हो सकता ।[३]

(ग) ईश्वर रूपादि हीन (प्रधान) का प्रेरक न होने से निमित्त कारण नहीं हो सकता ।[४]

(घ) अप्रत्यक्ष होने पर जैसे इन्द्रियां जीव से प्रेरित होती हैं वैसे ही अप्रत्यक्ष प्रधान भी ईश्वर से प्रेरित हो जायेगा तो यह युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर जीव के समान ईश्वर को भी भोग प्रसक्त होंगे ।[५]

(ङ) प्रधान, जीव और अपनी संख्या अथवा परिमाण का निश्चय ईश्वर करता है नहीं इसके प्रथम पक्ष में अपरिछिन्न और परिछिन्न परिमाण होने से तीनों घट के समान विनाशी होंगे । द्वितीय पक्ष में ईश्वर में असर्वज्ञत्व सिद्ध होगा[६] इससे भी तार्किक परिगृहीत कारणवाद असंगत है । इस कल्पना को आचार्य ने वेदाबाह्य बताया है ।

किन्तु पाशुपतों को वेदाबाह्य कहना युक्तिसंगत नहीं है प्रमाणों से यह सिद्ध होता है पाशुपत सम्प्रदाय वैदिक परम्परा के ही अन्तर्गत है ।[७]

वस्तुतः ईश्वर और ब्रह्म में अन्तर है । निर्गुण, ब्रह्म, जगत का न तो निमित्त है और न उपादान ही है, जबकि सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर जगत का सृष्टा, पालक व संहारकर्ता है । आचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को ध्यान में रखकर अपनी आलोचना प्रस्तुत की है । यहां शक्ति पति में न्यस्त है । शक्ति का न्यास चन्द्र एवं चन्द्रिका के समान है । वह भगवान् अपनी इच्छा से अपनी शक्ति में अवस्थित कार्य को अपनी शक्ति से अध्यस्त करता है अर्थात् कार्य भी पशुपति में अध्यस्त है ।[८] वह सृष्टि, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूपी शक्ति के माध्यम से करता है उसी से सम्पूर्ण विश्व प्रकट है ।[९] ईश्वर की प्रेरणा से पशु में कर्तापन प्रतीत होता है, वह कर्तृत्व भी यथार्थ नहीं है ।[१०] इस कर्म रूपी फल का सम्बन्ध जीव से है परमात्मा पशुपति से नहीं ।[११] यहां महेश्वर व्यापक है पुरुषादि[२५] तत्व व्याप्य है ।[१२] ईश्वर अकर्मापेक्ष है । कर्म, कामी महेश्वर की अपेक्षा रखते हैं, भगवान कर्म या पुरुष की अपेक्षा नहीं करता है ।[१३]

यदि हम इस सन्दर्भ में अपना ध्यान केन्द्रित करें तो इस निर्णय पर पहुंचेगे कि यहां दोनों पक्ष उपस्थित हैं ।

(१) मायावाद - जहां निर्गुण ब्रह्म अज्ञानमयी सृष्टि के ऊपर हैं ।

(२) लीलावाद - यहां ईश्वर शक्ति के माध्यम से संसार में प्रवृत्त होता है । रागद्वेषादि उसकी लीला है, उसका सहज स्वभाव है । विश्व का व्यापार ईश्वर के विलास या लीला का साधन है ।[१४] पाशुपतों में इसी मत को स्वीकार किया गया है ।

सन्दर्भ

१. ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य २/२/३७. नैयायिक भी ईश्वर कारणिक है ।.
२. ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य २/२/३७.
३. तत्रैव २/२/३८.

४. तत्रैव २/२/३९.
५. तत्रैव २/२/४०.
६. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य २/२/४१.
७. द्रष्टव्य-पाशुपत मत की उत्पत्ति पूर्व खण्ड इसी ग्रन्थ में ।.
८. पाशुपत सूत्र पञ्चार्थ भाष्य २/५.
९. श्वेता. ६/८ वा.सं.पूर्व भाग २/६०.
१०. पा.सं.पूर्व भाग २/७.
११. वा.सं.पूर्व भाग २/३०.
१२. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य २/५.
१३. पा.सू. पञ्चार्थ भाष्य २/६..
१४. वा.सं. पूर्व भाग १/५५.

उपसंहार

पूर्व विवेचित साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि आगम परम्परा का उद्भव वैदिककाल में ही हो चुका था । पाञ्चरात्रागम की भांति पाशुपतागम एवं शैवागम का मूल भी यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा में निहित दिखाई देता है । इस प्रकार श्वेताश्वतर शाखा के धार्मिक परिवेश में पाशुपतागम का विकास अतिप्राचीन काल में क्षीरसागर या कैस्पीयन सी के तटवर्ती परम पवित्र भूभाग "श्वेतद्वीप" में हुआ । यह अनुश्रुति निश्चित ही विचारणीय है कि इसी श्वेताश्वतर शाखा में महेश्वर का प्रथम योगावतार श्वेताश्वतर महामुनि के रूप में हुआ जो पाशुपतागम के संस्थापक और अनेकानेक शैवागमों के प्रणयनकर्ता थे । इस आगमिक परिवेश के धार्मिक अन्तःसमीक्षण से विदित होता है कि शतरुद्रीय भी इसी परम्परा के अन्तर्गत है जिसमें अति-विशाल शैव पूजक परम्पराओं का अपूर्व एवं अभूतपूर्व संगम हुआ है, साथ ही साथ प्राक्आर्यों, प्रारम्भिक आर्यों, सुसंस्कृत आर्यों तथा अनार्यों की इन धार्मिक मान्यताओं का अन्तर्लयन होता दिखाई देता है जिनके आराध्य पशुपति रुद्र-शिव थे। शतरुद्रीय का आराध्य पशुपति रुद्र न केवल विश्व की सर्वशक्तिमान सत्ता है अपितु वह एक परमसत्ता के रूप में विश्वरूप भी है, सृष्टि के सर्वात्मरूप योगमय संप्रभुता के रूप में वह प्राणिमात्र का पति और मोक्षदाता भी है और समस्त जागतिक क्रियाकलापों में हमारे मध्य उपस्थित भी है । आगमिक परिवेश में परमसत्ता का यह स्वरूप अथर्ववेद और तैत्तिरीय आरण्यक में भी निर्मित होता है । पशुपति रुद्र यहां उस मूर्त, सर्वश्रेष्ठ एकत्व परमेश्वर के रूप में उपस्थित होता है । जिसकी हमें पूजा और उपासना करनी चाहिये ।

श्वेताश्वतर ने इन सम्पूर्ण धाराओं को समायोजित कर पाशुपतागम की स्थापना की और इस प्रकार अनेकानेक शैवागमों एवं पाशुपतागमों के प्रथम प्रणयनकर्ता श्वेताश्वतर ने महेश्वर की भक्ति और साधन के पारम्परिक ज्ञान का श्रीगणेश अपने ज्ञानोपदेश से किया जो श्वताश्वतर उपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है । साक्ष्यों से यह विदित होता है कि हिमालय की पीठ पर (केदारनाथ रुद्रप्रयाग) के पार्श्व में अमरेश्वर लिङ्ग के समीप धर्मवन में उनका आश्रम था । उन्होंने पाशुपतागम का उपदेश अपने शिष्यों को किया । यजुर्वेद से प्रवाहित पाशुपतागमों की धारा की स्थापना औपनिषदिक युग में श्वेताश्वतर द्वारा सम्पन्न हुई ।

साक्ष्यों से विदित होता है कि श्वेताश्वतर की धारा परवर्ती उपनिषदों में भी प्रवाहित होती रही । यद्यपि कि इसके तत्व कठोपनिषद्, गीता और मैत्राण्युपनिषद् में प्राप्त होते हैं तथापि अथर्वशिर एवं जाबाल्युपनिषद् को श्वेत की पाशुपत धारा ने पूर्णतः अभिसिञ्चित किया ।

इस धारा का प्रस्थान अन्यान्य भारतीय दर्शनों की ओर भी हुआ जब उनकी स्थापना हो रही थी । सांख्य, वैशेषिक, न्याय और सोमनय के संस्थापक पाशुपत योगावतारों की शिष्य परम्परा की श्रेणी के आचार्य के रूप में स्मृत हैं जिनमें कणाद, गौतम, अक्षपाद और सोमनय के संस्थापक सोमशर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है । सांख्य के कपिल, आसुरि, पञ्चशिख व जैगीषव्य का स्मरण भी पाशुपत परम्परा में इसी प्रकार किया गया है ।

पाणिनि, पतन्जलि, बादरायण और मेगास्थनीज के विवरणों और उल्लेखों से स्पष्ट होता है भारत भूमि में पाशुपतों और शिवभागवतों का प्राधान्य स्थापित हो रहा था ।

महाभारत से स्पष्ट होता है कि ईशापूर्व की सादियों में स्वतन्त्र शैवागम की स्थापना श्रीकंठ नामक ऐतिहासिक व्यक्ति ने की, उनके प्रयासों से पाशुपतागम और शैवागम कश्मीर से कन्याकुमारी तक विस्तरित और आराध्य तथा लोकप्रिय हुआ ।

भारतीय इतिहास के लिए ईसापूर्व की दूसरी और तीसरीशदी अत्यन्त महत्वपूर्ण है जब सिन्धु से सरस्वती और सदानीरा तथा गंगासागर और दक्षिण समुद्र तथा उत्तर में हिमालय-हिन्दुकुश के मध्य की आध्यात्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक एकता पर विदेशियों के कुठाराघात होने लगे थे ।

भगवान् महेश्वर ने अट्ठाइसवीं बार कायरूपी लकुलीश के रूप योगावतरण किया, ईसापूर्व की द्वितीय शदी में भगवान लकुलीश का यह आविर्भाव पाशुपत धर्म-दर्शन के इतिहास में एक नव्य युग लेकर आया । यह पाशुपत परम्परा के नवोन्मेष का युग था, स्वतन्त्र शैवागम की स्थापना का युग था । एक ऐतिहासिक युग-पुरुष के रूप में लकुलीश ने बिखरी हुई पाशुपत परम्पराओं का संगठन व समायोज़न किया तथा तान्त्रिक परिवेश से पूर्ण नवीन दर्शन, साधना व योग मार्ग का उन्मीलन किया जो लकुलीश पाशुपत मत के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है । भगवान लकुलीश का अवतरण कारवन में हुआ था, उज्जैनी में उन्होंने अपना उपदेश शिष्यों को किया जो पाशुपतसूत्र के नाम से विख्यात है । लकुलीश के बाद पाशुपताचार्यों की परम्परा आरम्भ होती है । उनके सद्यः शिष्यों में कुशिक, गार्ग्य, मैत्रेय और कारुष थे जिनकी अपनी परम्पराओं मे लुकलीश पाशुपत मत विकसित हुआ । इतिहास में लकुलीश के पश्चात् परम्परा के सत्तरह आचार्यो के नाम उपलब्ध होते हैं जिन्होंने इस मत का प्रसार व प्रचार किया और लकुलीश प्रणीत साधना पद्धति का अनुसरण किया ।

सिक्कों से विदित होता है कि कुषाण शासकों ने माहेश्वर मत को अंगीकार किया था जिनकी अनुकृति उनके सोने के सिक्कों पर है। शंकराचार्य के अनुसार यह माहेश्वर सम्प्रदाय लकुलीश पाशुपत मत ही था। जो पञ्चार्थ दर्शन के नाम से ज्ञात है। इस प्रकार ईसा शदी के प्रारम्भ तक प्रभास, भृगुकच्छ, कारोहण, उज्जैन, मथुरा, विठूर (कानपुर) तो लकुलीश पाशुपत मत के केन्द्र थे ही अपितु उनकी सीमाएं कैस्पीयन सागर, अफगानिस्तान , पंजाब, राजपूताना, कश्मीर, उत्तर प्रदेश और कन्याकुमारी तक विस्तृत हुई प्राच्यों और प्रतीच्यों में पशुपति-रुद्र की उपासना अथर्ववेद काल से ही प्रचलित थी।

ईसा की तृतीय अथवा चतुर्थ शदी में कौण्डिन्य अथवा राशिकर के लकुलीश प्रणीत पाशुपतसूत्रों के पञ्चार्थ भाष्य का विशेष प्रचलन हुआ जब उन्होंने पाशुपत योग विधि, साधना और दर्शन पद्धति की युक्तिसंगत व्याख्या प्रस्तुत किया। मथुरालेख से स्पष्ट होता है कि अपर कुशिक और उदिताचार्य ने इस परम्परा को अक्षुण्य बनाये रक्खा।

एक महायानी साहित्य "लंकावतारसूत्र" और तमिलदेश में नक्कदेव की शैवपरम्परा से विदित होता है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक सादियों में लकुलीश पाशुपत परम्परा दक्षिण भारत में प्रचलित हुई। बाद में इससे स्मार्त परम्परा तथा कापालिक, कालमुख और कालाननों की परम्परा का विकास हुआ।

सम्पूर्ण पाशुपत परम्परा का पुनः संकलन, समायोजन और संग्रह पौराणिक परिवेश में होता है और उसमें श्रौत-अश्रौत और वैदिक तथा स्वतन्त्र परम्परा का विकास होता है। यहां पाशुपतों की दोनों धाराओं का संगम भी होता है। इस दृष्टिकोण से वायुपुराण में तान्त्रिक परिवेश के नये आयाम और उस श्वेत कल्प की महत्वपूर्ण झलक प्राप्त होती है जो इन अनेकशः धाराओं की पूर्वपीठिका रहा है। ऐसा लगता है कि लकुलीश पाशुपतों की परम्परा में नये तत्वों का समावेश हो रहा था और उनके विकास को पौराणिक शक्ति एक नवीन गति दे रही थी। चौथी शती के पूर्व ही लकुलीश की प्रतिमाओं के निर्माण की परम्परा का भी अभ्युदय होता है। बाणभट्ट, ह्वेनसांग और मिहिरकुल के समय पाशुपतों का चतुर्दिक विस्तार दिखाई देता है, अब लकुलीश पाशुपतमत प्रभास मंडल, भृगुमंडल, उज्जैन, कारोहण, ब्रह्मवर्तदेश, मथुरा, कैलास क्षेत्र, रुद्र हिमालय, केदारनाथ व दक्षिण भारत में श्रीशैल तक प्रभावपूर्ण हो गया था। पाञ्चरात्र साहित्य अहिर्बुधन्य संहिता, याज्ञवल्क्य स्मृति, योगियाज्ञवल्क्य आदि में पाशुपत मत की चर्चा आरम्भ हो जाती है।

ईसापूर्व की शदियों में न्याय-वैशेषिकों में पाशुपत मत प्रचलित हो जाता है-साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि उद्योतकर एवं प्रशस्तपाद पाशुपत-मत से प्रभावित थे। ह्वेनसांग, कपिशा, कपिथ्य, अहिक्षेत्र, वाराणसी और उज्जैनी में पाशुपतों की उपस्थिति का उल्लेख करता है। सातवी-आठवीं शदी में कूर्मपुराण में पाशुपतों की द्विविध परम्पराओं और

अनेकशः धाराओं का संगम नवोदित तान्त्रिक परिवेश में होता है । कूर्मपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस नये परिवेश को अब पूर्णतः मान्यता प्राप्त हो गयी थी । उसमें लाकुलों में पाशुपतों, सोम, कापलिक और भैरवों को वाममार्गी कहा गया है जिससे स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र पाशुपतागम के तान्त्रिक परिवेश की जड़ें मजबूत हो गयी थीं ।इसमें शैवों और वैष्णवों का परस्पर परिपाक भी दिखाई देता है । केदार, रुद्रकोटि, कालन्जर, गोकर्ण, कनखल, प्रभास, सोमतीर्थ, सप्तसारस्वत, नकुलीश्वर आदि पाशुपतों के तीर्थ केन्द्रों की स्थापना इस काल तक हो चुकी थी ।

सातवीं-आठवीं शती में इस नवीन आगमिक परिवेश में आगम साहित्य की रचना आरम्भ हो गयी थी । इनके साथ ही उत्तर में काश्मीर शैवदर्शन का केन्द्र हो गया और वहां प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विकास हुआ । तमिल साहित्य में शैव-ग्रन्थों की रचना का काल यही है जब दक्षिणी शैव मत व शैवसिद्धान्त पल्लवित और पुष्पित हुआ । इसी समय काश्मीर से कन्याकुमारी तक श्रीकंठ द्वारा स्थापित आगम परम्परा का पुनरुत्थान हुआ । इस प्रकार उत्तर और दक्षिणी शैवमत को एक नया तान्त्रिक आयाम और गति देने का कार्य पाशुपतों ने किया जब संस्कृत व प्राकृत भाषाओं में तेजी से शैव साहित्य की रचना आरम्भ हुई ।

शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में लकुलीश पाशुपतों के पञ्चार्थ दर्शन की न केवल समीक्षा प्रस्तुत की अपितु पाशुपतों से उनका अनेक स्थानों पर उनके दृष्टिकोणों से सन्दर्भ में बाद-विवाद भी उपस्थित हुआ । इसी परम्परा में रामानुज और यामुनाचार्य ने भी पाशुपतों के प्रति अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किये । जिनसे स्पष्ट होता है कि इस समय भारतभूमि पर पाशुपत धर्म दर्शन अत्यन्त महत्वपूर्ण हो चुका था ।

वायवीय संहिता में लकुलीश पाशुपतमत का पुनः एक बार अभ्युत्थान एवं परिष्कार दृष्टिगत होता है और उनके दार्शनिक परिवेश में प्रकृति और मायावाद तथा लीलावाद के सिद्धान्त को अत्यन्त विकसित स्वरूप प्राप्त होता है । वायवीय संहिता वस्तुतः वायुपुराण की परम्परा के अन्तर्गत ही है किन्तु उसका समायोजन शिवपुराण के अन्तर्गत हुआ है । मेरा यह कथन उसकी रचना की प्राचीनता और एक लम्बे अन्तराल के सन्दर्भ में है । वाययीव संहिता में लकुलीश पाशुपत चर्याओं का विकसित रूप और श्रौत-स्मार्त परम्पराओं का पूर्णतः समन्वय परिलरिक्षत होता है ।

नवम सदी में भासर्वज्ञ रचित गणकारिका की रत्नटीका ने लकुलीश पाशपुत मत को पुनः एक नवीन कलेवर प्रदान किया जिसमें भासर्वज्ञ का नैयायिक दृष्टिकोण भी उपलब्ध होता है उन्होंने गुरू के महत्व, दीक्षा पद्धति और नये ढंग से पाशुपत सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की जो अधिक तर्कसंगत और सुस्पष्ट है ।

दसवीं सदी में श्रीकंठ ने अपने भाष्य तथा में अभिनव गुप्त ने तन्त्रालोक में लकुलीश पाशुपतों का उल्लेख किया जिससे विदित होता है कि तान्त्रिक जगत में इनका महत्वपूर्ण स्थान था । बंगाल के वातुल सूत्रों और बाऊलों में भी लकुलीश-पाशुपतों की झलक मिलती है जिन्होंने वंगभूमि को अपने गीतों और साधनाओं से गुञ्जित किया ।

इस प्रकार वृहत्तर भारत में चतुर्दिक लकुलीश पाशुपतों का विस्तार हो गया । उनकी अतिप्राचीन परम्परा श्वेतद्वीप, क्षीरसागर, हिन्दूकुश, अफगानिस्तान, पंजाब, मध्य-हिमालय की कैलाश संस्कृति क्षेत्र, दक्षिण में कन्याकुमारी और श्रीशैल, पश्चिमी सागर से लेकर चिताभूमि,, वैद्यनाथ और बंगाल तक उन्होंने भारत भूमि को योगमय ध्वनि से झंकृत किया ।

लकुलीश की योगमुद्राओं, भावभंगिमाओं, उनका त्याग, ऐश्वर्य, ब्रह्मचर्य और उनकी करुणा और अनुग्रह तथा उनकी साधनाएं भारतीय कलाकारों की प्रतिमाओं में अभिव्यक्त हुई । लगुड़ एवं बीजाफलधारी, उर्ध्वमेढ़्र, पद्मासनस्थ तथा स्थानक मुद्रा में लकुलीश भारतीय मानस के पूजा एवं अर्चना के विषय बने ।

अनेक स्थानों पर राजाओं द्वारा भवनों के अभिलेखों में उनकी स्तुतियां और उनके जीवन तथा पञ्चार्थ दर्शन को स्मृत और अंकित किया गया । शिष्यों ने अपनी गोत्र परम्पराओं में उस योगमय कायरूपी महेश्वर के उपदेशों के प्रति अपने श्रद्धा-प्रसून अर्पित किये ।

लकुलीश पाशुपतों की दार्शनिक पृष्ठभूमि का स्रोत हमें शतरुद्रीय में प्राप्त होता है । जिसमें रुद्र-शिव सर्वव्यापक सर्वोत्कृष्ट परमसत्ता है, वह निर्गुण, निराकार, सगुण-साकार और विश्व रूप भी है । आगमिक परिप्रेक्ष्य में उन्हें मोक्षदाता और कल्याणदाता की भांति देखा गया है । अथर्ववेद में उनके विभिन्न नाम विशिष्ट हो गये जैसे भव, शर्व, ईशान, पशुपति, रुद्र उग्र आदि स्वरूपों में उनकी उपासना प्रचलित हो गयी । वस्तुतः उपर्युक्त नाम उस विशाल शैव-पूजक परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका संगम शतरुद्रीय में हो गया था । एक व्रात्य सूक्त में पशुपति रुद्र सर्वशक्तिमान परमसत्ता के रूप में विवेचित हैं जो इस विश्व का उत्पत्तिकर्ता, धाता, ईशान और सर्वातिशायी सत्ता है, दूसरी ओर वह व्रात्य-संस्कृति का प्रमुख देवता है जो समग्र रूपेण वैदिक संस्कृति के दर्शन में आत्मसात् हो जाता है । तैत्तिरीय आरण्यक में इस परम्परा का आगमिक स्वरूप निर्मित होता दीख पड़ता है । साथ ही साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लकुलीश -पाशुपतों के आगमिक परिवेश के बीज स्वतन्त्र रूपेण इस ग्रन्थ में ही निहित थे जैसा कि तैत्तिरीय आरण्यक और पाशुपतसूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है । सृष्टि, स्थिति, संहार रूपी त्रिविध कार्यकारी, अनुग्रहकर्ता, और सर्वदुःखों को दूर करने वाला, अर्चनार्ह ईश्वर है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में पाशुपतागम के व्यवस्थित दर्शन की स्थापना हुई है । यहां पशुपति-रुद्र ब्रह्म एवं परमसत्ता पद पर पूर्णतः प्रतिष्ठित है, वह जगत के कारण रूप में है, जिससे जगत उत्पन्न है, जिसमें स्थित है और जो जगत का संहारक है । शतरुद्रीय, एक व्रात्यसूक्त, अथर्ववेद और तैत्तिरीय आरण्यक की परम्परा में विकसित दार्शनिक परम्पराओं के प्रयास की समग्ररूपेण संप्रतिष्ठा श्वेताश्वतर में हुई है । वह पशुपति रुद्र, परमपुरुष और सर्वव्यापक एकत्व सत्ता है जिससे जगत, जीव, तथा प्रकृति का नियमन उसकी ईशनी शक्ति द्वारा हो रहा है माया के सिद्धान्त की स्थापना भी इसी उपनिषद् में हुई है । कहा गया है "मायां तु प्रकृतिं विद्यत्मायिनंतु महेश्वरम्" । विद्या-अविद्या, कर्म और जीव-पाश का विवेचन भी इस उपनिषद् में प्राप्त होता है । इस प्रकार महेश्वर के प्रथम पाशुपत योगावतार श्वेताश्वतर ने योग, साधना तथा भक्तिपथ का मार्ग भी उन्मीलित किया जिससे व्यक्ति के दुःखों का अन्त और देव-प्रसाद की प्राप्ति होती है ।

श्वेताश्वतर की दार्शनिक धारा और साधनामार्ग परवर्ती उपनिषदों, न्याय-वैशेषिक, सोमनय आदि अनेकशः दर्शनों में प्रवाहित होने लगी और उन पर इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा ।

श्वेत की परम्परा में महेश्वर के अट्ठाइसवें कायरूपी योगावतार भगवान् लकुलीश ने पाशुपतसूत्रों का प्रणयन एवं उनका उपदेश किया जो पाशुपत परम्परा के परिवेश में एक नव्य क्रान्तिकारी आयाम था । लकुलीश -प्रणीत दर्शन को पञ्चार्थ दर्शन कहा गया है उनकी आचार्य परम्परा के शिष्य राशिकर अथवा कौण्डिन्य ने इन पाशुपतसूत्रों का पञ्चार्थ भाष्य प्रस्तुत किया जो विषय, व्याकरण, अर्थ एवं व्याख्या की दृष्टि से अतिउत्कृष्ट है । यह पञ्चार्थ दर्शन कार्य, कारण, योग, विधि, दुःखान्त इन पांच भागों में विभक्त है ।

पाशुपतसूत्रों और पञ्चार्थ भाष्य में एक नूतन दार्शनिक, आगमिक, साधनापरक और तान्त्रिक परिवेश उभरता दीख पड़ता है । इस नयी ध्वनि में शतरुद्रीय, तैत्तिरीय आरण्यक और श्वेत का पूर्णतः समावेश था । अभिनवगुप्त ने इस दर्शन को द्वयाद्वय कहा है । यद्यपि पाशुपतसूत्रों के दर्शन में माया सिद्धान्त पूर्णतः नहीं है तथापि पशुपति के शक्ति की चर्चा उपलब्ध होती है, यहां प्रकृति महेश्वर में अन्तस्थ बतायी गयी है । यहां कार्य-विद्या, कला, पशु, कारण-पशुपति सृष्टि, स्थिति, संहार व अनुग्रहकारी है, योग-आत्मेश्वर संयोग है और विधि दुःखान्त प्राप्ति का उपाय या साधन है, तथा दुःखान्त सर्वदुःखों का एकान्तिक और आत्यन्तिक विनाश (उच्छेद) एवं परमैश्वर्य की प्राप्ति है जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा यहां अपना वैशिष्ट्य रखता है । वस्तुतः लकुलीश पाशुपतों में लीलावाद का सिद्धान्त विकसित होता है । तदनुसार वह भगवान क्रीड़ाशील होकर विद्या, कला, पशुसंज्ञक तीन प्रकार के कार्यों को करता हुआ उसको अनुगृहीत एवं तिरोभावित करता है । योग-विधि के अन्तर्गत यहां उस परम-पवित्र साधना मार्ग का विस्तृत विवेचन

किया गया है जिसका अनुसरण कर जीव माहेश्वर ऐश्वर्य अथवा रुद्र सायुज्य को प्राप्त कर लेता है ।

प्रसिद्ध नैयायिक भासर्वज्ञ ने गणकारिका की रत्नटीका में पाशुपत सूत्रों के दर्शन को एक नवीन गति और नया मोड़ दिया । गणकारिकाओं की व्याख्या में नैयायिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है साथ ही साथ गुरू का स्वरूप, उनकी अतिशय महत्ता और दीक्षा का स्वरूप भी सम्यक् रूपेण अंकित किया गया है ।

वायवीय संहिता में श्वेताश्वतर एवं लकुलीश की परम्परा का अपूर्व दृश्य उपस्थित है साथ ही इस वैदिक परम्परा में स्वतन्त्र आगम की परम्परा का तान्त्रिक ध्वनि के साथ अभूतपूर्व संगम हुआ है । यहां माया और प्रकृति का सिद्धान्त भी अपनी विकसित अवस्था में उपस्थित है । परमशिव की अष्टमूर्तियों, यम-नियम और साधना पद्धति का यह विस्तृत आयाम भी समग्र परम्पराओं का गम्भीर निदर्शन और दिग् दर्शन है । सृष्टि की व्यापक समस्या के समाधान का प्रयास भी उल्लिखित है ।

सर्वदर्शन संग्रह में लकुलीश पाशुपत परम्परा का दर्शन सातत्य के क्रम में संग्रहीत किया गया है और अन्य प्रतिपक्षियों की आलोचनाओं तथा मोक्ष के विषय में अन्य दर्शनों से इस दर्शन का तुलनात्मक दृष्टिकोंण तथा समीक्षा प्रस्तुत की गयी है । प्रतिपक्षियों के आक्षेपों के निराकरण का प्रयास और इस दर्शन का अपना दृष्टिकोंण भी उपस्थित है ।

ब्रह्म के कारणत्व की चर्चा करते हुए आचार्य शङ्कर ने यद्यपि लकुलीश-पाशुपत मत की आलोचना की है तथापि इस सन्दर्भ में यह प्रश्न लेखक ने उठाया है कि पाशुपतों का साध्य ब्रह्म विवेचन नहीं था अपितु यहां पशुपति ईश्वर का विवेचन है, यहां लीलावाद का सिद्धान्त विवेचित है । तदनुसार परमसत्ता अप्रतिहत माहेश्वर इस जगत में लीला हेतु प्रविष्ट करता है अथवा अवतरित होता है ।उसके त्रिविध कार्य लीला-मात्र हैं, यह लीला उसका सहज स्वभाव है । शक्ति के माध्यम से वह नानाविध संसार की रचना करता है, इसमें प्रवेश करता है, सम्पूर्ण व्यापार उसकी लीला है । अपने प्रत्येक अवतरणों में वह मानव-मुक्ति और मानवता का परम-लक्ष्य सांकेतिक कर जाता है कि आध्यात्मिक भवितव्यता वाले प्राणी के रूप में इस संसार में रहते हुये हमें क्या कुछ करना है ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

हस्तलेख एवं पाण्डुलिपि

पाशुपतसूत्र : पञ्चार्थ-भाष्य—कौण्डिन्य—गणकारिका रत्नटीका, भासर्वज्ञ;
आत्मसमर्पणम् विशुद्धमुनि; यमप्रकरणम्—विशुद्धमुनि;
पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् सरस्वती पुस्तक भवन, वाराणसी; **वातुल सूत्रः** अड्यार पुस्तकालय; **वायवीय संहिता** (शिवपुराण) इसी ग्रन्थ के भाग ३ में ।

अन्य आधार ग्रन्थ

नकुलीश पाशुपत दर्शनम्: इसी ग्रन्थ में भाग -३ ।
पत्युः अधिकरणम्: इसी ग्रन्थ में भाग-३ ।

मूल ग्रन्थ

ऋग्वेद - श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्रणालय पारडी, १९६७.
- माधव, सम्पादक-स्वर्गीय डॉ. लक्ष्मणस्वरूप, मोतीलाल, बनारसीदास १९५५ ।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर २०२१वि.

पं. जयदेव शर्मा : आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड अजमेर सन् १९५८ ई.
यजुर्वेद- श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्रणालय पारडी १९७०.
शुक्ल यजुर्वेद-वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता - पं. जगदीश चन्द्र शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९७१
- उवट महीधर भाष्य, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई एवं चौ. प्रकाशन १९१५.

अथर्ववेद - श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय पारडी, १९५७.
रुद्राष्टाध्यायी - लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, मुम्बई सं. १९८०.
शतरुद्रीय - शिवराम मूर्ति- अभिनव प्रकाशन, नयी दिल्ली १९७६.

अस्य वामस्य हाईमन विथ द भाष्य आफ सायण एण्ड आत्मानन्द - प्रो.सी. कुन्हन राज, मद्रास, १९५६

ब्राह्मण ग्रन्थ

ऐतरेय ब्राह्मण - सम्पादक - के.एस. आगशे, पूना १८९६

कौषीतकि ब्राह्मण - सम्पादक - ई.वी. कोवेल, कलकत्ता १८६१.

ताण्ड्य ब्राह्मण - सायण भाष्य सहित, बनारस, १९३३.

पञ्चविंश ब्राह्मण - सम्पादक ए. वेदान्त वागीश, कलकत्ता १८८१.

जैमिनीय ब्राह्मण - सम्पादक रघुवीर एवं लोकेश चन्द्र, १९५४.

षड्विंश ब्राह्मण - सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८१.

सायणभाष्य, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेकंटेश्वर प्रेस सन १९४०

कल्याण, बम्बई ।

शतपथ ब्राह्मण - बालचन्द्र यन्त्रालय मानवाश्रम दुर्गापुरा, जयपुर ।

प्राचीन वैज्ञानिकाध्ययन अनुसन्धान संस्थान, दिल्ली १९६९ प्रकाशक

शाँख्यायन ब्राह्मण- रामस्वरूप शर्मा

तैत्तिरीय ब्राह्मण - एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, राजेन्द्र लाल मित्र, वैपटिस्ट मिशन प्रेस कलकत्ता, १८५९ ।

आरण्यक

तैत्तिरीय आरण्यक - सायणभाष्य सहित विनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय १९२७, पुण्याख्यपत्तन ।

उपनिषद्

केन उपनिषद् - शाङ्करभाष्य । एवं अष्टादश उपनिषद् प्रथम खण्ड, वैदिक संशोधन रामानुज रंगाचार्य भाष्य मंडल पुण्यपत्तनम् १८८०.

कठोपनिषद् - यथोक्त ।

प्रश्नोपनिषद् - यथोक्त ।

मुण्डकोपनिषद् - यथोक्त ।

माण्डूक्योपनिषद् - यथोक्त ।

तैत्तिरीयोपनिषद् - यथोक्त ।

ऐतरेयोपनिषद् - यथोक्त ।

छान्दोग्योपनिषद् - यथोक्त ।

वृहदारण्यकोपनिषद् - यथोक्त ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् - यथोक्त ।

कौषीतक्युपनिषत् - वैदिक संशोधन मंडल, पुण्यपत्तनम् शाके १८८०.

मैत्राण्युपनिषत् - यथोक्त ।

श्वेताश्वतरोपनिषत्— (शाङ्करभाष्य) आनन्दाश्रम मुद्रणालय शकाब्द १९२७, हरिनारायण आप्टे ।

अथर्व शिरस उपनिषद् - शैव उपनिषद्स, महादेव शास्त्री अड्यार लाइब्रेरी, १९५०.

जाबाल्युपनिषत् - शैव उपनिषद्स—महादेव शास्त्री अड्यार लाइब्रेरी, १९५०

भस्मजाबालोपनिषत् - यथोक्त ।

बृहज्जाबालोपनिषत् - यथोक्त ।

कैवल्य उपनिषद् - यथोक्त ।

सर्वोपनिषत् - यथोक्त ।

शरभोपनिषत्-यथोक्त ।

नीलरुद्रहृदयोपनिषत् - यथोक्त ।

महानारायणीयोपनिषत् - अड्यार पुस्तकालय, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

तलवार उपनिषद् - अड्यार पुस्तकालय, मद्रास, संस्कृति संस्थान बरेली ।

संहिताएं

वाजसनेयी संहिता - मोतीलाल बनारसी दास, १९७१. वाराणसी ।

जयाख्य संहिता - एम्बर कृष्णमाचार्या, ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा १९६७. वी. भट्टाचार्य, बड़ौदा १९३१ ।

अहिर्बुध्न्य संहिता - रामानुजाचार्य, अड्यार पुस्तकालय, मद्रास, १८३९, श. ।

परमसंहिता - गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, दीवान बहादुर, बड़ौदा, १९४०. बी. भट्टाचार्य ।

मैत्रायणी संहिता - सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औधनगर, मुम्बई, वि.सं. १९९८ ।

तैत्तिरीय संहिता - सायणभाष्य, वेदार्थ प्रकाश, ए.वेवर, वर्लिन १८७२ ।

ईश्वर संहिता ।

परमेश्वर संहिता ।

श्रीप्रश्न संहिता - तिरुपति केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, १९६९ संस्करण ।

शाण्डिल्य संहिता - गोपीनाथ कविराज, अनन्तशास्त्री फडके, सरस्वती पुस्तक भवन सं. ६०, १९३६.

महाकाल संहिता

सूत संहिता - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क २५ ।.
- माधवाचार्य तात्पर्य दीपिका संहिता ।

वृहद्संहिता- भाष्य सहित सुधाकर द्विवेदी, बनारस १८९५.

काठक संहिता - सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, स्वाध्याय मण्डल, १९४३.

सूत्र, व्याकरण एवं योग

चरणव्यूह सूत्रम् - शौनकोक्तम्, काशी संस्कृत सीरीज, हरिदास ग्रन्थमाला १३२, चौ.सं. कार्यालय १९३८ ।

शाण्डिल्य भक्तिसूत्रम् - गोपीनाथ कविराज, गंगानाथ झा, गवर्नमेन्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, १९२३ ।

योगसूत्र - राम प्रसाद, १९१२ ।

योगसूत्र - व्यास भाष्य - सेक्रेड बुक्स आफ द हिन्दूज ।

पातञ्जल योगदर्शनम् - हरिहरानन्द आरण्य । मोतीलाल बनारसी दास, १९७४,

अष्टाध्यायी - पाणिनि, काशिकावृत्ति मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७७

महाभाष्य - पतञ्जलिमुनि, निर्णय सागर प्रेस, १९४२.

चारायणीयमन्त्रार्षाध्याय: - विद्याप्रकाश प्रेस, लाहौर, १९३५.

श्रौत सूत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र - कर्कभाष्य विद्याधर शर्मा, बनारस, १९३३-३७.
- चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १, १९७२,
डॉ. वेबर संशोधित; लाट्यायन श्रौतसूत्र

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र - सम्पादक, आर. गार्वे, कलकत्ता, १८८२-१९०२.

आश्वलायन श्रौतसूत्र - सम्पादक, आर. विद्यारत्न, कलकत्ता १८६४-७४.
आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना १९१७.

बौधायन श्रौतसूत्र - डब्ल्यू कैलेण्ड, कलकत्ता, १९०४-२३.
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस सिटी, १९९१,
काशी संस्कृत सीरीज ग्रन्थमाला १०४.

महाकाव्य

महाभारत - मद्रास १९३४,
गीता प्रेस गोरखपुर, सं. २०२१.

रामायण - निर्णय सागर प्रेस ।
दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला सं. १९ लाहौर २००० वि. ।

वाल्मीकिरामायण - टी. आर. कृष्णाचार्य, बम्बई, १९११-१३, ।
गीताप्रेस, गोरखपुर सं. २०१९

श्रीमद्भागवद् गीता - गीताप्रेस गोरखपुर ।

योगवाशिष्ठ-- वाल्मीकि, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, १८७३ सं. ३.

ब्रह्मगीता टीका सहित - आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज ।

श्रीमद्भगवद् गीता रहस्य - बालगंगाधर तिलक, तिलक मंदिर, गायकवाड़
सन् १९७६ ।

तन्त्रागम

परमेश्वर आगम

आगम प्रामाण्य - यामुनाचार्य - रामानुज सोसाइटी मद्रास ।
कमिकागम-

वातुलागम - मैसूर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट ।

शिवसूत्र वार्तिक - भट्टभास्कर, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर, १९१६.
वरदराज कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर १९२५.

स्पन्दकारिका - भट्टकल्लट - कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर १९१६.

स्वच्छन्द तन्त्र - क्षेमराज की टीका सहित, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४१.

योगिनी तन्त्र -

तन्त्रसार - अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८.

तन्त्रालोक - अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८, ३८.

तन्त्रसंग्रह - गोपीनाथ कविराज, संस्कृत वि.वि. वाराणसी ।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी -अभिनवगुप्त काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर १९१८,२१.

कुलार्णव तन्त्र- जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता १९३७.

स्मृति व उद्धरण ग्रन्थ

मनुस्मृति - पी. एच. पाण्ड्या, बम्बई १९१३,
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०९.

याज्ञवल्क्य स्मृति —अपरादित्य की टीका-सत्यनारायणशास्त्री, बनारस ।
वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री १९२६.

याज्ञवल्क्य स्मृति- अपरार्क की टीका ।

याज्ञवल्क्य स्मृति - विश्वरूपाचार्य की टीका—बाल क्रीड़ा भाग, गणपति शास्त्री त्रिवेन्द्रम १९२२.

मूलसंस्कृत उद्धरण - मुइर, अनु. डॉ. रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९६७.

पुराण

मार्कण्डेय पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणालय, बम्बई ।

विष्णुपुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणालय, बम्बई ।

वायुपुराण- क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणालय, बम्बई ।

अग्निपुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणालय, बम्बई ।

हरिवंश पुराण - ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी संस्कृत ग्रन्थमाला काशी, ग्रन्थाङ्क -२७,

मत्स्यपुराण - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क ५४.

कूर्मपुराण - काशीराज न्यास प्रकाशन, रामनगर वाराणसी, १९७२.

भागवत पुराण - एस. सुब्बाराव १९२८,
गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. २०१७.

ब्रह्माण्ड पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९१३.

गरुड़ पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०६.

स्कन्दपुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणालय, बम्बई ।

पद्मपुराण - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५९.

वामन पुराण - वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२९.

लिङ्गपुराण - वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२९.
शिवपुराण - वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२९.

यात्रा-विवरण व वृत्तान्त

हेरोडोटस जार्ज रालिंसन, ग्रीक हिस्टोरियन्स - वा. १ रैन्डस हाउस, न्यूयार्क १९४२.
ग्रीक हिस्टोरियन्स इण्डिका (एरियन) - बा. २, रैन्डम हाउस, न्यूयार्क १९४२.
ह्वेनसांग की भारत यात्रा - (लाइफ का अनुवाद)- सैमुएल बील, आदर्श प्रकाशन।
मार्कोपोलो (यूल्स) ट्रेवेल्स आफ मार्कोपोलो।
संस्कृत टेक्ट्स आफ बाली - सिल्वेलेवी, ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा १९३३.
अवेस्ता - वैदिक संशोधन मण्डलम पुणे शाके १८८४.
नेचुरल हिस्ट्री - प्लीनी - हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९४२, ४७.
ट्रेवेल्स आफ मार्कोपोलो - आल्डिन प्रेस, लन्दन १९०८.

कोश (ष)

अमरकोश — (अमर सिंह) गुरु प्रसाद शास्त्री, बनारस १९५०र.
वैदिक कोष - सूर्यकान्त, बनारस १९६३.
उपनिषद् वाक्य महा कोष - शास्त्री गजानन शम्भु शाधले, वाराणसी १९४ह.
जिओग्राफीकल डिक्शनरी - ताज अफसेट प्रेस, दिल्ली १९७१ संस्करण ३.
निरुक्त - आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, १९६६, ब्रह्म मुनि ग्रन्थमाला ६२.
वैदिक इण्डेक्स - ए.ए. मैकडानल, ए.बी. कीथ, अनु. रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, वि.सं. २०१८.

सूत्र-भाष्य

ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य -भामती एवं परिमल -अनन्त कृष्ण शास्त्री, १९३८.
ब्रह्मसूत्र भाष्य - बी. शास्त्री।
ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य - अप्पयदीक्षित कल्पतरु परिमल टीका।

तत्सूत्रीय शाङ्करभाष्य

चरणव्यूहसूत्रम् - महर्षि शौनकोत्तम्, चौ.सं. कार्यालय बनारस, १९३८.
ब्रह्मसूत्र श्रीकंठ भाष्य - शिवकर्मणि दीपिका सहित - भारतीय रा. हालास्यनाथ शास्त्री मन्दिर संस्कृत ग्रन्थावली प्रकाशन।

श्रीकण्ठ भाष्य आनन्दी ब्रह्मसूत्र —वा. द्रितीय - रोमा चौधरी प्राच्वनी इन्स्टीच्यूट आफ ओरिएण्टल लर्निग ३, फेडरेशन स्ट्रीट कलकत्ता १९५९.

समसामयिक मूल ग्रन्थ

सांख्य कारिका - ईश्वरकृष्ण तत्वकौमुदी सहित, रमाशंकर भट्टाचार्य, कलकत्ता १९०४ ।

सांख्यकारिका —गौडपाद भाष्य, ब्रजमोहन चतुर्वेदी । नेशनल पब्लिसिंग हाउस दिल्ली, १९७५.

सांख्यतत्व कौमुदी - गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौ.सं. ग्रन्थमाला १९६९.

वैशेषिक सूत्र - अनन्तलाल ठाकुर, बड़ौदा ।

वैशेषिक दर्शनम्—प्रशस्तपाद भाष्य - ढुण्ढिराजशास्त्री, चौ.सं. सीरीज वाराणसी, १९६६ ।

वात्स्यायन एवं प्रशस्तपाद भाष्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ।

पदार्थ धर्मसंग्रह - प्रशस्तपाद भाष्य ।

पदार्थ तत्वनिर्णय - आनन्दानुभव ।

न्यायसूत्र वार्तिक —तात्पर्य टीका- वाचस्पति मिश्र, भाग १ चौ.सं. ग्रन्थमाला १९८२

न्यायसार —भासर्वज्ञ- गवर्नमेन्ट औरिएण्टल मैनुसक्रिप्ट लाइब्रेरी मद्रास, १९६१ सुब्रह्मण्यशास्त्री ।

न्यायलीलावती - राजशेखर चन्द्रकान्त भाष्य सहिता, गुजराती प्रेस ।

गौतम प्रणीत न्यायदर्शनम् —वात्स्यायन भाष्य सहिता -श्रीनारायण मिश्र, चौ.सं. सी. १९७० ।

न्यायसार - भासर्वज्ञ - श्रीनरायण मिश्र, गवर्नमेन्ट ओरिएण्टल प्रकशन मद्रास १९६१.

न्यायकुसुमाञ्जलि - उदयनाचार्य, श्रीनरायन मिश्र भा.वि. प्रकाशन वाराणसी १९६८.

युक्तिदीपिका - चन्द्रकान्त भाष्य, रामचन्द्र पाण्डेय, मो.ब. दिल्ली ।

किरणावली -उदयन (एशियाटिक सोसाइटी) ।

न्यायकन्दली -संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

न्यायभूषण- भासर्वज्ञ —षड्दर्शन प्रकाशन संस्थान वाराणसी, १९६८.

सर्वदर्शन संग्रह - माधवाचार्य, उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौ. विद्याभवन, १९७८.

षड्दर्शन समुच्चय - राजशेखर सूरि व हरिभद्र ।

जयमंगलाटीका - पं. गोपीनाथ कविराज ।

शङ्करदिग्विजय - माधवाचार्य - इसी ग्रन्थ में भाग -३, बलदेव उपाध्याय, हरिद्वार, सं. २०००.

शिवतत्व विवेक

बुद्धचरितम् - अश्वघोष ।

लिङ्गधारण चन्द्रिका - एम.आर.साखरे ।

शिवरहस्य - नी.कन्दस्वामिन तञ्जपुरी, सरस्वती महल ग्रन्थमाला १९७१.

स्तोत्रार्णव (शिव षड्क्षर स्तोत्रम्) — टी. चन्द्रशेखरन्, गवर्नमेन्ट ओरिएण्टल संस्कृत लाइब्रेरी मद्रास, १९६१.

उत्तरमीमांसा सूत्र

मीमांसाभाष्य - शबरस्वामी ।

संक्षेप शारीरक - सर्वज्ञात्ममुनिविरचित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९१३.

व्योमवती - चौखम्बा प्रकाशन ।

तत्ववैशारदी

भामती - बी. शास्त्री, वाचस्पति मिश्र (निर्णय सागर प्रेस) ।

रघुवंश - कालिदास, काशीनाथ पाण्डुरंग परब, बम्बई, १८८२ ।

ईश्वरगीता - श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब बरेली, १९७०.

हर्षचरितम् - बाणभट्ट - जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता, १८९२.
मोती लाल बनारसी दास १९७३ सम्पादक पी.बी. काणे ।

कादम्बरी - बाणभट्ट - निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १९४८ ।

मेघदूत - कालिदास —कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी ।

गाथासप्तसती

कथासरित्सागर - सोमदेव, दुर्गाप्रसाद, बाम्बे १९३१.
केदारनाथ शर्मा पटना १९६०.

अभिज्ञानशाकुन्तलम् - कालिदास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७७.

विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम्

अभिधानरत्नमाला - हलायुध, लन्दन १८६१.

सनातन धर्मोद्धार

वृहत्संहिता - वराहमिहिर, वाराणसी संस्कृत वि.वि. ,१९६८.

कुमार सम्भव - कालिदास, मोतीलाल बनारसी दास १९६७.

अभिलेख

इनवोकटेरी वर्सेस फ्राम इन्सक्रिप्सन्स– वा. २, एस.एन. राजगुरू, सारद प्रेस, भुवनेश्वर १९७३.

भावनगर संस्कृत एण्ड प्राकृत अभिलेख

भारतीय अभिलेख - जान फेथफुल फ्लीट, राजस्थान ग्रन्थ अकादमी, जयुपर १९७४.

दी वोगाज्कोई इन्सक्रिप्सन्स एण्ड देअर वैल्यू फार वैदिक क्रोनोलाजी –के. चट्टोपाध्याय ।

गुप्त अभिलेख - डॉ. वासुदेव उपाध्याय, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना संस्करण १, १९७४.

प्राचीन भारतीय अभिलेख - डॉ. वासुदेव उपाध्याय, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७० ।

भारतीय अभिलेख - भारतीय विद्या प्रकाशन १९७८ ।

अन्य ग्रन्थ

ए नोट आफ दी एंशिएण्ट जीओग्राफी आफ एशिया कम्पाइल्ड फ्राम वाल्मीकि रामायण - एन.सी.दास, भारत भारती ओरिएण्टल प्रकाशन, वारणसी १९७१.

एन आउट लाइन आफ रिलीजीअस लिटरेचर आफ इण्डिया —फर्क्यूहर- मोतीलाल बनारसीदास १९६७.

एक्सकेवेशन्स आफ कौशाम्बी - गोबर्धन राय शर्मा, १९६०.

इण्डियन लाजिक इन अर्ली स्कूल्स - रानाडे ।

अभिनव गुप्त - कान्तिचन्द पाण्डेय, चौ.सं. सीरीज, वाराणसी १९६३.

अर्ली हिस्ट्री आफ गुजरात - भगवान लाल इन्द्रजो ।

ओरिजिन एण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया

क़ल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया - सम्पादक हरिदास भट्टाचार्य, रामकृष्णमिशन इन्स्टीच्यूट वा. ४ कलकत्ता १९२६.

काम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया - नीलकंठ शास्त्री, ओरिएण्टलांगमैन्स, कलकत्ता, १९६७.

कापालिकाज एण्ड कालमुखाज - डेविड एन लोरेन्जेन, थामसन प्रेस, नयी दिल्ली, १९७२.

इन्ट्रोडक्शन आफ इण्डियन फिलासफी - गॉट ।
गाइड टू एलीफेन्टा- हीरानन्द शास्त्री ।
डेवेलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी —जे.एन. बनर्जी, कलकत्ता (संस्करण) ।
डेर व्रात्य - हावर ।
दी एंशिएण्ट इण्डियन कल्चरल कान्टेक्ट्स एण्ड माइग्रेसन्स —के.पी. चट्टोपाध्याय, के.एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९६५.
दी एज आफ कुशान क्वायन्स- भास्कर चट्टोपाध्याय पुन्थी पुस्तक, कलकत्ता, १९६७.
भारतीय संस्कृति : पुरातात्विक आधार - गोवर्धन राय शर्मा ।
भारत वर्ष का इतिहास -भाग २- भगवद्दत्त, इतिहास प्रकाशन मण्डल, पटेलनगर, नयी दिल्ली, सं. २००८ ।
भारतीय दर्शन — एस.एन. दास गुप्ता, भाग ५, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, ४१९७५.
गुप्त साम्राज्य - पी.एल. गुप्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७०.
जीओग्राफी आफ पुरानाज - सलीम अली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली १९६६.
नन्दाज एण्ड मौर्याज - नील कंठ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९६९.
प्रीमियर आफ दी इण्डियन लाजिक इन्ट्रोडक्शन - कुप्पूस्वामी ।
पाञ्चरात्र व अहिर्बुध्न्य संहिता की भूमिका - डॉ. श्रेडर ।
पुराणाज - (पुराणिक रिकार्ड्स) **क्रोनोलाजी आफ पुराणिक चैप्टर्स-** आर.सी. हाजरा, अविनाश प्रेस, ढाका १९४० ।
माउन्टेन एण्ड रीवर्स आफ इडिया - वी.सी. लाल, नेशनल कमेटी आफ जिओग्राफी कलकत्ता १९६८ ।
मोहनजोदाड़ो एण्ड इण्डस सिविलाइजेशन - मार्शल, वाराणसी १९७३.
रफ नोट्स आन सम एंन्शिएण्ट स्कल्पचरिग आन दी राक्स इन कुमायूँ करनौक
रिलीजन इन हिमालयाज - आटकिंसन, कास्मो पल्बिकेशन, नयी दिल्ली, १९७६.
रिलीजियस लिटरेचर आफ इण्डिया-फर्क्यूहर, मोतीलाल बनारसीदास १९२०.
वाकाटकों का इतिहास - वी. मिराशी ।
वैदिक वाड्मय का इतिहास —वेदों की शाखाएं भाग, संस्करण २०१३, पंचनद प्रेस अमृतसर ।

वैशेषिक दर्शन की भूमिका –चन्द्रानन्द वृत्ति सहित, अनन्तलाल ठाकुर, बड़ौदा,
वैशेषिक फिलासफी - उर्दू ।
हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया - वी. एस. पाठक, जुलाई १९८०, अविनाश प्रकाशन इलाहाबाद ।
व्रात्य सिस्टम आफ रिलीजन्स - ए.पी. कर्मकर ।
व्रात्याज इन एन्शिएण्ट इण्डिया - राधाकृष्ण चौधरी ।
वेदों की शाखाएं –प्रथम भाग - भगवद्दत्त, सं. २०१३.
सम आस्पेक्ट्स आफ एन्शिएण्ट इण्डियन कल्चर –भण्डारकर ।
सांख्य सिस्टम - कीथ ।
हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक
प्री दिगनाङ् बुद्धिस्ट टेक्टस आफ लाजिक फ्राम चाइनीज सोर्सेज
स्टडीज इन ब्राह्मनाज - ए.सी. बनर्जी- वाराणसी १९६३ संस्करण प्रथम ।
हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म – इलिएट भाग २ .
हिन्दू आइकोनोग्राफी - गोपीनाथ राव, इण्डोलाजिकल बुक हाउस वाराणसी १९३१.
वैदिक वाङ्मय का इतिहास –ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ-भगवद् दत्त, प्रणवप्रकाशन १/२८ पंजाबी बाग दिल्ली १९७४.
शैव वैष्णव व अन्य धार्मिक मत –भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७.

स्मृति एवं संग्रह ग्रन्थ

डी. आर. भण्डारक कामोरेशन वाल्यूम ।
इण्डियन एण्टीक्वेरी, १८,१४.
इपी. इण्डिका –वाल्यूम २.
इपी. इण्डिका –वाल्यूम २१.
इपी. इण्डिका –वाल्यूम १९.
इपी. इण्डिका –वाल्यूम २३.
इपी. इण्डिका –वाल्यूम २५.
इपी. इण्डिका –वाल्यूम २८.
इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स –फोर्टिन्थ सेसन ।
इन्टरनेशनल जीओग्राफी कांग्रेस आफ इण्डिया, २१, १९६०.

इण्डियन स्टडियन –भाग १३, बेवर।
आर्कोलाजिकल सर्वे इण्डिया एनुअल रिपोर्ट –१९०६, ०७.
आर्कोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया –वाल्यूम ५।
आर्कोलाजिकल रिपोर्ट आफ डिपार्टमेन्ट – भण्डाकर १९०५-०६.
कैटलाग आफ इण्डियन क्वायन्स-एलन
क्वायन्स आफ दी अलेक्जेन्डर सक्सेसर्स
कैटलाग आफ दी इण्डियन व्रिटिश म्यूजियम क्वायन्स –वा.१.
गुजराती सभा महोत्सव ग्रन्थ –१९४०.
जे.यन. बनर्जी वाल्यूम –कलकत्ता १९६०.
बाम्बे गजेटियर –वा. १.
प्रोसिडिंग्स आफ दी इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस –सेसन ३, कलकत्ता १९३३.
पी.के. गोड कामोरेशन वाल्यूम –१९६०.
शैविज्म वैष्णविज्म एण्ड अदर कलक्शन वर्क्स आफ भंडारकर –वा. ४, १९२९.
हिमालय गजेटियर
कलेक्टेड वर्क्स आफ भण्डारकर –वा. ४. भंडारकर ओरिएण्ट रीसर्च इन्स्टीच्यूट पूना, १९२९.
जीओग्राफीकल इन्साइक्लोपीडिया - के.डी. वाजपेयी, इण्डिका अकादमी वाराणसी १९६७.

पत्र-पत्रिकाएं

जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रान्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी –१९, बाम्बे।
यूनिवर्सिटी जर्नल –१९५०.
इण्डियन एन्टीक्वेरी ११.
इण्डियन एन्टीक्वेरी १५.
जे.बी. आर.एस..
भारती नं. १२-१४ इ।
भारती अङ्क ३, १९५९.
जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी –
जे.वी.ओ. आर.एस. –वा. १९.

जे.वी.ओ.आर.एस. —वा..२८ १९४२.
जे.वी.आई.वी.—वा. ७, १९५७.
जे.ओ.एस. —१९०७.
जे.वी.वी.आर.एस. —वा: २२, १९०४-०७.
डब्ल्यू.जे.के.एम.—वा. २३, (कारपीन्टर)।
जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी —१९१३.
ऋतम्भरा अङ्क ४२, ४५।
जर्नल आफ दी एपिग्राफिकल सोसाइटी आफ इंडिया वाल्यूम १८, १९९२.

डॉ. आलोक मणि त्रिपाठी

वरपार, देवरिया (उ.प्र.) में जन्में डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी विगत 16 वर्षों से विभिन्न संस्थाओं की स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापनरत रहकर अध्यापन कार्य में सन्नद्ध हैं।

सम्प्रति आप डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद के इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग में रीडर के पद पर हैं।

आप निरन्तर अध्यवसायी तथा चिन्तनपरक व्यक्तित्व के धनी हैं। धर्म-दर्शन के अध्ययन एवं अध्यवसाय में आपकी विशेष अभिरुचि है।

ISBN : 81-85268-71-1

प्रतिभा प्रकाशन
PRATIBHA PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Book-Sellers)
29/5, Shakti Nagar, Delhi-110007